भाग १

मुद्रा

अध्याय १

विषय-प्रवेश

(Introduction)

आधुनिक युग मुद्रा का युग है। हमारे जीवन के समस्त क्षेत्रों में मुद्रा को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। हमारी समृद्धि आज मुद्रा पर ही निर्भर समझी जाती है। मुद्रा के द्वारा ही हम वस्तुएँ खरीदते हैं, नौकरों का वेतन चुकाते हैं, तथा मुद्रा के द्वारा देशी और विदेशी व्यापार का लेन-देन होता है। संक्षेप में, संपत्ति का वर्तमान संगठन, विनिमय, वितरण तथा उपभोग—सभी आर्थिक क्रियाएँ आज मुद्रा के कारण ही सम्भव हैं।

पर मुद्रा और मुद्रा का वर्तमान रूप जो आज हम देखते हैं, प्राचीन काल में ऐसा न था। एक समय था, जब न ये मुद्राएँ थीं और न विनिमय का और कोई माध्यम था। मनुष्य की आवश्यकताएँ सीमित थीं तथा वर्तमान काल की अपेक्षा बहुत कम थी। अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति करने के लिये वस्तुओं का उत्पादन व निर्माण उसे स्वयं करना पड़ता था। दूसरे शब्दों में मनुष्य उस समय आर्थिक-स्वावलम्बन (Economic self-sufficiency) की स्थिति में था। विनिमय का प्रश्न उसके लिये कोई समस्या न थी। पर मानव-सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव की आवश्यकताएँ भी बढ़ीं और वह उनकी तृप्ति के हेतु भिन्न-भिन्न वस्तुओं का उत्पादन या निर्माण करने में कठिनाई अनुभव करने लगा। इस असुविधा को दूर करने के हेतु आपस में वस्तुओं का अदल-बदल प्रारंभ हुआ। एक मनुष्य के पास यदि गेहूँ होता और दूसरे के पास कपड़ा, तो दोनों अपनी-अपनी आधिक्य (surplus) वस्तुओं का आपस में अदल-बदल कर लिया करते। अन्य आवश्यकताओं की वस्तुओं का भी इसी प्रकार अदल-बदल प्रारंभ हो गया।

कि मनुष्य उन वस्तुओं का उपयोग भी कर सकता है जिनका निर्माण स्वयं के द्वारा संभव नहीं हो पाता।

विनिमय के भेद—विनिमय दो प्रकार से संभव होता है। पहला, 'वस्तु विनिमय' द्वारा। इसमें मनुष्य अपनी अतिरिक्त वस्तु देकर अपने लिये आवश्यक वस्तु प्राप्त करता है। मुद्रा का उपयोग इसमें नहीं किया जाता। उदाहरणार्थ, जब किसान, गेहूँ के बदले में जुलाहे से कपड़ा लेता है, तब इस सीधे विनिमय को 'वस्तु-विनिमय' या 'प्रत्यक्ष-विनिमय' कहा जावेगा। दूसरा, 'अप्रत्यक्ष-विनिमय' अथवा 'मुद्रासाध्य विनिमय' जिसमें मनुष्य अपनी अतिरिक्त वस्तु का विक्रय करके विनिमय माध्यम या मुद्रा प्राप्त करता है तथा उसके द्वारा वह आवश्यक वस्तु का क्रय करता है। इस प्रकार के विनिमय को 'अप्रत्यक्ष-विनिमय' कहते हैं क्योंकि इसमें एक वस्तु का विनिमय दूसरी वस्तु से सीधा न होकर माध्यम के द्वारा किया जाता है।

'वस्तु-विनिमय' अथवा 'प्रत्यक्ष-विनिमय' (Bartar)—जब एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु ली जाय अथवा जब वस्तुओं का पारस्परिक विनिमय हो, तब उसे 'वस्तु-विनिमय' कहते हैं। इस प्रकार की विनिमय-पद्धति के हेतु निम्नलिखित दशाएँ आवश्यक हैं :—

(१) सीमित आवश्यकताएँ (Limited number of wants)—मानव-सभ्यता-विकास के प्रारम्भिक काल में मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत ही कम थीं। उस काल में इस प्रकार की विनिमय पद्धति से काम चल सकता था। किसान अपनी वस्त्र-आवश्यकता तृप्ति के लिये अपने गेहूँ के बदले में जुलाहे से कपड़ा ले लेता था। पर आज यदि किसान का लड़का गेहूँ के बदले घड़ी खरीदने जाय तो उसे घड़ी कोई न देगा।

(२) विनिमय का संकुचित क्षेत्र—वस्तु-विनिमय के लिये यह आवश्यक है कि जो एक वस्तु एक पक्ष के लिये अतिरिक्त-वस्तु हो वही दूसरे पक्ष के लिये आवश्यक वस्तु होना चाहिये। यदि विनिमय का क्षेत्र सीमित हो तो ऐसे दो पक्षों के मिलने में सुविधा होगी। असीमित विनिमय

क्षेत्र में 'वस्तु-विनिमय' की कठिनाई और बढ़ जायेगी क्योंकि लोग आपस में एक दूसरे के स्वभाव एवं उनकी आवश्यकताओं से परिचित न हो सकेंगे।

(३) पिछड़ा एवं अविकसित समाज :—'वस्तु-विनिमय' पद्धति केवल समाज की प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही सम्भव है। पिछड़े एवं अविकसित समाज में आवश्यकताएँ कम होती हैं और लोग मुद्रा का उपयोग नहीं करते। आज भी भारत के गांवों में पिछड़ी हुई जातियाँ मुद्रा का न्यूनतम उपयोग करती हैं।

वस्तु-विनिमय की असुविधाएँ

(१) आवश्यकताओं के दोहरे संगम का अभाव—(Lack of double coincidence)—वस्तु-विनिमय-पद्धति की प्रथम असुविधा यह है कि आवश्यकता के वक्त ऐसे दो व्यक्तियों का संगम होना बहुत कठिन है जो अपनी-अपनी वस्तुओं के बदले में दूसरे की वस्तुओं का लेना स्वीकार कर लें। कोई भी दो वस्तुओं या व्यक्तियों का होना ही पर्याप्त न होगा। एक व्यक्ति की अतिरिक्त वस्तु दूसरे व्यक्ति के लिये आवश्यक वस्तु होना आवश्यक है। अन्यथा वस्तु-विनिमय सम्भव न होगा। मानव की आवश्यकताओं की वृद्धि के साथ-साथ यह कार्य और भी कठिन हो गया है। यदि गोपाल को कपड़े के बदले में फाउन्टेनपेन चाहिये तो यह तब तक सम्भव न हो सकेगा जब तक गोपाल एक ऐसे व्यक्ति को न ढूँढ निकाले जिसको कपड़े की आवश्यकता हो और उसके बदले में उसके पास फाउन्टेनपेन देने को हो।

(२) विषम वस्तुओं के विभाजन की असुविधा (Lack of divisibity)—यदि किसी व्यक्ति के पास अधिक मूल्य की वस्तु है और वह उसके बदले में कम मूल्य की वस्तु लेना चाहता है पर अपनी वस्तु का विभाजन बिना उसके मूल्य को नष्ट किये नहीं कर सकता। ऐसी दशा में यदि उसे ऐसा व्यक्ति मिल भी जाय जो उसकी आवश्यकता की

वस्तु देने को तैयार हो, फिर भी विनिमय सम्भव नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, यदि गोपाल के पास घोड़ा है और मोहन के पास बकरी। पर घोड़ा अधिक मूल्य का एवं अविभाज्य होने के कारण यह विनिमय सम्भव न हो सकेगा।

(३) सर्वमान्य मूल्य मापदण्ड का अभाव (Lack of common measure of value)—अदल-बदल की प्रणाली में वस्तुओं के मूल्य नापने का कोई सर्वमान्य नाप नहीं होता। इस कारण वस्तुओं का मूल्य निर्धारण करने मे कठिनाई होती है। यदि गेहूँ के बदले में कपड़ा लेना है तो यह कैसे तय किया जावे कि एक गज कपड़े के बदले मे इतना गेहूँ दिया जायगा।

उपयुक्त असुविधाओं के कारण ही विनिमय में बाधाएँ आती हैं जिससे समाज की उन्नति एवं विकास होना कठिन हो जाता है। इसीलिये प्रत्यक्ष विनिमय की असुविधाओ से मुक्त होने के लिये मनुष्य ने अप्रत्यक्ष विनिमय प्रणाली को अपनाया है। इस प्रणाली में वस्तुओ का प्रत्यक्ष अदल-बदल न किया जाकर अप्रत्यक्ष रूप से तीसरी वस्तु-मुद्रा के माध्यम द्वारा विनिमय किया जाता है। यह तीसरी वस्तु मुद्रा है जिसके प्रयोग से वस्तु विनिमय की असुविधाएँ समाप्त हो गई। इससे विनिमय को गति मिली तथा समाज का अधिक विकास संभव हो सका।

वस्तु विनिमय का वर्तमान स्वरूप

वस्तु-विनिमय प्रणाली का मानव इतिहास से बिलकुल लोप नहीं हो गया है। भारत के गाँवो में कहीं-कहीं यह प्रणाली आज भी विद्यमान है। अन्न के बदले में नमक, मसाले, गुड़, एवं कपड़ा आदि वस्तुएँ आज भी ली दी जाती हैं। पर अब इसका चलन उतना व्यापक नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इसका रूप कुछ और ही है। एक देश आयात के बदले में निर्यात करके भुगतान चुका देता है। वहा वस्तुओं के बदले में तुरन्त ही मुद्रा का लेन-देन नहीं होता। यह भी एक प्रकार का वस्तु

विनिमय ही है। अन्तर केवल इतना है कि आयात-निर्यात का मूल्यांकन मुद्राओं से किया जाता है पर उनका भुगतान प्रत्यक्ष रूप से विनिमय माध्यम के द्वारा नहीं होता। यहाँ मुद्रा केवल मूल्यांकन का काम करती है विनिमय माध्यम का नहीं।

सारांश

(१) आधुनिक युग मुद्रा-युग है। समाज की आर्थिक-उन्नति एवं विकास मुद्रा के कारण सम्भव हो सका है।

(२) विनिमय द्वारा श्रम-विभाजन तत्त्व का विकास एवं बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव हो सका।

(३) विनिमय द्वारा दोनों पक्षों को उपयोगिताओं का लाभ होता है।

(४) विनिमय प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में हो सकता है। प्रत्यक्ष विनिमय (Barter) में वस्तुओं का सीधा विनिमय होता है तथा अप्रत्यक्ष विनिमय में मुद्रा के माध्यम द्वारा विनिमय सम्भव होता है।

(५) "वस्तु विनिमय" में वस्तु-विभाजन की असुविधा होती है, सर्वमान्य मूल्य मापदण्ड का तथा आवश्यकताओं के दुहरे संगम का अभाव रहता है। परन्तु ये असुविधाएँ मुद्रा-माध्य-विनिमय द्वारा हल हो जाती हैं।

प्रश्न

१—'वस्तु-विनिमय' से आप क्या समझते हैं? सविस्तार लिखिये।

२—'वस्तु-विनिमय' के लिये कौन सी दशाएँ उपयुक्त होती हैं?

३—वस्तुओं के लेन-देन में मुद्रा की आवश्यकता क्यों हुई? समझाकर लिखिये।

४—मुद्रा युग के कारण समाज को क्या-क्या लाभ हुए? विस्तार-पूर्वक उत्तर लिखिये।

५—वस्तु-विनिमय प्रणाली की परिभाषा दीजिये तथा इसकी असुविधाओं को समझाइए। मुद्रा के उपयोग द्वारा ये असुविधाएँ कैसे हटाई गई? क्या वस्तु-विनिमय-प्रथा आज पूर्णतया मिट चुकी है?

(यू० पी० बोर्ड, १९५३,५२,४३)

अध्याय २

मुद्रा एवं उसका स्वरूप

(Money and its Nature)

मुद्रा का विकास—वस्तु-विनिमय की कठिनायों के कारण मनुष्य को एक ऐसी वस्तु की आवश्यकता अनुभव होने लगी जो विनिमय का माध्यम हो सके और जिसके द्वारा सब वस्तुओं का मूल्य आँका जा सके। इतिहास के प्रारम्भिक काल में ही एक ऐसी मध्य-वस्तु (Intermediate commodity) को, जिसे आज हम 'मुद्रा' कहते हैं, ढूँढ निकाला जो वस्तुओं और सेवाओं के बदले में लोगों द्वारा स्वीकार की जाने लगी।

मानव-सभ्यता के आर्थिक विकास के भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-भिन्न वस्तुओं को "मुद्रा" या विनिमय-माध्यम के लिये काम में लिया जाता रहा है। एक समय था जब कि लोग शिकार मार कर कच्चा मांस खाते थे। उस काल में जानवरों की खाल या उनके बालों को ही "मुद्रा" या "विनिमय का माध्यम" बनाया गया था। मानव-सभ्यता के विकास के साथ-साथ विनिमय के आधार भी बदलते गये। जब लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते थे, वे उस समय अपने साथ गाय, बैल आदि पशु रखते थे। उस काल में ये जानवर ही विनिमय के माध्यम थे क्योंकि ये जानवर एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने-आप ही चले जाते थे। इसी प्रकार कौड़ी, हड्डी, पत्थर, लकड़ी, पेड़ की छाल आदि भी विनिमय का माध्यम बनाये गये। परन्तु ये वस्तुएँ अधिकाधिक मात्रा में उपलब्ध हो सकती थीं, इस कारण इनकी उपयोगिता स्थायी न बन सकी।

साधारणतः जिस स्थान के आर्थिक जीवन में जिस वस्तु का अधिक महत्त्व होता था, उसी वस्तु को विनिमय का माध्यम बना लिया जाता था

एक समय था जब भारत में चावल, वर्जीनिया में तम्बाकू, एबीसीनिया में नमक, अरब में खजूर, मिश्र में रुई आदि वस्तुएँ विनिमय-माध्यम या मुद्रा के काम में लाई जाती थीं। धातु युग में ताम्बा, पीतल, निकिल, लोहे आदि की मुद्राएँ बनाई जाने लगीं। मिश्र में ताम्बा एवं स्पार्टा में लोहे के सिक्के बनते थे। धीरे-धीरे अन्य वस्तुओं के सिक्कों का स्थान सोने और चांदी के सिक्कों ने ले लिया। दुर्लभ धातु होने के कारण इनके सिक्के अधिक काल तक चलते रहे। बाद में सरकार ने सोना-चांदी कोष में रखकर उनके स्थान पर पत्र-मुद्रा को मान्यता दी। इस प्रकार समय-समय पर विनिमय का आधार बदलता रहा। अब प्रायः चांदी, ताम्बा, निकिल तथा कागज की मुद्राएँ काम में लाई जाती हैं।

मुद्रा की परिभाषा (Definition of Money)—भिन्न-भिन्न मुद्रा-शास्त्रियों ने भिन्न भिन्न परिभाषाएँ लिखी हैं। कुछ लेखकों ने तो मुद्रा का बहुत सकुचित अर्थ लगाया है और केवल धातु के सिक्कों को ही मुद्रा माना है। अन्य लेखकों ने मुद्रा का प्रयोग बहुत ही व्यापक अर्थ में किया है।

संकुचित परिभाषा—जो लोग केवल धातु के सिक्कों (Metallic Money) को ही मुद्रा मानते हैं। उनका कहना है कि जिस वस्तु की मुद्रा बनाई जाय उसका अपना कुछ मूल्य होना चाहिये। तभी उस वस्तु से बनी हुई मुद्रा अन्य वस्तुओं और सेवाओं का मूल्यांकन कर सकती है। इस परिभाषा के समर्थक पत्र-मुद्रा को मुद्रा में सम्मिलित नहीं करते क्योंकि इस मुद्रा में लगे कागज का कोई मूल्य नहीं रहता। यह परिभाषा बहुत ही सकुचित है। ससार के प्रायः सभी सभ्य देशों में पत्र-मुद्रा को अपनाया है तथा इसे विनिमय का माध्यम स्वीकार किया है। अतः पत्र मुद्रा को मुद्रा की परिभाषा में सम्मिलित न करना सर्वथा अनुचित है।

व्यापक परिभाषा—कुछ लोगों का कहना है कि मुद्रा की परिभाषा में धातु के सिक्कों को सरकार या किसी अधिकोष द्वारा चलाई गई पत्र-मुद्रा को, विपत्रों, धनादेशों तथा हुंडियों को भी सम्मिलित कर लेना

चाहिये। क्योंकि विपत्र, धनादेश तथा हुण्डी भी विनिमय-माध्यम का कार्य करते हैं। यह परिभाषा बहुत ही व्यापक हो जाती है। धनादेश, विपत्र, तथा हुण्डी उन्हीं लोगों में चलती हैं जिनको लोग आपस में जानते हैं। इसलिये इनको मुद्रा की परिभाषा में सम्मिलित करना अनुचित है।

वास्तव में मुद्रा वह वस्तु है, "जो बिना किसी हिचकिचाहट के सर्वग्राह्य हो, विनिमय माध्यम का कार्य करती हो, तथा जिसके देने से हम पूर्णतया ऋण-मुक्त हो सकते हो।" प्रो० एली (Ely) के अनुसार "किसी भी वस्तु को मुद्रा कहा जा सकता है जो विनिमय का माध्यम हो, जिसको सब लोग सहर्ष स्वीकार करें और जो सामान्य ऋण भुगतान करने के काम में लाई जाय।[1] रोबर्टसन (Robertson) कहते हैं कि "कोई भी वस्तु, जो माल के बदले में चुकाई जाय तथा अन्य व्यापारिक लेन-देन के भुगतान करने के काम में लाई जाय, वही मुद्रा है।[2] प्रो० सेलिगमैन के शब्दों में "मुद्रा वह वस्तु है जिसमें सर्वग्राह्यता है।[3] प्रो० मार्शल के अनुसार "मुद्रा उन सभी वस्तुओं को कहते हैं जो बिना किसी संदेह के अथवा विशेष परख के अन्य वस्तुओं के क्रय करने तथा सेवाओं एवं अन्य व्ययों के भुगतान करने के साधनों के रूप में काम आती है।"[4] क्राउथर के अनुसार

---

1 "The use of the term *'money'* is *restricted* to those instruments of general acceptability, which pass freely from hand to hand as a *medium* of exchange and are generally received in discharge of final debts as money." —Ely.

2 "Anything which is widely accepted in *payments* for goods or in discharge of other kinds of business obligations" —Robertson.

3 "Money is one thing that possesses general acceptability." —Prof Seligman.

4 All those things which are generally current without doubt or special enquiry as a *means* of purchasing commodities and services and of defraying expenses." —Prof. Alfred Marshall.

साध्य है। यदि हमारे पास मुद्रा है तो हम किसी भी समय किसी भी वस्तु पर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। वेस्टन ने ठीक ही कहा है कि "मुद्रा वस्तु संग्रह के अधिकार का प्रमाण-पत्र है जो समाज के द्वारा मान्य किया जायगा।" मनुष्य मुद्रा के इस स्वरूप के कारण ही इसे प्राप्त एवं एकत्र करने के लिये इतना इच्छुक रहता है। मुद्रा में क्रय-शक्ति निहित होना तथा उसके द्वारा किसी भी समय किसी भी वस्तु पर अधिकार की प्राप्ति ही मनुष्य को इस बात की प्रेरणा देती है कि वह अधिक से अधिक मुद्रा अपने पास एकत्र करें।

जिस क्षण मुद्रा को मनुष्य साधन के स्थान पर साध्य समझने लगता है, उसका जीवन सुखदायक होने के स्थान पर बड़ा कष्टप्रद हो जाता है। इसके सिवाय मुद्रा मूल्यमापन का कार्य भी करती है। मुद्रा में क्रय-शक्ति एवं मूल्यमापकता होने के कारण ही मनुष्य उसे अपने पास रखना चाहता है। संक्षेप में, क्रय-शक्ति एवं मूल्य-मापकता ही मुद्रा का सच्चा एवं वास्तविक स्वरूप है।

सारांश

(१) मानव-सभ्यता-विकास के भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न वस्तुएँ मुद्रा के रूप में काम में लाती गई। मनुष्य जैसे-जैसे सभ्य बनता गया, मुद्रा का आधार भी उसी प्रकार बदलता गया।

(२) मुद्रा-शास्त्रियों ने मुद्रा की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। कुछ लेखकों ने उसे सकुचित बना दिया है और उसे धातु मुद्रा तक ही सीमित रखा है। अन्य लेखकों ने उसे इतना व्यापक बना दिया है कि उसमें विपत्र, धनादेश तथा हुण्डी इत्यादि को भी सम्मिलित कर लिया है।

(३) वास्तव में मुद्रा वह वस्तु है जो मूल्यमापन तथा मूल्य संचय का कार्य करते हुए, सबसे आवश्यक कार्य विनिमय माध्यम का करे।

(४) मुद्रा वस्तुओं एवं सेवाओं के क्रय करने का केवल साधन-मात्र है। साध्य नहीं। मुद्रा मूल्यमापन का भी कार्य करती है। उसका सच्चा स्वरूप क्रय शक्ति एवं मूल्य मापकता ही है।

प्रश्न

१—मुद्रा के विकास पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये ।

२—मुद्रा की परिभाषा पर सविस्तार विवेचन कीजिये ।

३—(अ) "मुद्रा क्रय-शक्ति है—कुछ ऐसी चीज है जो वस्तुओं को खरीदने के काम आती है ।"

(ब) "मुद्रा एक ऐसा विनिमय का माध्यम है जो वस्तुओं और सेवाओं के बदले में चुकाने के काम आवे ।"

मुद्रा की इन दो परिभाषाओं की विवेचना कीजिये ।

४—मुद्रा के स्वरूप (Nature) से आप क्या अर्थ समझते हैं, सविस्तार लिखिये ।

अध्याय ३

मुद्रा के कार्य तथा महत्व

मुद्रा के कार्य (Functions of Money)—मुद्रा के कार्यों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) मुख्य कार्य (Primary Functions);
(२) सहायक कार्य (Secondary Functions);
(३) आकस्मिक कार्य (Contingent Functions);

१—मुख्य कार्य—मुख्य कार्य वे हैं जो मुद्रा को समाज के आर्थिक जीवन की प्रत्येक अवस्था में करने पड़ते हैं। इन कार्यों को अति आवश्यक कार्य (Essential Functions) भी कहते हैं।

(१) विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange)—मुद्रा विनिमय का एक माध्यम है। इसके द्वारा एक वस्तु को बेचकर दूसरी वस्तु खरीद सकते हैं। वस्तु-विनिमय प्रणाली के अनुसार वस्तुओं को वस्तुओं में बदला जाता था परन्तु अब एक वस्तु को पहिले मुद्रा में बदला जाता है और मुद्रा को फिर दूसरी वस्तु में बदल लिया जाता है। इस प्रकार मुद्रा के इस कार्य से वस्तु-विनिमय की समस्त असुविधाओं का अंत हो जाता है।

(२) मूल्यांकन का साधन (Measure of Value)—मुद्रा सब वस्तुओं का मूल्यांकन करती है। वस्तुओं का विनिमय मुद्रा के माध्यम द्वारा होने के कारण, मुद्रा उन वस्तुओं के मूल्यमापन का साधन होती है तथा मुद्रा द्वारा ही उन वस्तुओं का आपस में अनुपात निर्धारित होता है। उदाहरणार्थ, यदि एक रुपये के दो सेर गेहूँ मिलें और एक

रुपये के चार सेर चने, तो एक सेर गेहूं का मूल्य दो सेर चने होगा। संक्षेप में, मुद्रा वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य मापने का एक यंत्र है। जिस प्रकार गर्मी थर्मामीटर से मापी जाती है, बिजली किलोवाट में मापी जाती है और कपड़ों की लम्बाई गजों में मापी जाती है, उसी प्रकार वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य मुद्रा के द्वारा मापा जाता है।

२—सहायक कार्य—ये कार्य मुद्रा को समाज के आर्थिक के जीवन की उन्नत स्थिति में ही करने पड़ते हैं। इन कार्यों की उत्पत्ति भी मुख्य कार्यों से ही होती है, अतः इनको सहायक कार्य कहते हैं।

(१) मूल्य संचय करने का साधन (Means to store Value)—मुद्रा मूल्य-संचय करने में सहायता करती है। लोग भविष्य के लिये मूल्य या विनिमय-शक्ति संग्रहित करना पसन्द करते हैं। वस्तुएं तो थोड़े से काल के पश्चात् सड़-गल जाती हैं और उनके मूल्य में भी रद्दो-बदल होता रहता है। पर मुद्रा के मूल्य में स्थायित्व रहता है। इस कारण विनिमय शक्ति का संचय करने के हेतु, मुद्रा अधिक सुविधाजनक, सरल एवं लाभदायक साधन है।

(२) भावी भुगतान करने का साधन (Means of deferred Payment)—वर्तमान व्यापार जगत में साख का बड़ा महत्व है। भावी लेन-देन बहुधा होते रहते हैं। प्रतिदिन ऋण लिये जाते हैं जिनका भविष्य में भुगतान किया जाता है। यह संभव सब मुद्रा के कारण ही हो सका है, क्योंकि मुद्रा के मूल्य में स्थायित्व रहता है। अतः मुद्रा भावी भुगतान करने का साधन है।

(३) विनिमय-शक्ति का हस्तांतरण (Transfer of Value)—मुद्रा मूल्य-संचय का उत्तम साधन है। इसका एक स्थान से दूसरे स्थान को एवं एक समय से दूसरे समय को हस्तांतरण बड़ी आसानी से किया जा सकता है। मुद्रा का रूप सुविधाजनक होने के कारण उसे एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने में कोई असुविधा नहीं होती।

३—आकस्मिक कार्य—उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त मुद्रा चार आकस्मिक कार्य और करती है जो केवल वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में ही होते हैं; प्राथमिक अवस्था में नहीं थे।

(१) साख का आधार (Basis of Credit)—मुद्रा साख के आधार का कार्य करती है। मुद्रा के कारण ही साख व्यवस्था को जन्म मिला है। आज प्रत्यय पत्रों, धनादेशों तथा हुण्डी आदि साखपत्रों का उपयोग मुद्रा की तरह ही किया जाता है। यह सब मुद्रा के कारण ही संभव हो सका है। साख-पत्र हमको निर्देशित मूल्य की मुद्राओं पर अधिकार देते हैं। अधिकोष अपने कोष में कुछ प्रतिशत मुद्रा रखते हैं जिसके आधार पर वे साख बढ़ाते हैं। अतः मुद्रा के आधार पर ही साख का सम्पूर्ण ढाचा खड़ा रह जाता है।

(२) राष्ट्रीय आय-वितरण का आधार है (Basis of distribution of National Dividend)—वर्तमान-युग बड़े पैमाने के उत्पादन का युग है। वस्तुओं का उत्पादन बड़ी मात्रा में किये जाने के लिये साधनों की आवश्यकता प्रचुर-मात्रा में होती है। भूमि, श्रम, पूँजी एवं साहस के सहयोग एवं सामजस्य से ही बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव हो सकता है। इस प्रकार उत्पादित सम्पत्ति का आपस में बँटवारा मुद्रा के द्वारा ही किया जा सकता है। अतः मुद्रा राष्ट्रीय आय के वितरण का आधार है।

(३) उपभोक्ता को अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करने मे सहायक (Helps to attain maximum utilities to the consumers)—मनुष्य अपनी आय को भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर इस प्रकार व्यय करता है कि उन वस्तुओं से मिलनेवाली कुल उपयोगिता अधिक से अधिक हो। यह काम मुद्रा होने से ही सम्भव हो सका है। यदि मुद्रा न होती तो भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर कितना व्यय करना चाहिये—यह मालूम नहीं हो सकता था। मुद्रा के द्वारा ही उपभोक्ता अधिक उपयोगिता प्राप्त करने में सफल हो सका।

उसका अधिक से अधिक उपयोग किया जा सकता हो। पूँजी को मुद्रा के द्वारा ऐसे व्यक्तियों के पास हस्तांतरित किया जा सकता है जो उसका अधिक से अधिक उपयोग कर सकें। यही कारण है कि आजकल व्यापारिक कम्पनियां, जो कि पूँजी का उपयोग करने में दक्ष होती हैं, अपने हिस्से बेचकर दूसरे लोगों से पूँजी इकट्ठी कर लेती हैं और उस पूँजी के द्वारा उत्पादन बढ़ाती हैं।

7) मुद्रा के द्वारा सामाजिक स्वतन्त्रता बढ़ी और बढ़ती रही है। मुद्रा न होने से मजदूरों की मजदूरी का भुगतान पहिले अनाज, कपड़ा आदि वस्तुएँ देकर चुकाया जाता था। इससे मजदूरों को अपनी मिहनत का पूरा मूल्य नहीं मिलता था। बहुधा उन्हें सड़ी-गली वस्तुएँ दे दी जाती थीं। अब मजदूरी मुद्रा में चुकाई जाती है, जिसके द्वारा मजदूर अपनी आवश्यक वस्तुओं का क्रय इच्छानुसार कर सकते हैं।

8) मुद्रा के द्वारा राष्ट्रीय तथा राजनीतिक संगठन में भी सहायता मिलती है। मुद्रा के प्रादुर्भाव के पहिले व्यापार का क्षेत्र सीमित था। अधिकतर लोग अपने-अपने गांवों में ही अपनी वस्तुओं का आवश्यक वस्तुओं से अदल-बदल कर लिया करते थे। आज की भाँति गाँव व शहर का व्यापारिक संबन्ध न था। यह मुद्रा की ही देन है कि आज गाँव के किसान अपना माल शहरों में बेचते हैं और वहाँ से अपनी आवश्यक वस्तुएँ क्रय करते हैं। मुद्रा ने व्यापारिक सुविधाएँ उपलब्ध कर देश-विदेश को बहुत समीप ला दिया।

9) संक्षेप में, वस्तुओं के उत्पादन और वितरण की सभी क्रियाएँ आज मुद्रा के कारण ही संभव हैं। समाज के प्रत्येक अंग को मुद्रा से लाभ पहुँचता है। अर्थशास्त्री जेवन्स ने लिखा है "क्योंकि हम अपने जीवन के आरम्भ से ही मुद्रा को देखते और प्रयोग करते आये हैं, इसलिये हमें मुद्रा का वास्तविक महत्त्व और उसके द्वारा होने वाले लाभ का अनुभव नहीं हो पाता। यदि हम समाज के बहुत प्राचीन रूप को देखें जब कि वर्तमान मुद्रा का चिन्ह भी न था, तो हमें मुद्रा के न होने से होनेवाली मुसीबतों का

सहज ही पूरा-पूरा ज्ञान हो जायगा और तभी हम मुद्रा के वास्तविक महत्त्व को समझ भी सकते हैं।

मुद्रा के द्वारा ही व्यापार, उद्योग एवं कृषि की उन्नति सम्भव हुई। मुद्रा और मानव की सभ्यता का एक ऐसा पारस्परिक संबंध है जिसमें यह कहना कठिन है कि मुद्रा के कारण सभ्यता का विकास हुआ या सभ्यता के कारण मुद्रा का विकास हुआ।

मुद्रा के दोष (Evils of Money)—मुद्रा की अच्छाइयों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। अच्छाइयों के साथ मुद्रा में कुछ दोष भी हैं। वे इस प्रकार हैं:—

(१) मुद्रा होने से उधार लेन-देन में सहायता मिलती है पर उधार मिलने के कारण लोग फिजूल खर्च बन जाते हैं और अपनी आय से अधिक खर्च करने लग जाते हैं।

(२) मुद्रा के कारण सम्पत्ति के वितरण में असमानता और विषमता आती है। वर्तमान काल का पूँजीवाद इसी का परिणाम है। यदि मुद्रा न होती तो प्रत्येक व्यक्ति को वस्तुएँ बनानी या पैदा करनी पड़ती और पूँजीपति समाज का शोषण न कर पाते।

(३) मुद्रा का मूल्य पूर्णतः स्थायी न रहने के कारण समाज को बड़ी हानि होती है। मुद्रा के मूल्य में होने वाले भारी-भारी उतार-चढ़ाव व्यापार तथा उद्योगों को प्रायः नष्ट भी कर डालते हैं। लुडविग वॉन नामक मुद्राशास्त्री के अनुसार मुद्रा के कारण ही समाज में अनेकों अनैतिक कृत्य होते हैं।

(४) मुद्रा की एकाधिकार, विशाल अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक संघों तथा महायुद्धों का कारण है। मुद्रा अंतर्राष्ट्रीय द्वेष-भावना का कारण बनती है तथा अनेकों अन्यायों को बढ़ावा देती है।

पर मुद्रा के लाभ उसके दोषों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। यदि प्रयत्न किया जाय तो मुद्रा के इन दोषों में से कुछ दोषों को दूर किया जा

सकता है। फिर भी हमें मुद्राशास्त्र को भलीभाँति समझना चाहिये तथा मुद्रा नीति इस प्रकार काम में लाना चाहिये कि वह मानवजाति का कल्याण करे।

सारांश

(१) मुद्रा के कार्यों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) मुख्य कार्य, (२) सहायक कार्य, तथा (३) आकस्मिक कार्य। मुख्य कार्य वे कहलाते हैं जो मुद्रा को समाज के आर्थिक-जीवन की प्रत्येक स्थिति में करने पड़ते हैं। पर मुद्रा के अन्य कार्य वे हैं जो मुद्रा को समाज के आर्थिक-जीवन की केवल उन्नत स्थिति में ही करने पड़ते हैं। अंग्रेजी की निम्नलिखित पंक्तियों में मुद्रा के कार्यों का अच्छा समावेश है ;—

Money is a matter of functions four,
A medium, a measure, a standard, a store
But if this does not complete the functions,
We may add transferability more.

(२) मनुष्य जीवन का प्रत्येक कार्य मुद्रा पर केन्द्रित है। मुद्रा के द्वारा वस्तुओं का मूल्य आंका जाता है तथा पूँजी गतिशील बनती है। सामाजिक स्वतंत्रता का आधार मुद्रा ही है। इससे राष्ट्रीय एवं राजनीतिक संगठन को भी सहायता मिलती है। इस प्रकार मुद्रा के द्वारा व्यापार, कृषि एवं उद्योग उन्नति कर सके तथा मानव समाज का विकास सम्भव हो सका।

(३) मुद्रा में कुछ दोष भी हैं। समाज में अनेक अनैतिक कार्यों का कारण मुद्रा होती है। समाज में आर्थिक शोषण मुद्रा के कारण ही सम्भव हो सका। मुद्रा के मूल्य के स्थायी न रहने के कारण, व्यापार एवं उद्योगों को कभी-कभी बहुत हानि हो जाती है। पर मुद्रा नीति को ठीक प्रकार से निर्धारित करके, मुद्रा को जन-कल्याण के लिये काम में लाया जा सकता है।

प्रश्न

१—'मुद्रा' शब्द की परिभाषा कीजिए और मुद्रा के कार्यों की स्पष्ट व्याख्या कीजिए। (राजपूताना १९४९, ५०, ५१, ५२, ५३: यू० पी० बोर्ड, १९४९-५४ म० भा० बोर्ड, १९५३, अजमेर बोर्ड १९५३)

२—"मुद्रा की पहचान मुद्रा के कार्यों से ही होती है"। इस कथन का स्पष्टीकरण कीजिए। (यू० पी० बोर्ड, १९५३)

३—आधुनिक समाज में मुद्रा का महत्व समझाकर लिखो।
(यू० पी० बोर्ड, १९५१. राजपूताना, १९५३).

४—मौद्रिक आर्थिक व्यवस्था के गुण-दोषों पर प्रकाश डालिए।
(यू० पी० बोर्ड, १९४५)

५—मुद्रा भावी भुगतान चुकाने का काम आती है। मुद्रा साख का आधार होती है तथा मुद्रा ने पूंजी को तरल स्वरूप प्रदान किया है—इन कथनों की व्याख्या कीजिए। (यू० पी० बोर्ड. १९४४)

६—वर्तमान युग "मुद्रा का युग" कहा जाता है। ऐसा क्यों है? इस कथन की पुष्टि कीजिए। (अजमेर बोर्ड, १९५२)

७—मुद्रा ने सम्पत्ति के उत्पादन और विनिमय में क्या योग दिया है? (अजमेर व म० भा० बोर्ड, १९५१)

८—मुद्रा मूल्य संग्रह में सहायता करती है—इस कथन को सोदहरण समझाइए। (अजमेर बोर्ड, १९५०)

९—उत्पादकों, उपभोक्ताओं तथा समाज के वर्गों पर मुद्रा से प्रभावों की चर्चा कीजिए। (अजमेर बोर्ड, १९४९)

अध्याय ४

मुद्रा-वस्तु के गुण अथवा विशेषताएँ

(Qualities of Money Material)

भिन्न-भिन्न देशों में समय-समय पर अनेक प्रकार की वस्तुओं को मुद्रा के रूप में अपनाया गया और फिर उनका उपयोग मुद्रा के लिये ठीक न समझकर उन्हें छोड़ दिया गया। अन्त में सब देशों में मुद्रा के लिये सोना और चाँदी ग्रहण कर लिये गये। अतः यह समझना आवश्यक है कि उस वस्तु में जिसकी मुद्रा बनाई जाय, कौन-कौन से गुण होने चाहिये।

मुद्रा-वस्तु के गुण

(१) उपयोगिता (Utility)—जो वस्तु मुद्रा बनाने के काम में लाई जाय उसका उपयोगी होना आवश्यक है। चमड़ा, अनाज, चाय, तम्बाकू, नमक, गाय आदि सब वस्तुएँ, जो समय-समय पर मुद्रा के रूप में चलती रहीं, उपयोगी थीं। उपयोगी वस्तुओं को मुद्रा के रूप में सभी सहर्ष स्वीकार करते हैं। सोना और चाँदी में यह गुण निहित है।

(२) मूल्य (Value)—मुद्रा-वस्तु में उपयोगिता के साथ-साथ आंतरिक मूल्य भी होना चाहिये। ऐसी वस्तु को मुद्रा के रूप में बिना संदेह व हिचकिचाहट के लोग स्वीकार कर लेते हैं। अतः जिस वस्तु की मुद्रा बनाई जाय, उसका मूल्यवान् होना आवश्यक है। मूल्यवान् वस्तु की बनी मुद्रा को लोग अपनी वस्तुओं के बदले में सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं।

(३) सर्वमान्यता (Universal Acceptability)—मुद्रा-वस्तु में सर्वमान्यता का गुण होना आवश्यक है तब ही तो उसे मुद्रा के रूप में प्रचलित किया जा सकता है। जिस मुद्रा-वस्तु को देशवासियों द्वारा अपनी

वस्तुओं एवं सेवाओं के बदले में सहर्ष स्वीकार नहीं किया जाता, वह वस्तु मुद्रा का कार्य नहीं कर सकती। अतः मुद्रा वस्तु का सर्वमान्य होना आवश्यक है।

(४) वहनीयता (Easily Portable)—मुद्रा वस्तु में एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने की सुविधा होनी चाहिये। यह कार्य तब आसान होता है जब वस्तु कम वजन में अधिक मूल्य रखने की योग्यता रखती हो। उदाहरणार्थ, सोने का छोटा सा टुकड़ा भी बहुत कीमती होता है। ऐसी वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में व्यय उसके मूल्य की तुलना में कम पड़ेगा।

(५) अक्षयशीलता या टिकाऊपन (Indestructibility or Durability)—मुद्रा-वस्तु में अक्षयशीलता अथवा टिकाऊपन का गुण होना आवश्यक है। इस गुण के अभाव में मुद्रा वस्तु अधिक काल तक विनिमय के माध्यम एवं मूल्य-मापक का कार्य नहीं कर सकती। प्राचीन काल में मुद्रा के रूप में काम आनेवाली वस्तुओं—अनाज, तेल, मछली आदि में यही दोष था कि वे थोड़े समय के बाद नष्ट हो जाती थीं। सोने, चांदी में अक्षयशीलता है। हजारों वर्षों तक वे टिक सकती हैं।

(६) विभाजन (Divisibility)—मुद्रा-वस्तु में यह गुण होना आवश्यक है। उसका विभाजन बिना उसके मूल्य को नष्ट किये किया जा सकना चाहिये। प्राचीन काल में मुद्रा के रूप में काम आनेवाले चमड़े तथा जानवर का बिना उसके मूल्य को कम किये विभाजन करना संभव न था। सोने-चांदी में यह गुण है तथा उनका विभाजन करने पर उनका मूल्य कम नहीं होता। अतः मुद्रा बनाने के लिये सोना-चांदी बहुत उपयुक्त वस्तु समझी जाती है।

(७) सजातीयता (Homogeniety)—मुद्रा-वस्तु ऐसी हो कि उसमें से यदि भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राएं बनाई जावें तो उन मुद्राओं के रूप में या मूल्य में किसी प्रकार की खराबी न आने पावे। उन मुद्राओं की यदि तौल एक सी हो तो उनका मूल्य भी एक सा हो। हीरा, मोती या जवा

हरात भिन्न-भिन्न मूल्य के हो सकते हैं। पर एक ही रूप, एक ही आकार और एक ही तौल के सोने के दो टुकड़े एक ही मूल्य के होंगे।

(८) गलनशीलता (Malleability)—मुद्रा बनाने के काम में आने वाली वस्तु ऐसी होनी चाहिये कि वह आसानी से गलाई जा सके जिससे मुद्रा बनाने में सुविधा हो। उसे न तो मोम की तरह नरम और न लोहे की भाँति कठोर ही होना चाहिये। सोने-चाँदी में गलाने की सुविधा है।

(९) स्वरूप-परिचयता (Cognisability)—मुद्रा-वस्तु सरलता से पहिचानी जा सके। वह ऐसी होनी चाहिये जिससे खोटे-खरे और भले-बुरे की पहिचान करने मे देर न हो। अनपढ़ व मूर्ख व्यक्ति भी आसानी से पहिचान सकें। सोने-चाँदी में यह गुण होता है क्योंकि उनके बने सिक्कों की आवाज एवं उनके विशेष रंग से उन्हे आसानी से परखा जा सकता है।

(१०) मूल्य की स्थिरता (Stability of Value)—मुद्रा-वस्तु के मूल्य में स्थिरता रहनी चाहिये। समय-समय पर भिन्न-भिन्न स्थानों पर मुद्रा-वस्तु के मूल्य में विशेष अंतर नहीं होना चाहिये। उसके मूल्य में उतार-चढाव आने से मुद्रा मूल्य-सग्रह एवं भावी भुगतान करने का कार्य सुगमता से न कर सकेगी। सोने-चाँदी के मूल्य मे इतने उतार-चढ़ाव और फेर-बदल नही होते जितने अन्य वस्तुओं के मूल्यों मे होते रहते हैं। इसीलिये सोने-चाँदी को मुद्रा-वस्तु बनाने के लिये सबसे उपयुक्त वस्तु समझा जाता है।

उपर्युक्त गुणों का एक साथ समावेश केवल सोना व चाँदी में ही मिलता है। इसीलिये सभी देशों में मुद्रा-वस्तु के रूप में इनका उपयोग किया गया। पर अब समाज और आगे बढ़ गया है। सरकार सोने-चाँदी को खजाने मे रखने लगी है और उनके बदले में पत्र-मुद्रा-प्रचलित कर दी जाती है। इससे सोना-चाँदी नष्ट नहीं होता और खजाने में सुरक्षित रहता है

दूसरे, इस समय संसार के इस व्यापार की मात्रा बढ़ती गयी है और इसकी पूर्ति इसकी मात्रा की अपेक्षा कम है। अतः कागज के द्वारा इस मांग को पूरा किया जाता है। पहले चांदी सोने के सिक्के का चलाना किसी देश के गौरव की बात समझी जाती थी। पर अब सोने के सिक्के चलाना असभ्यता का चिन्ह समझा जाता है और इसका यह अर्थ लिया जाता है कि उनका का व्यापार अधिक विस्तृत नहीं है। इसी से मुद्रा वस्तु के गुणों का आधुनिक युग में कोई विशेष महत्व नहीं रह गया है।

सारांश

(१) मुद्रा वस्तु के रूप में भिन्न-भिन्न देशों में समय-समय पर भिन्न-भिन्न वस्तुएँ व्यवहृत हुईं। पर उनमें मुद्रा-वस्तु के आवश्यक गुणों का अभाव होने के कारण उन्हें छोड़ दिया गया।

(२) मुद्रा-वस्तु के आवश्यक गुण निम्नलिखित हैं:—

(१) मुद्रा वस्तु उपयोगी होनी चाहिये।
(२) उसमें वास्तविक मूल्य होना आवश्यक है।
(३) मुद्रा वस्तु में सर्व मान्यता होना जरूरी है।
(४) उसके एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से कम व्यय में ले जाई जाने की क्षमता हो।
(५) उपयोग में लेने पर टिकाऊ सिद्ध हो।
(६) उसका विभाजन करने पर मूल्य कम व नष्ट न हो।
(७) मुद्रा वस्तु में सजातीयता का गुण हो।
(८) उसमें गलने की सुविधा हो।
(९) मुद्रा-वस्तु में स्वरूप-परिचयता हो।
(१०) उसके मूल्य में स्थिरता हो।

(३) उपर्युक्त गुण सोने-चांदी में मिलते हैं। पर अब इनका स्थान पत्र-मुद्रा ने ले लिया है।

प्रश्न

१—मुद्रा-वस्तु के आवश्यक गुणों का उल्लेख करते हुए समझाइये कि क्या आजकल मुद्रा बनाने के काम में आने वाली वस्तुओं में ये सब गुण पाये जाते हैं ? (यू० पी० बोर्ड, १६५२, ४६; राजपूताना १६५३, ५०)

२—सोने में मुद्रा-वस्तु के कौन-कौन से गुण पाये जाते हैं ? क्या आपकी राय में मुद्रा बनाने के लिये सोना एक आदर्श वस्तु है ? सतर्क उत्तर लिखिये ।

अध्याय ५

मुद्रा के भेद

(Kinds of Money)

अर्थशास्त्र के विद्वानों ने मुद्रा का निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकरण किया है। मुद्रा के निम्नलिखित प्रकार मुख्य हैं:—

(१) धातु-मुद्रा (Metallic Money)

(२) पत्र मुद्रा (Paper Money)

धातु-मुद्रा वह है जिसके सोना, चांदी, तांबा, निकिल आदि धातुओं के सिक्के सरकारी टकसालों में बनाये जाते हैं। सरकार सिक्कों पर एक प्रकार सरकारी छाप लगा देती है और उस सिक्के का नाम और मूल्य उसकी पीठ पर छाप दिया जाता है जिससे आसानी से लोग उसे पहिचान सकें। पत्र-मुद्रा वह है जो किसी विशेष अधिकृत बैंक, साहूकार अथवा सरकार द्वारा कागज पर अपने विशेष चिह्न छाप कर व्यवहार में लाई जाय।

आज से बहुत पहले न तो आज जैसे सिक्के थे और न सिक्का ढलाई की वर्तमान कला ही थी। उस समय सोने-चांदी के लम्बे-लम्बे टुकड़े होते थे जिन पर उनकी तोल खुदी होती थी। व्यापारी लोग धातु के इन टुकड़ों पर अपना-अपना नाम भी छाप दिया करते थे। इस प्रकार जो लोग इन व्यापारियों को जानते थे, वे इन धातु के टुकड़ों को बिना तोल किये उन पर लिखे हुए मूल्य के अनुसार ले लिया करते थे। इन धातु के टुकड़ों पर तरह-तरह के चिह्न होते थे। धीरे-धीरे धातु के इन टुकड़ों को लाने ले-जाने में कठिनाई अनुभव होने लगी। इस कारण धातु के छोटे-छोटे टुकड़े काट कर उन पर उनकी तोल और मूल्य लिखी जाने लगी। सबसे पहले चीन में ऐसे सिक्के

बनाये गये। फिर धीरे-धीरे अन्य देशों में भी सिक्के बनाये जाने लगे। भिन्न-भिन्न धातुओं के सिक्के बनाये गये। उनका आकार समय-समय पर बदलता रहा। पहिले व्यापारी अपने-अपने सिक्के बना कर चलाते थे। सिक्कों के रूप एवं आकार में इस प्रकार बड़ा अन्तर रहता था। अतः सरकार ने इस कार्य को अपने हाथ में लेकर सिक्कों को आधुनिक रूप दिया।

टंकण या सिक्का ढलाई तीन प्रकार से की जाती है।

(१) **स्वतंत्र टंकण**—इसमें जनता को स्वतंत्रता रहती है कि वह अपने सोना-चाँदी के बदले में एक निश्चित अनुपात में सिक्के प्राप्त कर सके। सरकार टंकण का व्यय ले सकती है। यह व्यय टंकण-व्यय के बराबर भी हो सकता है और उससे अधिक भी।

(२) **सरकारी टंकण**—इस प्रणाली में सरकार अपने आप मुद्रा ढलवाती है। जनता को सिक्का ढलवाने की स्वतन्त्रता नहीं रहती। इसे परिमित टंकण प्रणाली भी कहते हैं।

(३) **निःशुल्क टंकण**—जब सरकार जनता को सिक्के ढलवाने की स्वतन्त्रता दे और कोई टंकण-शुल्क न ले, ऐसी प्रथा को निःशुल्क टंकण प्रणाली कहेंगे।

विधि-ग्राह्य मुद्रा—विधि-ग्राह्य मुद्रा दो प्रकार की होती है।

(१) सीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा (Limited Legal Tender)

(२) असीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा (Unlimited Legal Tender)

(१) सीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा उसे कहते हैं जो केवल सीमित मात्रा में ही लेन-देन के लिये विधि-ग्राह्य मुद्रा हो। जिसे केवल सीमित मात्रा में ही लेने के लिये लोगों को बाध्य किया जा सके। सहायक सिक्के प्रायः सीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा होते हैं। हमारे देश में चवन्नी, दुवन्नी, इकन्नी, अधन्ना और पैसे के सिक्के सीमित कानूनी मुद्रा हैं।

(३) असीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा उसे कहते हैं जो लेन-देन के लिये असीमित मात्रा में विधि-ग्राह्य मुद्रा है। वह मुद्रा जिसे लोगों को किसी भी संख्या में भुगतान लेने के लिये बाध्य किया जा सके। देश में चलने वाले रुपये के सिक्के, अठन्नियां, तथा कागज के नोट असीमित विधि ग्राह्य मुद्रा हैं।

धातु मुद्रा या सिक्के भी दो प्रकार के होते हैं।

(१) प्रमाणिक या प्रमुख सिक्का (Standard Coin)

(२) सांकेतिक या सहायक सिक्का (Token Coin)

(१) प्रामाणिक या प्रमुख सिक्का देश का वह सिक्का होता है जो देश भर में वस्तुओं और सेवाओं का मूल्यांकन करे तथा जिसके साथ अन्य दूसरी मुद्राओं का मूल्य सम्बन्ध हो। प्रामाणिक सिक्के में नीचे लिखी हुई तीन बातें होनी चाहिये—

(१) अतिरिक्त एवं बाह्य मूल्य में समानता (Face Value and Intrinsic Value are equal) :—

प्रामाणिक सिक्के का अतिरिक्त मूल्य एवं बाह्य मूल्य समान होता है। जितना मूल्य उस सिक्के पर लिखा हो उतने ही मूल्य की उसमें धातु हो। प्रामाणिक सिक्के का यह प्रधान लक्षण होता है।

(२) स्वतन्त्र टंकण (Free Coinage) :—

प्रामाणिक सिक्के का दूसरा लक्षण है स्वतंत्र टंकण। जनता को इस बात की स्वतंत्रता हो कि वह सरकारी टकसाल पर धातु ले जाकर उसके सिक्के ढलवा सके। इसमें सरकार की ओर से किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं होता। हाँ, सरकार चाहे तो टंकण-शुल्क (charge for coinage) ले सकती है।

(३) असीमित विधि ग्राह्यता (Unlimited Legal Tender)

प्रामाणिक सिक्का देश की प्रधान मुद्रा होती है तथा उसमें उपर्युक्त दोनों विशेषताएँ होती है, इस कारण देशवासियों को असीमित संख्या में स्वीकार करना पड़ता है। अतः यह स्वाभाविक है कि प्रामाणिक सिक्का

असीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा हो तथा लेन-देन और भुगतान चुकाने में लोग उसे असीमित मात्रा में लेने के लिये बाध्य हों।

जिस सिक्के में ये तीन बातें होंगी उसे देश का प्रामाणिक या प्रमुख सिक्का समझना चाहिये। हमारे देश में रुपया प्रमुख सिक्का माना जाता है क्योंकि उसी के द्वारा वस्तुओं और सेवाओं का मूल्यांकन होता है तथा अन्य मुद्राओं का मूल्य भी उसी के साथ सम्बन्धित है। परन्तु हमारे रुपये में इन तीनों बातों में से केवल एक बात पाई जाती है कि यह एक असीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा है जिसे लेन-देन में असीमित मात्रा में भुगतान किया जा सकता है। पर इस रुपये का न तो स्वतंत्र-टंकण है और न इसका बाह्य मूल्य इसके आंतरिक मूल्य के ही बराबर है। अतः हम रुपये को प्रामाणिक सिक्का नहीं कह सकते। पर यह सिक्का देश में सब वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य मापता है, इसलिये इसे किसी सीमा तक प्रधान सिक्का कहा जा सकता है।

सांकेतिक सिक्का या सहायक सिक्का

सांकेतिक अथवा सहायक सिक्कों के लक्षण प्रामाणिक सिक्के के लक्षणों से बिल्कुल विपरीत होते हैं। ये सिक्के प्रामाणिक मुद्रा से कम राशि के होते हैं जो छोटी-छोटी राशि के लेन-देन में काम आते हैं। ये सिक्के प्रमुख सिक्के के सहायक सिक्के कहलाते हैं। सांकेतिक सिक्कों में निम्न-लिखित लक्षण होते हैं :—

(१) प्रनिबंधित टंकण (Restricted Coinage)— सांकेतिक सिक्कों का स्वतंत्र-टंकण नहीं होता। केवल सरकार द्वारा ही उन सिक्कों को ढलवाया जा सकता है। जनता को इस बात की स्वतंत्रता नहीं होती कि वह सरकारी टकसाल पर धातु ले जाकर उसके बदले में वे सिक्के बनवा सकें।

(२) आंतरिक मूल्य बाह्य-मूल्य से कम (Intrinsic Value less than the Face Value)—सांकेतिक सिक्कों का बाह्य-मूल्य

उनके आन्तरिक मूल्य से अधिक होता है। जितना मूल्य उन सिक्कों पर अंकित रहता है उससे उनमें कम मूल्य की धातु होती है।

(३) सीमित विधि ग्राह्यता (Limited Legal Tender)—सांकेतिक सिक्का सीमित विधि-ग्राह्य होता है। लेन-देन में उन्हें सीमित मात्रा में ही स्वीकार करने के लिये लोगों को बाध्य किया जा सकता है।

इस प्रकार जिन सिक्कों में ये तीन बातें हों उन्हें "सांकेतिक सिक्के" (Token Coins) समझना चाहिये। हमारे देश के रुपये के सिक्के में इनमें से दो बातें पाई जाती हैं। एक तो यह कि इसका बाह्य मूल्य (Face Value) इसके आन्तरिक (Intrinsic Value) से अधिक है। दूसरी बात यह है कि रुपये के सिक्के का स्वतन्त्र-टंकण (Free Coinage) भी नहीं है। जनता को इस बात की स्वतन्त्रता नहीं है कि वह सरकारी टकसाल पर धातु ले जाकर बदले में उसका रुपया बनवा सके। इन बातों के होने पर भी रुपये को देश का सांकेतिक सिक्का (Token Coin) नहीं कह सकते क्योंकि सांकेतिक सिक्के का सीमित विधि-ग्राह्यता का लक्षण रुपये के सिक्के में नहीं पाया जाता। दूसरे, रुपये का सिक्का देश में सब वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य मापता है इसलिये इसे सांकेतिक मुद्रा भी नहीं कह सकते। हाँ, चवन्नी, दुवन्नी, इकन्नी, अधन्ना और पैसे के सिक्के सांकेतिक सिक्के हैं। इनमें सांकेतिक सिक्कों के तीनों गुण पाये जाते हैं। ये छोटे सिक्के रुपये के सहायक सिक्के हैं क्योंकि ये एक रुपये से कम राशि के लेन-देन और भुगतान चुकाने के व्यवहार में आते हैं।

फिर रुपये का सिक्का क्या है? प्रामाणिक मुद्रा है अथवा सांकेतिक मुद्रा? इस सिक्के में न तो सब गुण प्रामाणिक सिक्के (Standard Coin) के पाये जाते हैं और न सभी गुण सांकेतिक सिक्के (Token Coin) के। ऐसी परिस्थिति में यह निश्चय करना बड़ा कठिन है कि रुपये का सिक्का प्रामाणिक है अथवा सांकेतिक। प्रामाणिक-सिक्के के गुणों में से इसमें केवल एक गुण असीमित विधि-ग्राह्यता (unlimited legal tender)

का पाया जाता है। परन्तु यह सिक्का देश में सब वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य मापता है और इसी के मूल्य पर अन्य सब सिक्कों के मूल्य निर्भर हैं इस कारण यह सिक्का देश का प्रमुख सिक्का है तथा उस सीमा तक इसे प्रामाणिक सिक्का कह सकते हैं। पर इसमें सांकेतिक मुद्रा के भी कुछ गुण पाये जाते हैं। इसका बाह्य मूल्य (Face Value) आंतरिक मूल्य (Intrinsic Value) से अधिक है। इसका स्वतंत्र-टंकण नहीं होता। इस सीमा तक इसे सांकेतिक सिक्का कहना भी अनुचित न होगा। अतः इस विवाद को दूर करने के हेतु रुपये के सिक्के को प्रामाणिक-सांकेतिक सिक्का (Standard-Token Coin) ही कहना अति उचित होगा।

यह आवश्यक नहीं है कि किसी देश की प्रामाणिक या प्रमुख मुद्रा (Standard Coin) सोने या चाँदी की ही हो। किसी देश में प्रामाणिक सिक्का सोने का हो सकता है और किसी में चाँदी का। ऐसा भी हो सकता है कि किसी देश में सोना और चाँदी—दोनों धातुओं के सिक्के प्रामाणिक सिक्के हों। वर्तमान युग में तो सभी उन्नतिशील देशों में पत्र-मुद्रा प्रमाप (Paper Currency Standard) है और इसी के मूल्य से वस्तुओं, सेवाओं या अन्य सिक्कों का मूल्य मापा जाता है।

सारांश

(१) मुद्रा के दो भेद—धातु-मुद्रा एवं पत्र-मुद्रा। प्राचीन काल में धातु के सिक्कों के स्थान पर धातुओं के टुकड़े प्रचलन में थे। चलन की कठिनाइयों के कारण मुद्रा का प्रादुर्भाव हुआ और उसे आधुनिक स्वरूप मिला।

(२) टंकण या सिक्का ढलाई तीन प्रकार से की जाती है—(१) स्वतंत्र टंकण, (२) सरकारी टंकण, और (३) निःशुल्क टंकण।

(३) धातु-मुद्रा दो प्रकार की होती है—

१—प्रामाणिक या प्रमुख सिक्का (Standard Coin)

२—सांकेतिक या सहायक सिक्का (Token Coin)

प्रामाणिक सिक्का के वाह्य-एवं आतरिक मूल्य में अन्तर नहीं होता। उमे स्वतंत्र टंकण की सुविधा एवं असीमित विधि-ग्राह्यता प्राप्त होती है। साकेतिक सिक्के के लक्षण प्रामाणिक सिक्के के लक्षणों से बिलकुल विपरीवि होते हैं। हमारे देश का रुपया प्रामाणिक-साकेतिक सिक्का है क्योंकि इसमें दोनों के लक्षण निहित हैं।

प्रश्न

१—प्रामाणिक सिक्का और साकेतिक सिक्के में क्या अंतर है? क्या साकेतिक सिक्का भी कानूनी मुद्रा हो सकता है? भारत का रुपया कैसा सिक्का है?

२—'भारत का रुपया "प्रामाणिक-साकेतिक सिक्का" है।' इस कथन की सत्यता पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

३—सिक्के कितने प्रकार के होते हैं? प्रत्येक के लक्षण और उदाहरण लिखिये।

४—स्वतत्र-टंकण और निःशुल्क-टंकण का अन्तर समझाइये।

५—टंकण प्रणाली कितने प्रकार की होती है? प्रत्येक को समझाइये और बताइए कि सिक्का-ढलाई में किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?

(यू० पी० बोर्ड, १९५५)

६—भारतीय रुपया असीमित कानूनी मुद्रा है पर फिर भी इसे पूर्णतया प्रामाणिक मुद्रा नहीं कहा जा सकता। क्यों?

(अजमेर बोर्ड, १९५२)

अध्याय ६

मुद्रा-प्रमाप-पद्धतियाँ

(Monetary Standards)

मुद्रा-प्रमाप-पद्धति देश की उस मौद्रिक प्रणाली को कहते हैं जिसके अनुसार देश में एक या दो प्रकार के सिक्के देश की प्रमुख और प्रामाणिक मुद्राएँ हो, जिनके साथ सब प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं का मूल्यमापन किया जाय तथा देश की अन्य मुद्राएँ सम्बन्धित हो।

मुद्रा-प्रमाप-पद्धति का किसी भी देश की आर्थिक उन्नति के विकास में बड़ा योग रहता है। जिस देश की मुद्रा-प्रमाप-पद्धति अच्छी होती है, उस देश के उद्योग व व्यापार उन्नति कर जाते हैं, तथा उनके विकास में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती। इसके हेतु पद्धति में निम्नलिखित गुणों का समावेश होना आवश्यक है—

(१) मूल्य में स्थिरता (Stability in Value)—मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने से उसका समाज के विभिन्न वर्गों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। व्यापार तथा लेन-देन का क्रम बिगड़ जाता है। उद्योगों की प्रगति रुक जाती है तथा समाज का समूचा आर्थिक ढाँचा अस्त-व्यस्त हो जाता है। अतः समाज के आर्थिक कल्याण के लिये एवं देश की व्यापारिक एवं औद्योगिक उन्नति के हेतु मुद्रा का मूल्य स्थिर एवं स्थाई रहना आवश्यक है।

(२) सरलता (Simplicity)—मुद्रा-प्रमाप-पद्धति को इतना सरल होना चाहिये कि वह सामान्य व्यक्तियों द्वारा आसानी से समझी जा सके तथा उनका विश्वास पा सके।

(३) लोच (Elasticity)—मुद्रा-प्रमाप-पद्धति का एक आवश्यक

गुण यह भी है कि उसमें लोच हो। मुद्रा का परिमाण देश की औद्योगिक एवं व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार घटाया-बढ़ाया जा सके, इस हेतु मुद्रा-प्रमाप-पद्धति में लोच होना अति आवश्यक है। इसके द्वारा मुद्रा के मूल्य में स्थिरता रखने में आसानी होती है।

(४) स्वयपूर्ण कार्यशीलता (Automatic in its operation)—मुद्रा-प्रमाप पद्धति ऐसी हो जिसके अतर्गत मुद्रा की माग एव पूर्ति का स्वत: ही समायोजन होता रहे। सरकार को हस्तक्षेप करने की आवश्यकता न पड़े। मुद्रा-प्रमाप-पद्धति के स्वयपूर्ण कार्यशील होने से उसमे जनता का विश्वास बना रहता है।

(५) मितव्ययिता (Economy)—मुद्रा-प्रमाप-पद्धति में मितव्ययिता का होना आवश्यक है। पद्धति ऐसी हो जिसके संचालन में अधिक व्यय न हो।

मुद्रा-प्रमाप पद्धति में तीन प्रमुख बाते होती है—

प्रथम—एक या दो प्रकार के सिक्के देश की प्रमुख मुद्राएँ बना दिये जाते हैं। जब एक धातु का सिक्का प्रमुख-मुद्रा रहता है तो उसे 'एक-धातुवाद' (Mono-metallism) कहते है। जब दो धातुओं के दो सिक्के अलग-अलग प्रमुख मुद्राएँ बनाये जायें, तो उसे 'द्वि-धातुवाद' (Bi-metallism) कहते हैं। और जब दो धातुओं को मिलाकर बनाया हुआ एक सिक्का प्रमुख-मुद्रा बनाया जाय तो उसे 'मिश्रित धातुवाद' (Sym-metallism) कहते हैं।

द्वितीय—प्रमुख-मुद्रा (या मुद्राओं) के साथ अन्य वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य-मापन किया जाता है।

तृतीय—देश मे चलने वाली अन्य सांकेतिक अथवा सहायक मुद्राओं का प्रमुख मुद्रा (या मुद्राओं) के साथ सम्बन्ध रहता है।

मुद्रा-प्रमाप देश की आर्थिक-स्थिति तथा देशवासियों की आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है। कई प्रकार की मुद्रा-प्रणालियों को समय-समय पर उपयोग मे लाया गया। इनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं:—

मुद्रा-प्रमाप (Monetary Standard)

- ऐसी वस्तु से संबंध हो जिसका अपना कोई 'वस्तु-मूल्य' हो।
  - एक-धातुवाद
  - द्वि-धातुवाद
  - विनिमय-प्रमाप-पद्धति
    - इसमे देश की मुद्रा का संबंध किसी अन्य देश की मुद्रा से रहता है तथा देश मे केवल प्रतीक मुद्रा का चलन होता है।
- ऐसी वस्तु से संबंध हो जिसका अपना कोई मूल्य न हो।
  - प्रबंधित अथवा संचालित पत्र-मुद्रा-पद्धति जिसके अंतर्गत कागज के नोट ही विनिमय माध्यम तथा मूल्य-मापन का कार्य करते है।

एक-धातुवाद (Mono-metallism)

वह पद्धति जिसके अंतर्गत देश की प्रमुख मुद्रा (standard money) एक धातु, सोने या चाँदी की बनी हुई होती हो, 'एक-धातुवाद' कहलाता है। एक-धातुवाद के अंतर्गत किसी एक ही धातु (प्रायः सोने या चाँदी) के सिक्के देश की प्रमुख मुद्रा के रूप मे चलते हैं। यही सिक्के देश में वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य-मापन करते हैं तथा इन्हीं के साथ देश में चलनेवाली सांकेतिक मुद्राओं का मूल्य सम्बन्धित होता है। इस पद्धति में नीचे लिखी हुई मुख्य बातें होती है :—

(अ) एक धातु (सोना या चाँदी) की बनी हुई प्रमुख-मुद्रा असीमित-विधि-ग्राह्य-मुद्रा (Unlimited legal tender) होती है। उसे असीमित मात्रा में लिया दिया जा सकता है।

(३) इस पद्धति में प्रमुख मुद्रा का स्वतंत्र टंकण (Free Coinage) होता है। कोई भी व्यक्ति उस धातु को ले जाकर उसके बदले में सरकारी टकसाल में सिक्के ढलवा सकता है।

(४) प्रधान मुद्रा के अतिरिक्त देश में अन्य प्रकार की सांकेतिक या सहायक मुद्राएँ भी चलती है। ये मुद्राएँ कागज़ या अन्य किसी धातु की बनी होती हैं तथा सीमित-विधि-ग्राह्य (Limited legal tender) होती है। इन सांकेतिक मुद्राओं को किसी भी समय प्रधान-मुद्रा या सोना-चाँदी से बदलवाया जा सकता है। यदि प्रधान मुद्रा चाँदी की बनी हुई हो तो उस पद्धति को 'रौप्य-प्रमाप' (Silver Standard) कहते हैं। यदि प्रधान-मुद्रा सोने की बनी हुई हो तो उसे 'स्वर्ण माप' (Gold Standard) कहते हैं।

स्वर्ण-प्रमाप (Gold Standard)—वह पद्धति जिसके अंतर्गत देश की प्रमुख-मुद्रा सोने की बनी हुई हो अथवा उसका मूल्य सोने में निर्धारित हो, 'स्वर्ण-प्रमाप-पद्धति' कहलाती है। संसार के अनेक राष्ट्र शताब्दियों तक स्वर्ण-प्रमाप को मानते रहे हैं और आज भी कुछ उन्नतिशील राष्ट्रों का विश्वास स्वर्ण-प्रमाप में ही जमा हुआ है। सबसे पहिले इङ्गलैण्ड और अमरीका जैसे धनी देशों ने स्वर्ण-प्रमाप अपनाया था परन्तु शनैः शनैः अन्य देश भी स्वर्ण-प्रमाप को मानने लगे। जैसे-जैसे स्वर्ण-प्रमापी देशों की संख्या बढ़ती गई, स्वर्ण के मूल्य में स्थिरता और स्थायित्व आता गया और स्वर्ण-प्रमापी देशों की आपस की विनिमय-दर भी स्थाई बनती गई। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तथा पूँजी के लेन-देन में इससे विशेष योग मिला।

स्वर्ण-प्रमाप के द्वारा स्वतः ही मुद्रा की घटा-बढ़ी होती रहती है जिसमें स्वर्ण-प्रमापी देशों के मूल्य-स्तर प्रायः साथ-साथ ही घटते-बढ़ते रहते हैं। मुद्रा की आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा घटाई-बढ़ाई जा सकती है। विनिमय-दरों में अधिक उतार-चढ़ाव नहीं होते।

स्वर्ण-प्रमाप के अंतर्गत सोना वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य-मापन का काम करता है। सोने का सिक्का चलाना ही आवश्यक नहीं है। पर जो सिक्का चलन में हो वह सोने मे परिवर्तनीय होना चाहिये। केमरर का मत है कि "स्वर्ण प्रमाप-पद्धति वह प्रमाप पद्धति है जिसमें निश्चित सोने की मात्रा-मूल्यमापन का काम करे और जहाँ सोने का स्वतंत्र लेन-देन हो।"[2]

स्वर्ण-प्रमाप के भेद

स्वर्ण-प्रमाप-पद्धति विभिन्न देशों में निम्न तीन प्रकार से उपयोग में आती है :—

(१) स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप (Gold Currency Standard)

(२) स्वर्ण-धातु प्रमाप (Gold Bullion Standard)

(३) स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप (Gold Exchange Standard)

(१) स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप (Gold Currency Standard)—स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप के अन्तर्गत सोने के सिक्के देश में प्रमुख मुद्रा के रूप मे चलते हैं। ये सिक्के विनिमय-माध्यम का काम करते हैं तथा मूल्य-मापन के काम आते हैं। इनके अतिरिक्त देश में अन्य प्रकार की मुद्राएँ भी चलती हैं जिनका मूल्य सोने के प्रमुख सिक्के के साथ सम्बन्धित होता है और उनको सोने या सोने के सिक्को मे बदलाया जा सकता है। स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं:—

(१) देश मे सोने के सिक्कों का चलन होता है। सोने का सिक्का देश की प्रमुख मुद्रा तथा प्रामाणिक सिक्का माना जाता है।

(२) सोने के सिक्के का देश मे स्वतंत्र टंकण होता है। कोई भी व्यक्ति सोना ले जाकर सरकारी टकसाल से उसके बदले में सिक्के बनवा सकता है।

(३) सोने का सिक्का असीमित-विधि-ग्राह्य होता है तथा उसका बाह्य-मूल्य (Face Value) एवं अंतर्मूल्य (Intrinsic Value) समान होता है।

(४) सोने के आयात एवं निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता।

(५) सोने के सिक्के के अतिरिक्त देश में अन्य प्रकार की सहायक मुद्राएँ भी चलती हैं जिनका मूल्य सोने के सिक्के के साथ सम्बन्धित रहता है तथा जिनको सोने या सोने के सिक्कों में बदलाया जा सकता है।

१९१४ के पूर्व यह पद्धति इंग्लैण्ड, संयुक्तराज्य अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में प्रचलित थी। यदि स्वर्ण की जगह रौप्य (Silver) को इसी प्रकार उपयोग में लिया जावे तो उसे रौप्य-मुद्रा-प्रमाप (Silver Currency Standard) कहेंगे।

स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप के लाभ व दोष

लाभ—(१) सोने में जनता का विश्वास होने के कारण इसमें लोगों का विश्वास शीघ्र ही स्थापित हो जाता है।

(२) स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप की कार्यशैली सरल होने के कारण यह प्रत्येक व्यक्ति की समझ में शीघ्र आ जाती है।

(३) सोने की माग हर जगह होने के कारण इसके अन्तर्गत चलने वाली सोने की प्रमुख मुद्रा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा होती है जिससे स्वर्ण-प्रमाप मानने वाले देशों का पारस्परिक व्यापार सुगम हो जाता है।

(४) सोने के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न होने के कारण सरकार को इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करना पड़ता। इससे इसके अन्तर्गत वस्तुओं के मूल्य स्तर स्वतः ही समायोजित (ajdust) होते रहते हैं और यह पद्धति स्वयंपूर्ण कार्यशील (automatic) बनी रहती है।

दोष—(१) इस पद्धति में सोने के सिक्के चलने के कारण सोने का अधिक व्यय होता है। अतः यह पद्धति अधिक खर्चीली है।

(२) स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप विश्व-शांति काल में ही स्वयंपूर्ण कार्यशील (automatic) रह सकता है। यह पद्धति 'अच्छे समय की साथी'

(Fair weather friend) है। राजनीतिक अराजकता या आर्थिक संकट के समय इसको निभाना कठिन हो जाता है।

स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप का परित्याग

प्रथम महायुद्ध से पहिले मुद्रा-शास्त्रियों का मत था कि स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप एक महत्वपूर्ण पद्धति हैं तथा मुद्रा के मूल्य एवं वस्तुओं के मूल्य-स्तर मे स्थिरता और स्थायित्व लाने के लिये सोने के सिक्कों का चलाना अनिवार्य है। परन्तु युद्धकाल में सोने का आभाव होने के कारण, उनके मुद्रा पद्धति का लक्ष्य नही होना चाहिये वरन् लक्ष्य प्राप्त करने का एक साधन-मात्र होना चाहिये। प्रथम युद्ध के पश्चात् स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप बिलकुल समाप्त हो गया और उसके स्थान पर "स्वर्ण-धातु-प्रमाप" पद्धति आ गई।

स्वर्ण-धातु-प्रमाप (Gold Bullion Standard)

पहिले महायुद्ध काल में स्वर्ण मुद्रा-प्रमाप पद्धति में अनेकों कठिनाइयाँ आईं क्योंकि युद्ध के कारण सोने का स्वतंत्र बाजार, आयात-निर्यात बहुत से देशों की सरकारों द्वारा बन्द कर दिया गया। इसी कारण स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप पद्धति का स्थान स्वर्ण-धातु-प्रमाप पद्धति ने ले लिया। इस पद्धति के मुख्य लक्षण निम्न हैं :—

(१) सोना 'मूल्य-मापक' होता है पर विनिमय-माध्यम नहीं होता। सोने के सिक्के न तो देश में बनाये जाते हैं और न चलाये जाते हैं।

(२) विनिमय माध्यम के लिये देश में पत्र-मुद्रा व चाँदी के सिक्के का चलन रहता है। इसके बदले मे निश्चित दर पर सोना मिल सकता है परन्तु एक निश्चित मात्रा से कम सोना नही खरीदा जा सकता चाहे सोना किसी भी काम के लिये भी लिया जाय।

(३) सोने के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

(४) सरकार या केन्द्रिय बैंक को सोना बेचने के लिये अपने पास कोष रखना पड़ता है।

स्वर्ण-धातु-प्रमाप-पद्धति को सन् १९२५ ई० में इंग्लैंड तथा अन्य देशों ने अपनाया। हिल्टन यंग कमीशन द्वारा सन् १९२७ ई० में यह पद्धति भारत के लिये प्रस्तुत की गई थी। इस पद्धति के अपना लिये जाने पर एक व्यक्ति ४०० औंस से कम सोना प्रतीक मुद्रा के बदले में नहीं खरीद सकता था। सन् १९३१ ई० में इस पद्धति का हमेशा के लिये परित्याग कर दिया गया। यदि चाँदी का स्वर्ण के स्थान पर इसी प्रकार उपयोग किया जावे तो उसे रौप्य-धातु-प्रमाप (Silver Bullion Standard) कहेंगे।

स्वर्ण-धातु-प्रमाप के लाभ और दोष

लाभ—(१) इस पद्धति में सोने के सिक्के नहीं चलाये जाते। इस कारण सिक्कों के घिस जाने तथा उनके ढलवाने के व्यय की बचत हो जाती है। पहिली पद्धति की अपेक्षा इसमें मितव्ययिता (Economy) है।

(२) इसके अन्तर्गत देश में चलने वाली प्रत्येक मुद्रा का परिवर्तन सोने में किया जा सकता है। इस कारण सरकार की साख जमी रहती है तथा जनता का विश्वास प्राप्त हो जाता है।

(३) सोने के सिक्कों का चलन न होने के कारण, सोने की बचत होती है तथा अन्य देश भी इस पद्धति को अपना सकते हैं।

(४) सोने की निश्चित मात्रा से कम सोना नहीं खरीदा जा सकता। इस कारण सामान्य व्यक्ति सोना नहीं खरीद पाता। सरकार कोष में कम सोना रखकर अन्य कार्यों में लगा सकती है।

(५) यह पद्धति स्वयंपूर्ण कार्यशील (automatic) होती है जिस में सोने के क्रय-विक्रय के अनुसार मुद्रा का प्रसार और संकोच होता रहता है। इस प्रकार इसमें लोच बनी रहती है।

दोष—इस पद्धति को चलाने का प्रबन्ध सरकार या देश की केन्द्रीय बैंक को करना पड़ता है। अतः इसमें सरकार हस्तक्षेप करती रहती है जो कभी-कभी अधिक सीमा तक बढ़ जाता है। यही इसका दोष है।

स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप (Gold Exchange Standard)

इस प्रणाली में निम्नलिखित लक्षण होते हैं :—

(१) देश में सोने के सिक्के नहीं चलाये जाते। सोना विनिमय माध्यम का काम नहीं करता केवल मूल्य-मापन का कार्य करता है।

(२) देश में आंतरिक प्रयोग के लिये पत्र-मुद्रा, चाँदी के सिक्के तथा अन्य प्रकार के सस्ते सिक्के चलन में रहते हैं। इनका मूल्य सोने के साथ सम्बन्धित कर दिया जाता है। विदेशी भुगतान के लिये सरकार निश्चित मूल्य पर इनके बदले मे सोना देने को वाध्य होती है तथा सोने पर आधारित मुद्रा भी सरकार दे सकती है।

(३) सरकार को दो कोष बनाकर रखने पड़ते हैं। एक कोष देश मे रखना पड़ता है जिसमे देशी मुद्राएँ होती हैं। दूसरा कोष विदेश में रखना पड़ता है जिसमें सोना या सोने पर आधारित विदेशी मुद्रा होती है। इन्हीं कोषों के द्वारा सरकार मुद्रा की विदेशी विनिमय-दर स्थायी बनाती है।

(४) सोने का आयात-निर्यात नहीं होता वरन् सरकार की सहायता से विदेशी भुगतान चुकाने का प्रबन्ध होता है।

इस पद्धति को सबसे पहले जावा ने अपनाया। बाद मे इसका प्रसार भारत, फिलीपाइन्स, मेक्सिको, पनामा आदि देशों में हुआ। सोने के स्थान पर यदि चाँदी को उपयोग मे लिया जावे तो उसे रौप्य-विनिमय-प्रमाप (Silver Exchange Standard) कहेंगे।

स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप के लाभ और दोष

लाभ—(१) इस पद्धति के अनुसार न तो सोने के सिक्के चलाए जाते हैं और न देश के आंतरिक कार्यों के लिये ही सोना दिया जाता है। इस कारण इसमे सोना खर्च नहीं होता। हाँ, विदेशी भुगतान के लिये सरकार को सोने का कोष बनाना पड़ता है जिसमें अपेक्षाकृत कम सोने की आवश्यकता होती है।

(२) इस पद्धति के द्वारा देशी और विदेशी मुद्राओं की पारस्परिक विनिमय दर सरलता से स्थिर तथा स्थायी बनाई जा सकती है।

(३) इसमें अधिक सोने की आवश्यकता नहीं होती इस कारण निर्धन एवं अविकसित देश भी इसे अपना सकते हैं तथा अधिकांश देशों में इस पद्धति का उपयोग कर सकते हैं।

(४) यह पद्धति अधिक लोचदार होती है क्योंकि इसमें मुद्रा का प्रसार एवं संकुचन सोने की मात्रा पर निर्भर नहीं करता। आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा घटाई-बढ़ाई जा सकती है।

इस प्रकार इस पद्धति में स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप के प्रायः सभी लाभ प्राप्त होकर हानियों से मुक्ति मिल जाती है।

दोष—(१) इसके अंतर्गत सोने के सिक्के नहीं चलते और न देशी कार्यों के लिये ही सोना दिया जाता है। इस कारण सामान्य जनता का उसमें विश्वास कम रहता है।

(२) सरकार को दो कोष बनाने पड़ते हैं जिसके संचालन और प्रबन्ध में कभी-कभी बड़ी उलझनें आ सकती हैं। भुगतान की सुविधा के लिये विदेशी बैंकों में स्वर्ण-निधि रखी जाती है। इन बैंकों के असफल (Failure) हो जाने पर देश की निधि को हानि पहुँचती है।

(३) इस पद्धति के अनुसार सोने का आदान-प्रदान और आना-जाना नहीं होता, इसलिये सभी देशों के मूल्य स्तरों में समानता पैदा नहीं की जा सकती। इसीलिये विदेशी विनिमय-दरों में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं।

(४) इस पद्धति का प्रबन्ध सरकार के हाथ में रहता है। सरकार चाहे जैसा बदल-फेर कर सकती है। इसकी सफलता सरकार पर निर्भर रहती है।

(५) इस पद्धति में लोच (Elasticity) की कार्यशीलता आत्म-निर्भर नहीं होती। मुद्रा का प्रसार एवं संकोच तथा विदेशी-विनिमय का नियंत्रण सरकार के अधिकार में रहता है।

साराँश

(१) जिस देश की मुद्रा-प्रमाप-पद्धति उपयुक्त होती है उसके उद्योग एवं व्यवसाय उन्नत हो जाते हैं।

(२) मुद्रा-प्रमाप-पद्धति में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है—(१) मूल्य में स्थिरता (Stability in Value), (२) सरलता (Simplicity), (३) लोच (Elasticity), (४) स्वयंपूर्ण कार्यशीलता (Automatic in Operation), एवं (५) मितव्ययता (Economy).

(३) मुद्रा-प्रमाप पद्धति में तीन बातें आवश्यक हैं—(१) प्रमुख मुद्रा हो, (२) प्रमुख-मुद्रा वस्तुओं एवं सेवाओं का मूल्य-मापन करती हो। (३) प्रमुख मुद्रा से सहायक मुद्रा संबन्धित हो।

(४) एक-धातुवाद (Mono-metallism)—स्वर्ण अथवा रौप्य प्रमाप।

स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप	स्वर्ण-धातु-प्रमाप	स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप
१. स्वर्ण-मुद्रा का स्वतन्त्र टंकण।	१. मूल्य-मापक।	१. आंतरिक प्रयोग के लिये सांकेतिक मुद्रायें।
२. सांकेतिक मुद्रा का स्वर्ण मुद्रा में परिवर्तन।	२. विनिमय माध्यम नहीं होता; अतः मुद्राओं का टंकण भी नहीं।	२. सांकेतिक मुद्राओं के बदले स्वर्ण का केवल विदेशी भुगतान के लिये देना; अथवा स्वर्ण न देकर विदेशी विनिमय देना।
३. स्वर्ण मुद्रा मूल्य-मापक तथा विनिमय माध्यम।	३. सांकेतिक मुद्रा का निश्चित दर, एवं मात्रा में, स्वर्ण में परिवर्तन।	

प्रश्न

१—"मौद्रिक-प्रमाप" किसे कहते हैं ? आदर्श मौद्रिक-प्रमाप पद्धति में कौन-कौन से गुण होने आवश्यक हैं ? सविस्तार वर्णन कीजिये।

२—एक-धातुवाद किसे कहते हैं ? एक-धातुवाद के भेद लक्षण सहित समझाइये।

३—स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप, स्वर्ण-धातु प्रमाप, स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप का लक्षण सहित भेद दर्शाइये ?

अध्याय ७

द्विधातुवाद तथा ग्रेशम का मुद्रा-चलन-सिद्धान्त

(Bi-metallism & Gresham's Law)

द्विधातुवाद उस मुद्रा-पद्धति को कहते हैं जिसके अन्तर्गत दो धातुओं (प्रायः सोने और चाँदी) के सिक्के अलग-अलग प्रमुख-मुद्रा के रूप में चलें तथा दोनों का एक-दूसरे के साथ वैधानिक अनुपात में सम्बन्ध हो। दोनों ही प्रकार के सिक्के मूल्य-मापन तथा विनिमय-माध्यम का काम करते हैं। द्विधातुवाद के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं :—

(१) दो धातुओं (प्रायः सोना और चाँदी) के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा (Standard Coins) होते हैं।

(२) दो धातुओं की मुद्राओं का आपस में निश्चित वैधानिक सम्बन्ध रहता है जिससे वे एक दूसरे के साथ बदले जा सकते हैं।

(३) दोनों धातुओं के सिक्कों का स्वतंत्र टंकण होता है। कोई भी व्यक्ति सोना या चाँदी टकसाल में ले जाकर उसको सिक्कों में बदलवा सकता है।

(४) दोनों धातुओं के सिक्के असीमित मात्रा में विधिग्राह्य (Unlimited legal tenders) होते हैं।

(५) दोनों धातुओं के सिक्कों का वाह्यमूल्य (Face Value) उनके वास्तविक मूल्य (Intrinsic Value) के बराबर होता है।

(६) दोनों ही सिक्के विनिमय-माध्यम (Medium of Exchange) तथा मूल्य-मापन (Measure of Value) का काम करते हैं।

द्विधातुवाद का समसिद्धान्त (The Compensatory Principle of Bimetallism)—द्विधातुवाद का आधार-भूत सिद्धान्त यह है कि देश के अन्तर्गत चलने वाले दो धातुओं के सिक्के एक दूसरे पर अपना-अपना समतोलन प्रभाव (compensatory influence) डालते रहते हैं जिससे मुद्रा का मूल्य सामान्यतः स्थायी बना रहता है और मूल्य-स्तर को भी स्थिर एवं स्थायी बनाने में सहायता मिलती है। इस पद्धति के प्रचलन काल में यदि कभी सोने का मूल्य चाँदी के मूल्य की अपेक्षा बढ़ जाय तथा दोनों धातुओं के वैधानिक एवं विपणि अनुपात में इस कारण अन्तर आ जावे तो लोग चाँदी के सिक्के बनवाने लगेंगे और सोने को धातु के रूप में बेचकर लाभ कमाने लगेंगे। ऐसी परिस्थिति में चाँदी की माँग के साथ-साथ उसका मूल्य भी,बढ़ने लगेगा। अन्त में दोनों धातुओं की मात्रा सतुलन में आकर दोनों एक दूसरे के मूल्य को संतुलित करते रहेंगे। यही क्रिया एवं फल चाँदी के मूल्य बढ़ने पर होगी। इस प्रकार दोनों धातुओं के पारस्परिक वैधानिक मूल्य तथा विपणि-मूल्य में समानता बनी रहती है। प्रो० जेवन्स ने द्विधातुवाद के इस सिद्धान्त को 'Equilibratory Action' कह कर पुकारा है।

द्विधातुवाद पद्धति के लाभ और दोष

लाभ—द्विधातुवाद के समर्थकों के अनुसार इस पद्धति से निम्नलिखित लाभ हैं—

(१) क्रयशक्ति की स्थिरता तथा स्थायित्व—द्विधातुवाद पद्धति के अन्तर्गत मूल्य-स्तर में सामान्य स्थिरता एवं स्थायित्व बना रहता है। एक धातु के उत्पादन की घटती-बढ़ती दूसरी राशि के उत्पादन से संतुलित होती रहती है। फलतः दोनों धातुओं के सिक्कों की क्रयशक्ति में स्थिरता बनी रहती है। दूसरे, इस पद्धति के अन्तर्गत दो धातु के सिक्कों का प्रचलन होने के कारण यदि मुद्रा की मात्रा अधिक भी हो जावे, तो मुद्रा के मूल्य पर

विशेष प्रभाव नहीं पड़ता वरन् मुद्रा का मूल्य साधारणतः स्थायी ही बना रहता है।

(२) उत्पादन को प्रोत्साहन—इस पद्धति के अन्तर्गत दो धातुओं की मुद्राएँ चलने के कारण मुद्रा की मात्रा अधिक होती है। एक धातुवाद की अपेक्षाकृत मुद्रा की मात्रा द्विधातुवाद मे शीघ्रतर बढ़ जाती है। इस कारण मुद्रा का मूल्य शनैः शनैः गिरने लगता है तथा वस्तुओं के भाव बढ़ने लगते हैं जिससे उत्पादकों को लाभ होता है तथा उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। मुद्रा का मूल्य गिरने से देनदार को भी लाभ पहुँचता है क्योंकि इस प्रकार उस पर ऋण का भार कम हो जाता है।

(३) विदेशी व्यापार की प्रगति—द्विधातुवाद के समर्थकों का कहना है कि इस पद्धति के अपनाने से विदेशी व्यापार को प्रगति मिलती है। दोनों ही मुद्राएँ प्रमाणित होने के कारण स्वर्ण-प्रमाप रखने वाले तथा रजत-प्रमाप रखने वाले राष्ट्रों से व्यापारिक सबन्ध स्थापित हो सकते हैं तथा विनिमय दर भी स्थाई रखी जा सकती है।

(४) निधि व्यवस्था सचालन मे मितव्ययता—इस पद्धति मे दोनो धातु की प्रमाणित मुद्राएँ होती हैं। अधिकोषों को अपने-अपने निधि की व्यवस्था तथा सञ्चालन करने मे मितव्ययिता होती है तथा मुद्रा की अधिक मात्रा चलन में होने के कारण अधिकोषों के व्याज की दर भी कम होती है।

दोष—द्विधातुवाद पद्धति के विरोधियों ने इस पद्धति के निम्नलिखित दोष बतलाये हैं—

(१) द्विधातुवाद पद्धति को मानने वाले देशों मे ग्रेशम का सिद्धान्त लागू होने लगता है जिसके कारण अभिमूल्यित (Undervalued) मुद्रा अर्थात् खराब मुद्रा तो चलन में रह जाती है और अधिमूल्यित मुद्रा अर्थात् अच्छी मुद्रा चलन से बाहर होने लगती है क्योंकि दोनों धातुओं के टंक-अनुपात तथा विपणि-अनुपात में समानता नहीं रहती।

(८) जब दोनों धातुओं के टकसाली-अनुपात तथा बाजार अनुपात में अन्तर होता है तो लेनदार अपने ऋण का भुगतान अच्छी मुद्रा अर्थात् अधिमूल्यित मुद्रा में लेना पसन्द करते हैं और दूसरी ओर देनदार खराब मुद्रा अर्थात् अवमूल्यित मुद्रा में भुगतान करना चाहते हैं जिससे लेन-देन में कठिनाइयाँ होती हैं।

वैसे तो सोना-चाँदी अनेक वर्षों तक मुद्रा का काम करते रहे हैं, परन्तु द्विधातुवाद का प्रचार केवल १९ वीं शताब्दी से ही प्रारम्भ होता है। इससे पहिले सोना और चाँदी द्विधातुवाद के नियमों के अनुसार नहीं चलते थे। कुछ देशों ने इस पद्धति का उपयोग किया पर जब अनेक बाधाएँ आईं तो इस पद्धति का उन्हें परित्याग करना पड़ा। फ्रांस ने इस पद्धति का चलन सन् १८०३ ई० से सन् १८७० ई० तक रखा। सन् १८६५ ई० में यह पद्धति फ्रांस, बेलजियम, स्विट्जरलैण्ड और इटली में प्रचलित थी। सबसे पहिले संयुक्त राज्य अमेरिका ने इस पद्धति को सन् १७९२ ई० में मिन्ट एक्ट पास करके अपनाया। सन् १९०० ई० में द्विधातुवाद पद्धति का पूर्णतः अन्त हो गया।

द्विधातुवाद के विभिन्न रूप

द्विधातुवाद पद्धति में थोड़ा-बहुत फेर-बदल के साथ इस पद्धति के कई रूप हो सकते हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) पंगु-प्रमाप (Limping Standard)—इस पद्धति के अनुसार दो धातुओं के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा के रूप में चलते हैं। दोनों सिक्के असीमित विधि ग्राह्य होते हैं। उनका आपस में एक दूसरे से निश्चित वैधानिक अनुपात में सम्बन्ध होता है। परन्तु स्वतन्त्र टङ्कण (Free Coinage) केवल एक धातु का होता है। दूसरी धातु के सिक्के ढालने का एकाधिकार सरकार का ही होता है।

यह पद्धति शुद्ध द्विधातुवाद का विकृत एवं अपूर्ण रूप है इसलिये इसे पंगु द्विधातुवाद (Limping Bi-metallism) भी कहते हैं। यह पद्धति प्रथम महायुद्ध से पहले फ्रांस और अमेरिका में प्रचलित थी।

(२) समानान्तर-प्रमाप (Parallel Standard)—समानान्तर-प्रमाप भी द्विधातुवाद का एक विशिष्ट रूप है। इसके अन्तर्गत सोने और चाँदी के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा के रूप में चलते हैं तथा दोनो प्रकार के सिक्कों का स्वतंत्र-टंकण होता है परन्तु शुद्ध द्विधातुवाद की भाँति इन दोनों में वैधानिक अनुपात (Legal Ratio) निर्धारित नहीं किया जाता वरन् बाजार-मूल्य ही स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रकार दोनों धातुओं के सिक्को का पारस्परिक मूल्य समय-समय पर बदलता रहता है। इसमें ग्रेशम का नियम लागू नहीं होता।

यह पद्धति १६६३ में इग्लैंड में अपनाई गई थी। इसका सब से बड़ा दोष यह है कि देश में चलने वाले दोनो सिक्कों का आपस में मूल्य बदलता रहता है जिससे व्यापारियो को लेन-देन का हिसाब चुकाने में बड़ी गड़-बड़ और कठिनाई होती है।

नव-द्विधातुवाद (Neo-Bi-metallism)—यह एक नये प्रकार का द्विधातुवाद है। इसके अन्तर्गत सोने और चाँदी पर आधारित पत्र-मुद्रा प्रचलित कर दी जाती है तथा चाहने पर पत्र-मुद्रा सोना या चाँदी में बदल दी जाती है। सोना और चाँदी का कोई वैधानिक अनुपात निर्धारित नहीं किया जाता वरन् यह अनुपात परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर बदलता रहता है। इस कारण इसका संचालन बहुत कठिन हो जाता है।

ग्रेशम का मुद्रा-चलन सिद्धान्त—(Gresham's Law of Circulation of Money)—सर टॉमस ग्रेशम लन्दन का एक प्रसिद्ध व्यापारी था तथा इंग्लैंड की महारानी एलिजावेथ (१५५८-१६०३) का आर्थिक सलाहकार भी। रॉयल एक्सचेंज की नींव इसी ने डाली थी। महारानी ऐलिजावेथ के राज्य काल में सिक्के चलते-चलते काफी घिस चुके थे। सिक्के गला लिये एवं काट लिये जाने के कारण वजन में भी कम हो गये थे। सिक्कों की इस दशा को सुधारने के हेतु नये तथा पूरी तौल के सिक्के निकाले गये। पर जैसे ही वे चलन में आते, चलन में नहीं रह पाते थे। सर टॉमस ग्रेशम ने इस स्थिति का अध्ययन किया तथा महारानी के परा-

चर्चा करने पर उन्होंने बतलाया कि घटिया मुद्रा बढ़िया मुद्रा को चलन से सदैव बाहर कर देती है। इसलिये चलन में सुधार करने के हेतु यह आवश्यक है कि सब घटिया सिक्के वापिस ले लिये जावें। घटिया मुद्रा से उनका तात्पर्य घिसे और कटे सिक्कों से था तथा बढ़िया मुद्रा का मतलब था पूरे वजन के सिक्के। खराब मुद्रा की अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकालने की प्रवृत्ति को ही ग्रेशम का नियम कहते हैं। इसी नियम को प्रो० मार्शल ने दूसरे शब्दों में व्यक्त किया है। उसके अनुसार "खराब मुद्रा यदि संख्या में सीमित नहीं है तो अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देगी।" जीड के शब्दों में, "यदि किसी देश में दो वैधानिक मुद्राएँ चल रही हों तो बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को हमेशा चलन से बाहर निकाल देती है।"

नियम की कार्यप्रणाली (Operation of Law)—अच्छी मुद्राएँ चलन से बाहर तीन प्रकार से निकलती हैं—प्रथम, मनुष्य-मात्र का यह स्वभाव होता है कि वह अच्छी मुद्रा अपने पास रखने का प्रयत्न करता है और खराब मुद्रा द्वारा भुगतान करना चाहता है। यह बात दूसरी है कि उसके पास खराब मुद्रा सीमित मात्रा में होने के कारण उसे अच्छी मुद्रा भुगतान में देनी ही पड़े। पर जहाँ तक सम्भव होता है वह अच्छी मुद्रा को अपने पास एकत्रित (hoarding) करके रखना चाहता है। द्वितीय, अच्छी मुद्रा वह होती है जिसका मूल्य धातु के रूप में उसके सिक्के के मूल्य से अधिक प्राप्त हो। ऐसी दशा में लोग अच्छे सिक्कों को गलाकर धातु के रूप में परिणित कर लेते हैं तथा उसे बेचकर लाभ उठाते हैं। तृतीय, अच्छी मुद्रा को विदेशी भुगतानों के लिये निर्यात कर देते हैं (exporting for payments to foreigners) क्योंकि अच्छी मुद्रा में खराब मुद्रा की अपेक्षा अधिक मूल्य की धातु होती है। इस प्रकार अच्छी मुद्रा चलन में नहीं रह पाती।

नियम लागू होने की अवस्थाएँ (Conditions of its Operation)—ग्रेशम का नियम निम्नलिखित अवस्थाओं में लागू होता है।—

(१) एक-धातुवाद के अंतर्गत (Under Mono-metallism)—जब एक धातुवाद पद्धति में पुराने, घिसे एवं कम वजन वाले सिक्के नये तथा पूरी तौल वाले सिक्कों के साथ एक ही नियत समय पर चलते हैं तो पुराने घटिया सिक्के, नये बढ़िया सिक्को को प्रचलन से बाहर कर देते हैं। कुछ सिक्के तो दबा कर रख लिये जाते हैं, कुछ गला दिये जाते हैं तथा कुछ का विदेशियों को भुगतान करने के हेतु निर्यात कर दिया जाता है। उदाहरण के लिये, भारत में जब विक्टोरिया और जार्ज षष्ठम् वाले रुपये प्रचलन में थे, विक्टोरिया वाले रुपये मे चादी का भाग जार्ज षष्ठम् वाले रुपये से अधिक होने के कारण उसे लोगो ने एकत्र (hoard) करना प्रारम्भ कर दिया और वह चलन से बाहर निकाल दिया गया। द्वितीय उदाहरण ऐलिज़ाबेथ के राज्यकाल में मिलता है।

(२) द्विधातुवाद के अंतर्गत (Under Bi-metallism)—द्विधातुवाद पद्धति के अंतर्गत जब दो धातुओं की प्रमाणित मुद्राएँ वैधानिक एवं निश्चित टङ्क-अनुपात से प्रचलन में होती हैं, तो ऐसी स्थिति में यदि मुद्राओं के विपणि-अनुपात (Market Ratio) और टङ्क-अनुपात (Mint Ratio) में अंतर होता है तो टङ्क-अनुपात में अधि-मूल्यित मुद्राएँ चलन में रहती हैं और दूसरी टङ्क-अनुपात पर अवमूल्यित मुद्रा चलन से बाहर निकल जाती है। दूसरे शब्दों में, जिस मुद्रा का धातु-मूल्य उसके बाह्य-मूल्य (Face Value) से अधिक होता है उसका संग्रह करना, गलाना या निर्यात करना लाभप्रद होता है। इस कारण वह चलन में नही रह पाती।

(३) कागजी मुद्रा के अंतर्गत (Under Paper Currency Standard)—यदि किसी देश में पत्र-मुद्रा व धातु-मुद्रा प्रामाणिक सिक्कों के रूप में चलन में होती है, पत्र-मुद्रा घटिया होने के कारण धातु-मुद्रा (बढिया मुद्रा) को चलन से बाहर कर देती है। इसी प्रकार यदि धातु-मुद्रा के साथ-साथ अपरिवर्तन-शील पत्र-मुद्रा (Inconvertible Paper Money) का चलन हो तथा पत्र-मुद्रा का आवश्यकता से अधिक प्रसार हो जाने के कारण उसके मूल्य में ह्रास हो चुका हो तो पत्र-मुद्रा घटिया

मुद्रा [illegible] चलन में रह जावेगी तथा धातु-मुद्रा बढ़िया मुद्रा होने के कारण चलन से बाहर निकल जावेगी। पिछले महायुद्ध में अपरिवर्तनशील मुद्रा बहुत निकाली गई। जर्मनी में तो मुद्रा का मूल्य इतना गिरा कि मुद्रा का मूल्य उस कागज से भी कम हो गया जिस पर वह मुद्रा छापी गई थी।

इस प्रकार ग्रेशम का नियम उल्लिखित तीनों परिस्थितियों में अपना प्रभाव दिखला सकता है।

सिद्धान्त की मर्यादा (Limitation of Law)

ग्रेशम के नियम की निम्नलिखित मर्यादाएँ हैं जहाँ वह प्रभावहीन हो जाता है :—

(१) यदि मुद्रा की मात्रा किसी देश की मुद्रा की मांग से अधिक न हो तो यह नियम लागू न होगा। उस हालत में अच्छी मुद्रा का चलन से बाहर जाने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की मुद्राएँ विनिमय के लिये आवश्यक होने के कारण चलन में ही रहेंगी।

(२) यदि जनता खराब मुद्रा वस्तुओं और सेवाओं के बदले में लेने से इन्कार कर दे तो यह नियम लागू न होगा। जब खराब मुद्रा को कोई स्वीकार ही न करेगा तो अच्छी मुद्रा ही प्रचलन में रहेगी।

(३) यदि खराब मुद्रा का इस प्रकार अवमूल्यन किया गया कि लोग उसे समझ ही न पावें तो यह नियम उस समय तक लागू न होगा जब तक अवमूल्यन जनता की समझ में न आ जावे।

सारांश

(१) द्विधातुवाद के भेद तथा गुण

शुद्ध द्विधातुवाद [Pure Bi-metallism]	पंगु द्विधातुवाद [Limping Bi-metallism]	समानान्तर द्विधातुवाद [Parallel Bi-metallism]	नव द्विधातुवाद [Neo-Bi-metallism]
(१) दो धातुओं (प्रायः सोने और चांदी) के सिक्के अलग-अलग प्रामाणिक या प्रमुख मुद्रा के रूप में चलते हैं।	(१) दोनो धातुओं के सिक्के अलग-अलग प्रामाणिक मुद्रा के रूप में चलते हैं।	(१) दो धातु के सिक्के अलग-अलग प्रामाणिक मुद्रा के रूप में चल सकते हैं।	(१) सोने और चांदी के बीच अनुपात निर्धारित नहीं किया जाता वरन् परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है।
(२) दोनो का स्वतंत्र-टंकण होता है।	(२) दोनो को असीमित सख्या में लिया-दिया जा सकता है।	(२) दोनो को असीमित संख्या में लिया-दिया जा सकता है।	(२) सोने और चांदी पर आधारित कागज के नोट चलते हैं।
(३) दोनों प्रकार के सिक्के असीमित संख्या में लिये-दिये जाते हैं।	(३) दोनों का आपस का मूल्य कानून द्वारा निर्धारित किया जाता है।	(३) दोनों का स्वतंत्र-टंकण होता है।	(३) ये नोट सोने या चाँदी में परिवर्तनीय होते हैं।
(४) दोनो धातुओं के सिक्को का आपस का मूल्य कानून के द्वारा निर्धारित किया जाता है।	(४) परन्तु केवल एक धातु का स्वतन्त्र-टंकण होता है।	(४) परन्तु दोनो का पारस्परिक अनुपात कानून के द्वारा निर्धारित नहीं किया जाता। वरन् बाजारू मूल्य ही स्वीकार किया जाता है।	
(५) दोनों ही सिक्के विनिमय-माध्यम और मूल्य-मापन का काम करते हैं।			

७—धातु-प्रमाप किसे कहते हैं। इसके कितने भेद हैं? उनका पूरा विवरण दीजिए। (यू० पी० बोर्ड, १९५०)

८—"बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से वहिष्कार कर देती है।" इस कथन को भली प्रकार समझाइए और बताइए कि क्या यह सदा के लिए सत्य है? (यू० पी० बोर्ड, १९४९; राजपूताना, १९५२)

९—ग्रेशम के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। उसकी मर्यादाएँ भी लिखो। (राजपूताना, १९५३; १९४९, १९४८; यू० पी० बोर्ड, १९४८;)

१०—एकधातुवाद के दोषों की चर्चा कीजिए और बतलाइए कि द्विधातुवाद अपनाने से क्या वे दोष दूर किए जा सकते हैं? (यू० पी० बोर्ड, १९४७; राजपूताना, १९४९)

११—स्वर्ण-धातु-प्रमाप को "प्रबन्धित मुद्रा पद्धति क्यो कहा जाता है? समझाकर लिखिए। (यू० पी० बोर्ड १९४५; राजपूताना, १९५०)

१२—'द्विधातुवाद पद्धति' की व्याख्या कीजिए। उसके गुण भी लिखिए। (यू० पी० बोर्ड, १९४४; राजपूताना, १९५१, १९५०; अजमेर बोर्ड, १९४४)

१३—स्वर्ण-प्रमाप की प्रमुखताएँ लिखिए। किन परिस्थितियों में इसे कार्यान्वित नही किया जा सकता? (अजमेर बोर्ड, १९५१)

अध्याय ८

पत्र-मुद्रा

(Paper Money)

विनिमय-माध्यम के रूप में पत्र मुद्रा प्रचलन कोई नई बात नहीं है। बहुत प्राचीन काल से इसका चलन होता रहा है। चीन में तो पत्र-मुद्रा नवीं शताब्दी में भी चलती थी। इसके पश्चात् जापान और फारस में भी इनका प्रयोग होने लगा था। धीरे-धीरे एशिया के अधिकाश देशों में इनका प्रचार बढ़ गया। यूरोप के देश भी इससे वंचित न रह सके और वहाँ भी पत्र-मुद्रा चलन में आ गई थी। पर उस समय पत्र-मुद्रा का स्वरूप आज जैसा नहीं था। भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न प्रकार की पत्र-मुद्रा चलन में थी। प्रथम महायुद्ध काल में तो इसका प्रचार बहुत ही बढ़ गया था। इंग्लैंड, जर्मनी, फ्रांस तथा अन्य देशों में स्वर्ण-प्रमाप (Gold Standard) टूट गया था और पत्र-मुद्रा भारी मात्रा में छाप कर चला दी गई थी। भारत ने भी उस समय स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप (Gold Exchange Standard) को छोड़कर अपरिवर्तनीय नोट छापकर चलाये थे। यद्यपि युद्ध समाप्त होने के बाद कुछ देशों ने स्वर्ण-प्रमाप (Gold Standard) फिर अपना लिया पर पहिले की तरह सोने के सिक्के नहीं चलाये गये। पत्र-मुद्रा से ही काम चलता रहा। १९३१ के पश्चात् स्वर्ण-प्रमाप फिर टूट गया और अब संसार के आधे से अधिक देशों ने पत्र-मुद्रा को ही प्रमुख मुद्रा मान लिया। द्वितीय महायुद्ध काल में तो संसार भर में पत्र-मुद्रा को काम में लाया गया। पत्र-मुद्रा का संसार के अधिकाश देशों में प्रचलन होना इसकी उपयोगिता एव महत्व का द्योतक है।

पत्र-मुद्रा के भेद

(१) प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा (Representative Paper Money)—इस पत्र-मुद्रा पद्धति के अन्तर्गत जितने मूल्य का सोना-चाँदी कोष में रखा जाता है, ठीक उतने ही मूल्य की पत्र-मुद्रा छाप कर चला दी जाती है। पत्र-मुद्रा चलाने का कार्य चाहे सरकार करती हो या केन्द्रीय अधिकोष, उन्हें अपने कोष में उतने मूल्य का सोना या चाँदी रखना ही पड़ेगा जितने मूल्य की पत्र-मुद्रा चलन में होगी। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार की पत्र-मुद्रा, कोष में रक्खे हुए, सोने-चाँदी के मूल्य का प्रतिनिधित्व करती है। अमेरिका के स्वर्ण एवं रौप्य प्रमाण-पत्र (American Gold and Silver Certificates) प्रतिनिधि मुद्रा के अच्छे उदाहरण हैं जिनके बदले में उतने ही मूल्य का सोना-चाँदी कोष में रखा जाता था। इस प्रकार की मुद्रा से कोई विशेष लाभ नहीं होता क्योंकि मूल्यवान धातुओं में बचत नहीं हो पाती। पर पत्र-मुद्रा के इस स्वरूप को सबसे अधिक सुरक्षित, सुविधा-जनक तथा 'अधिक-मुद्रा-प्रसार' (Inflation) को रोकने वाला कहा जा सकता है।

(२) परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Convertible Paper Money)—इस प्रकार की पत्र-मुद्रा को देश की प्रधान मुद्रा मे बदला जा सकता है। उस मुद्रा पर उसको चलाने वाली संस्था की, चाहे वह सरकार हो अथवा केन्द्रीय अधिकोष, यह प्रतिज्ञा छपी रहती है कि उस पत्र मुद्रा के बदले में उसके धारक (bearer) को किसी भी समय माँग पर प्रधान मुद्रा दे दी जावेगी। इसके लिये सरकार अथवा केन्द्रीय अधिकोष को अपने कोष में धातु या धातु के सिक्के जमा रखने पड़ते हैं। पर अनुभव से यह ज्ञात हो चुका है कि पत्र-मुद्रा के बदले में प्रधान-मुद्रा की माँग कुल पत्र-मुद्रा की कुछ प्रतिशत ही होती है। इस कारण पत्र-मुद्रा के पूरे मूल्य का सोना या धातु के सिक्के जो प्रधान मुद्रा के रूप में देश में प्रचलित होते हैं नहीं रखना पड़ता। वास्तव में, कोष में निधि (Reserve) तो पत्र-मुद्रा के बाह्य मूल्य के बराबर

दी गई जाती है पर कुछ तो धातु में रखी जाती है तथा शेष किसी प्रकार के निनियोगों (Securites) के रूप में। इस प्रकार जो धातु कोष में रक्खी जाती है उसे धात्विक निधि (Metallic Reserve) कहते हैं तथा पत्र-मुद्रा का वह भाग 'रक्षित' (Covered) भाग कहलाता है; और जो निधि विनियोगों में रखी जाती है वह प्रात्ययिक निधि अथवा अरक्षित भाग (Uncovered Portion or Fiduciary Portion) कहलाता है। भारत मे प्रचलित २, ५, १० और १०० रुपये की पत्र मुद्रा परिवर्तनीय हैं। उन पर "रिजर्व बैंक" की यह प्रतिज्ञा छपी है कि उन पर छपा हुआ मूल्य उसके धारक द्वारा मागे जाने पर रुपये के सिक्को में चुकाया जावेगा। यहाँ पर धात्विक निधि की मात्रा ४०% है तथा शेष ६०% प्रात्ययिक निधि है।

(२) अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Inconvertible Paper Money)—इस प्रकार की धातु-मुद्रा को धातु अथवा धातु के सिक्कों में परिवर्तित नहीं करवाया जा सकता। सरकार अथवा केन्द्रीय अधिकोष जो ऐसी मुद्रा चलाते हैं, उसके बदले में धातु अथवा प्रधान मुद्रा देने के लिये बाध्य नहीं किये जा सकते और न उनको किसी प्रकार की निधि अपने कोष में रखने की आवश्यकता पड़ती है। अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा सरकार के प्रति जनता के विश्वास पर चलती है। जीड के शब्दों में "इस प्रकार की मुद्रा न तो किसी का प्रतिनिधित्व करती है, न किसी (वस्तु) पर अधिकार ही देती है।" वास्तव में, ऐसी मुद्रा जनता से बलपूर्वक ऋण लेने के समान होती है। भारत सरकार ने गत महायुद्ध में एक रुपये की पत्र-मुद्रा चलाई थी जो आज भी चलन में है तथा अपरिवर्तनीय है। इसको भारत सरकार का वित्त-विभाग जारी करता है।

पत्र-मुद्रा से लाभ

(१) पत्र-मुद्रा के चलन से धातु-मुद्रा की आवश्यकता कम हो जाती है जिससे सोने, चादी व अन्य धातुओं की बचत होती है। इन धातुओं को

देश के अन्य उद्योग-धंधों में लगाया जा सकता है। आदम स्मिथ के शब्दों में, कागज के नोट आकाश मार्ग की भांति होते हैं—जिनके नीचे की भूमि को काम में लाया जा सकता है और उस पर अनाज आदि पैदा करके मनुष्य की दूसरी आवश्यकताओं को पूर्ण किया जा सकता है।"

(२) पत्र-मुद्रा सस्ती होती है। धातु-मुद्रा में खदान से धातु निकाल कर तथा उसे शुद्ध कर उसके सिक्के ढाले जाते हैं जिससे बहुत व्यय होता है। पर पत्र-मुद्रा तो कागज पर छापी जाती है। इस कारण धातु मुद्रा की अपेक्षाकृत बहुत कम व्यय पड़ता है।

(३) पत्र-मुद्रा के चलन से धातु के सिक्के बनाने के व्यय तथा उनमें लगी धातु की घिसाई की बचत होती है। धातु के सिक्के चलन में घिसते रहते हैं और उसी अनुपात में धातु भी नष्ट होती रहती है।

(४) पत्र-मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में सुविधा रहती है। धातु-मुद्रा को दूर स्थान पर ले जाने मे व्यय तो पड़ता ही है पर साथ ही जोखिम भी रहता है।

(५) पत्र-मुद्रा में अधिक लोच रहती है तथा मूल्य में स्थिरता रखने में सहायक होती है क्योंकि इसका प्रसार एवं संकुचन देश की औद्योगिक एवं व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार आसानी से किया जा सकता है। पर धातु-मुद्रा का प्रसार धातु की पूर्ति पर निर्भर करता है। धातु की पूर्ति खानों से प्राप्त धातु तथा विदेशो से आयात की गई धातु पर अवलम्बित रहती है। पर पत्र-मुद्रा प्रचलन में इस प्रकार की कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। पत्र-मुद्रा की मांग बढ़ने पर उसे आसानी से कागज छाप कर उसकी पूर्ति की जा सकती है।

(६) पत्र-मुद्रा देश के संकट काल में सरकार की बड़ी सहायता करती है। जब सरकार को जनता से ऋण मिलना कठिन होता है, उस समय सरकार अपरिवर्तित पत्र-मुद्रा छापकर जनता से परोक्ष रूप से ऋण ले लेती है। साथ ही ऋण लेने पर जो जनता को ब्याज देना पड़ता, उसकी बचत होती है।

(७) पत्र-मुद्रा में थोड़े से आकार में अधिक मूल्य केन्द्रित करने की सम्भावना रहती है जिससे आपसी लेन-देन में बड़ी सुविधा रहती है। साथ ही, इसके बनाने में धातु-मुद्रा की अपेक्षा सुगमता एवं मितव्ययिता रहती है।

पत्र-मुद्रा के दोष (Evils of Note Issue)

(१) पत्र-मुद्रा प्रचलन में होने पर उसे सरकार की इच्छानुसार कितनी ही संख्या में छापा जा सकता है। मुद्रा का आवश्यकता से अधिक प्रसार होने पर मुद्रा की क्रयशक्ति घट जाती है और सामान्य जनता का जीवन-व्यय (cost of living) बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ, गत महायुद्ध के प्रारम्भ होने के पहिले कुल पत्र-मुद्रा हमारे देश में १७६ करोड़ रुपये के बराबर थी पर मार्च सन् १९४७ ई० में लगभग १२४२ करोड़ रुपये के बराबर हो गई। फलतः वस्तुओं के भाव बढ़े और उपभोक्ताओं को बड़ा कष्ट भोगना पड़ा। धातु-मुद्रा का इच्छानुसार प्रसार इतनी आसानी से नहीं किया जा सकता क्योंकि धातु की आवश्यकता पड़ती है।

(२) पत्र-मुद्रा को हम राष्ट्रीय-मुद्रा भी कह सकते हैं क्योंकि देश के बाहर उसका कोई मूल्य नहीं रहता। पर धातु-मुद्रा में अपनी धातु का मूल्य रहता है जिसके आधार पर विदेशों में उसकी उसी अनुपात में कीमत भी मिल सकती है। धातु-मुद्रा को हम इसलिये अंतर्राष्ट्रीय-मुद्रा भी कह सकते हैं।

(३) पत्र-मुद्रा सरकार की इच्छानुसार घटाई-बढ़ाई जा सकती है। सरकार कभी भी इनका चलना बन्द कर सकती है और जनता के पास रक्खी हुई पत्र-मुद्रा मूल्य-शून्य हो सकती है। पर धातु-मुद्रा के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। उनके अवैधानिक घोषित किये जाने पर जनता को कोई विशेष हानि नहीं होती। कुछ लोगों का कथन है कि "पत्र-मुद्रा किसी देश की सबसे भयकर 'प्लेग' होती है। जितना कष्ट किसी भयंकर से

भयंकर बीमारी से किसी व्यक्ति को होता है उससे भी अधिक कष्ट पत्र-मुद्रा से समाज को हो सकता है।"

(४) पत्र-मुद्रा थोड़ी सी असावधानी से ही नष्ट हो सकती है। तेल या पानी से भीग जाने पर तथा उस पर लिखे संख्यांक के मिट जाने पर पत्र-मुद्रा मूल्य-शून्य हो जाती है। पर धातु-मुद्रा का मूल्य इतने शीघ्र नष्ट नहीं होने पाता।

उपर्युक्त दोष भयंकर रूप उस समय धारण करते हैं जब सरकार या अन्य अधिकोष, जो पत्र-मुद्रा का संचालन करता है, असावधानी एवं स्वार्थपरता से काम लेते हैं। संक्षेप में, यदि सावधानी और निस्वार्थता से पत्र-मुद्रा का संचालन किया जावे तो वह समाज तथा राष्ट्र के हित में उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा चलन से होनेवाली हानियाँ

जब-जब किसी देश में युद्ध-संकट उपस्थित हुआ और कोई संकट आया, तभी उन देशो की सरकारो ने अपरिवर्तनीय-पत्र-मुद्रा भारी संख्या में चलाई। प्रथम महायुद्ध काल में भारत में एक रुपये और ढाई रुपये की अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा चलाई गई। द्वितीय महायुद्ध काल में एक रुपये की अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा करोड़ों रुपयों की संख्या में प्रचलन की गई। इस प्रकार की पत्र-मुद्रा चलन में सरकार या पत्र-मुद्रा का संचालन करने वाले अधिकोष को अपने कोष में किसी प्रकार की निधि रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस कारण बिना किसी हिचकिचाहट व डर के इस प्रकार की पत्र-मुद्रा का संचालन उनके द्वारा होता रहता है। आवश्यकता से अधिक मुद्रा प्रसार होने पर मुद्रा का मूल्य गिरने लगता है तथा वस्तुओ की कीमतें बढ़ने लगती हैं। व्यापार में चोर-बाजारी, नफाखोरी, आदि को स्थान मिलता है। जनता का जीवन-व्यय बढ़ जाता है। धातु-मुद्रा चलन से बाहर होने लगती है। मुद्राशास्त्री श्री किल्ले के शब्दों में, "अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा एक ऐसी मदिरा है जिसकी दो चार बूंदों से ही जनता और

सरकारी अफसरों के दिमाग मस्त हो जाते हैं। तब उन्हें भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहता और वे अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का संचालन करने व न करने के विषय में कोई गम्भीर निर्णय नहीं कर पाते। परिणाम यह होता है कि समाज और व्यापार में बुराइयाँ बढ़ जाती हैं और वे इतनी भयंकर हो जाती हैं कि उनको दूर करना असम्भव सा हो जाता।" भारत ने उक्त कथन की सत्यता को व्यावहारिक रूप में अनुभव किया। अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा प्रसार से उत्पन्न दोष युद्धकाल में तो विद्यमान रहे ही पर आज तक समाज व देश को युद्धकाल जनित चोर-बाजारी, नफाखोरी, सट्टेबाजी तथा घूँसखोरी आदि दोषों से रहित नहीं किया जा सका है।

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के चलनाधिक्य के लक्षण

आवश्यकता से अधिक अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के चलनाधिक्य (Over-issue) से व्यापारिक जगत में उथल-पुथल मच जाती है तथा समाज में कई प्रकार की बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उक्त परिस्थिति में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं :—

(१) सोने पर प्रव्याजि (Premium on Gold)—आवश्यकता से अधिक मात्रा में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के चलन से धातु-मुद्रा के अनुपात में पत्र-मुद्रा का मूल्य गिर जाता है। उदाहरणार्थ, एक सौ रुपये की पत्र-मुद्रा के बदले में धातु के पचानवे रुपये ही बाजार में प्राप्त हो सकेंगे। इस कारण यदि दूसरे देश का भुगतान करना पड़े तो सौ रुपये के सोने के बदले में सौ रुपये से कुछ अधिक की पत्र-मुद्रा देनी पड़ सकती है। इसको सोने का प्रव्याजि (Premium) भी कहते हैं।

(२) विनिमय-दर में वृद्धि (Rise in Rate of Foreign Exchange)—सोने का भाव बढ़ने के कारण विनिमय-दर भी बढ़ जाती है। जो देश स्वर्ण-प्रमाप (Gold Standard) मानने वाले होते हैं, उनसे व्यापार में कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार अपरिवर्तनीय

पत्र-मुद्रा के चलनाधिक्य का यह भी एक लक्षण है कि उस देश का विदेशी व्यापार असुविधा में पड़ जाता है।

(३) धातु-मुद्रा का विचलन (Disappearance of Standard Metallic Money)—देश के अन्दर उक्त परिस्थिति में धातु मुद्रा चलन से बाहर जाने की प्रवृत्ति रखती है। लोग धातु-मुद्रा को अपने पास रखना पसन्द करते हैं तथा पत्र-मुद्रा को चलन में। इस कारण सिक्के चलन में कम होने लगते हैं; केवल पत्र-मुद्रा ही चलन में रह जाती है।

(४) वस्तुओं के भावों में वृद्धि (Rise in Prices)—आवश्यकता से अधिक पत्र-मुद्रा के मुद्रित हो जाने पर वस्तुओ के भाव बढ़ जाते हैं। ऐसा उस अवस्था में होता है जब कि पत्र-मुद्रा अत्याधिक मात्रा में बढ़ा दी जाती है। थोड़ी-बहुत संख्या में पत्र-मुद्रा के बढ़ने में भावो में विशेष वृद्धि नहीं होने पाती।

उपर्युक्त लक्षणो को देखने से ज्ञात हो जाता है कि अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का आवश्यकता से अत्यधिक मात्रा में प्रसार किया जा रहा है। द्वितीय महायुद्ध काल में भारत में विदेशी सरकार ने अपरिवर्तनशील एक रुपये की पत्र-मुद्रा का अत्यधिक प्रसार किया। फलस्वरूप सोने का मूल्य बढ़ा तथा वस्तुओं के भावो में भी काफी वृद्धि हुई।

उक्त प्रकार की पत्र-मुद्रा के दोषों को देख कर कुछ लोगों का मत है कि ऐसी मुद्रा को बिलकुल ही नहीं चलाना चाहिये। पर यदि नियंत्रित ढंग से यह मुद्रा चलाई जावे तो कोई हानि नहीं होती।

पत्र-मुद्रा संचालन के सिद्धान्त एवं पद्धतियाँ

पत्र-मुद्रा-संचालन के सिद्धान्त—पत्र-मुद्रा संचालन के संबन्ध में मुद्रा-शास्त्रियो के दो विचार हैं—(१) मुद्रा सिद्धान्त तथा (२) अधिकोषण सिद्धान्त।

(१) मुद्रा सिद्धान्त (Currency Principal)—इस सिद्धान्त के मानने वाले लोगों का मत है कि देश में चलने वाली पत्र-मुद्रा की संख्या सरकार के पास कोष में रखी हुई धातु और सिक्कों पर निर्भर होनी चाहिये। जितने मूल्य की धातु या सिक्के कोष में हों सरकार को उतने ही मूल्य की पत्र-मुद्रा चलानी चाहिये। यदि पत्र-मुद्रा के चलन में कमी या बढ़ती करनी होती है तो उसी मात्रा में धातु या सिक्के भी कम किये जाते हैं अथवा बढ़ा दिये जाते हैं। इस प्रकार आवश्यकता से अधिक पत्र-मुद्रा चलने का भय नहीं रहता तथा देश की पत्र-मुद्रा-व्यवस्था भी मुद्रा स्फीति से सुरक्षित रहेगी। पर इस सिद्धान्त द्वारा साख (Credit) के महत्व की उपेक्षा होती है। मुद्रा में लोच (Elasticity) नहीं रहती तथा मुद्रा का प्रसार व्यापार तथा उद्योग की आवश्यकतानुसार न होकर बहुमूल्य धातुओं (सोना-चाँदी) के उत्पादन पर अवलम्बित रहता है। इन्हीं दोषों के कारण यह सिद्धान्त सभ्य देशों में अधिक दिनों तक प्रचलित नहीं रह सका।

(२) अधिकोषण-सिद्धान्त (Banking Principal)—इस सिद्धान्त के समर्थकों का विचार है कि देश में पत्र-मुद्रा संचालन करने का काम किसी एक अधिकोष को देना चाहिये। वही अधिकोष देश में पत्र-मुद्रा संचालन करे। पत्र-मुद्रा परिवर्तनीय होनी चाहिये जिसके बदले में मांगने पर सिक्के दे दिये जाया करें। इन लोगों का विश्वास है कि पत्र-मुद्रा परिवर्तनीय होने के कारण अधिकोष साधारणतः आवश्यकता से अधिक न छाप सकेगा तथा देश में मुद्रा-स्फीति का डर कम रहेगा। पत्र-मुद्रा को अधिकोष आवश्यकतानुसार कम-बढ़ कर सकेगा, जिससे मुद्रा में लोच (Elasticity) रहेगी। पत्र-मुद्रा परिवर्तनीय होने के कारण अधिकोष अपने कोष में पत्र-मुद्रा के मूल्यांश की कीमत के सिक्के अथवा धातु रखेगा। पर इस सिद्धान्त का दोष यह है कि इसमें अधिक मुद्रा प्रसार होने का भय बना रहता है। पत्र-मुद्रा के पूरे मूल्य की धातु या सिक्के कोष में न रहने से सुरक्षितता भी अपेक्षाकृत कम रहती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि दोनों प्रणालियों में गुण-दोष

है क्योंकि मुद्रा-सिद्धान्त-प्रणाली में लोच का अभाव रहता है तथा अधि-कोषण-सिद्धान्त-प्रणाली में सुरक्षा अपेक्षाकृत कम रहती है तथा मुद्रा स्फीति का भय रहता है। पत्र-मुद्रा चलन की उत्तम पद्धति वही है जिससे इन दोनो प्रणालियो के लाभ निहित हो तथा पत्र-मुद्रा चलने में सुरक्षा एवं परिवर्तनशीलता के साथ लोच भी हो।

वास्तव में पत्र-मुद्रा-चलन पद्धति में निम्नलिखित गुणों का समावेश होना आवश्यक है तभी हम उसे उत्तम प्रणाली कह सकेंगे :—

(१) लोच (Elasticity)

(२) मितव्ययिता (Economy)

(३) परिवर्तनशीलता (Convertibility) तथा

(४) चलनाधिक्य से सुरक्षितता (Security against ov issue)।

यदि किसी देश की मुद्रा वहा के व्यापार एवं उद्योग की आवश्यकतानुसार घटाई-बढ़ाई नही जा सकती हो तो यह उसका दोष समझा जावेगा क्योंकि अच्छी मुद्रा-पद्धति का यह आवश्यक गुण है कि उसमें लोच हो जिससे आवश्यकता के अनुसार उसमे कमी अथवा बढ़ती की जा सके। दूसरे, यह भी आवश्यक है कि मुद्रा चलन के लिये कम से कम बहुमूल्य धातुओ की आवश्यकता हो। पत्र-मुद्रा की यह विशेषता है कि उसमें सोने-चाँदी की कम से कम आवश्यकता पड़ती है जिससे मुद्रा-चलन पर अधिक व्यय नही पडता तथा मितव्ययिता (Economy) का गुण उसमें बना रहता है। तृतीय, मुद्रा में जनता का विश्वास बना रहना चाहिये। इसके हेतु पत्र-मुद्रा को परिवर्तनीय होना जरूरी है जिससे पत्र-मुद्रा के धारक (Bearer) के मागने पर धातु के सिक्के बदले में दिये जा सकें। अतः पत्र-मुद्रा-संचालक को इस हेतु पत्र-मुद्रा के मूल्यांश की कीमत के सिक्के अथवा धातु निधि के रूप में कोष में रखनी पड़ती है जिस पर सरकारी देख-भाल एवं नियन्त्रण रहता है। चौथे, पत्र-मुद्रा में चलनाधिक्य होने से बहुत हानि होती है। इससे बचने के लिये सरकार समयानुकूल बहुत सतर्क रहती

५

ह तथा वास्तविक निधि पर अपना नियंत्रण रखती है और संकटकाल में पत्र-मुद्रा-चलन की अधिकतम सीमा निर्धारित कर देती है।

पत्र-मुद्रा संचालन करनेवाली संस्थाएँ

पत्र-मुद्रा का सञ्चालन सरकार करे अथवा अधिकोष द्वारा किया जावे, यह प्रश्न विचारणीय है। कुछ लोग सरकार द्वारा पत्र-मुद्रा के संचालन का समर्थन करते हैं। उनका कहना है कि इससे पत्र-मुद्रा चलन में जनता का विश्वास बना रहेगा। जनता को पत्र-मुद्रा की परिवर्तनशीलता में अविश्वास उत्पन्न नहीं होगा क्योंकि देश की समस्त संपत्ति निधि के रूप में रहती है। दूसरे सरकार के हाथ में पत्र-मुद्रा का सञ्चालन रहने से चलनाधिक्य (over-issue) का भय नहीं रहता क्योंकि उसको परिवर्तनशीलता बनाये रखने के हेतु सरकार प्रत्येक कदम सोच-समझ कर उठावेगी। तृतीय, पत्र-मुद्रा चलन से जो लाभ होगा वह सरकारी कोष में जावेगा तथा बाद में जनता के हित में खर्च किया जा सकेगा। चौथे, सरकार प्राचीन काल से मुद्रा का संचालन अपने हाथ में रखती रही है। इस कारण सरकार से यह अधिकार लेने का कोई विशेष कारण दृष्टिगोचर नहीं होता।

पर दूसरे लोगों का कहना है कि यदि सरकार के हाथों में यह कार्य सौंप दिया गया तो अनेकों हानियाँ होने की संभावना हो जाती है। प्रथम, सरकार बहुत सोच-विचार कर कोई कार्य करती है तथा उसके कार्य में ढिलाई बहुत रहती है। फलतः यदि अधिक पत्र-मुद्रा की आवश्यकता हुई तो सरकार तुरन्त उसकी पूर्ति करने में असमर्थ रहेगी। दूसरे, सरकार की स्वय आर्थिक आवश्यकताएँ रहती हैं, जिससे वह पत्र-मुद्रा प्रसार अनावश्यक होते हुए भी स्वार्थवश कर सकती है जिसका प्रभाव जनता पर बुरा पड़ सकता है। तीसरे, सरकार का व्यापारी वर्ग से सीधा सम्बन्ध नहीं रहता है। इस कारण व्यापारियों की मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकता का सरकार को समुचित ज्ञान नहीं रहता। अधिकोषों को सदैव व्यापारी वर्ग के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है और उन्हें इस बात का अधिक ज्ञान रहता है

कि अमुक वक्त कितनी पत्र-मुद्रा की आवश्यकता होगी। चौथे, पत्र-मुद्रा चलन से अधिकोष को जो लाभ होता है उसका भी कुछ अंश सरकार नियम बनाकर ले सकती है।

इन सब बातों को देखते हुए, अधिकोष द्वारा ही पत्र-मुद्रा संचालन किया जाना हितकर होगा। अधिकोष आवश्यकतानुसार मुद्रा का प्रसार एव संकुचन कर सकेंगे। कानून के द्वारा अधिकोष को इस बात के लिये बाध्य किया जा सकता है कि वह पत्र मुद्रा-चलन का कुछ आंशिक भाग सोना-चाँदी में रक्खे जिससे पत्र-मुद्रा की परिवर्तनशीलता तथा सुरक्षितता बनी रहे। इस प्रकार अधिकोष द्वारा पत्र-मुद्रा सचालन किये जाने पर उसमें सुरक्षितता, परिवर्तनशीलता, लोच तथा एकरूपता बनी रहेगी। फिर अधिकोष की सरकार की भांति स्वयं की आर्थिक आवश्यकताएँ भी नहीं रहतीं जिससे अनावश्यक पत्र-मुद्रा प्रसार का भय हो।

पत्र-मुद्रा संचालन का अधिकार देश के केन्द्रीय अधिकोष को ही होना चाहिये। पत्र-मुद्रा संचालन का एकाधिकार रहने से अधिकोष लाभ-प्रेरित नहीं होता। पत्र-मुद्रा मे एकरूपता रहती है तथा पत्र-चलन-निधि में मितव्ययिता रहती है। सरकार का निरीक्षण कार्य भी अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। इस प्रकार जनता का विश्वास सरकार में बना रहता है और पत्र-मुद्रा संचालन सुचारु रूप से चलता रहता है।

पर यदि यह कार्य एक से अधिक अधिकोषों के हाथ में सौंप दिया जाय तो इसमें बहुत सी बुराइयाँ आ जाती हैं। भारत का इतिहास ही इस बात का साक्षी है कि जब "प्रेसीडेंसी-अधिकोषों" द्वारा पत्र-मुद्रा संचालन होता था, उसमें कितने दोष थे। अधिकोषों में प्रतिस्पर्धा की भावना जागृत हो जाती है जो हितकर नहीं होती। साथ ही जो लाभ एक अधिकोष द्वारा पत्र-मुद्रा संचालन मे प्राप्त होते हैं वे इसमें नहीं होने पाते। इस कारण पत्र-मुद्रा संचालन कार्य तो अनेक अधिकोषों को न सौंप कर एक केन्द्रीय अधिकोष के सुपुर्द ही करना चाहिये।

पत्र-मुद्रा संचालन की पद्धतियाँ (Methods of Note-Issue)

(१) निश्चित अधिकतम पत्र-मुद्रा-चलन पद्धति (Fixed Maximum Note-Issue)—इस प्रणाली के अन्तर्गत देश की केन्द्रीय सरकार कानून द्वारा पत्र-मुद्रा की सीमा निश्चित कर देती है। उस देश का केन्द्रीय अधिकोष किसी भी परिस्थिति में इस सीमा से अधिक पत्र-मुद्रा नहीं चला सकता। यदि कभी आवश्यकता भी हुई तो कानून द्वारा ही सीमा को बढ़ा दिया जाता है। इस पद्धति में दोष यह है कि केन्द्रीय अधिकोष आवश्यकतानुसार पत्र-मुद्रा का प्रसार नहीं कर पाता। इस कारण पत्र-मुद्रा संचालन व्यवस्था लोचदार नहीं बन पाती। कानून के द्वारा बार-बार सीमा निश्चित करने के कारण कुछ अनिश्चितता आ जाती है और मुद्रा-स्फीति होने की सम्भावना बढ़ जाती है। इस पद्धति में पत्र-मुद्रा की सीमा व्यापार एवं उद्योगों की आवश्यकता के अनुसार निश्चित न की जाकर कानून के द्वारा की जाती है। इस प्रकार की पत्र-मुद्रा चलन पद्धति इंग्लैण्ड में सन् १६३७ में थी।

(२) निश्चित असुरक्षित पत्र मुद्रा संचालन पद्धति (Maximum Fiduciary Note-Issue)—इस पद्धति के अनुसार केन्द्रीय अधिकोष को एक निश्चित मात्रा की पत्र-मुद्रा बिना किसी निधि (Reserve) के निकालने का अधिकार दे दिया जाता है। पत्र-मुद्रा का यह अरक्षित भाग सरकारी साख-पत्रों पर आधारित रहता है। इस भाग के ऊपर जितनी पत्र-मुद्रा छापी जाती है उसके लिये शत-प्रतिशत स्वर्ण की निधि रखनी पड़ती है। इस पद्धति का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें थोड़े से मूल्य की पत्र-मुद्रा छोड़कर शेष सब पत्र-मुद्रा के बदले में उसके मूल्य के बराबर का सोना-चाँदी निधि के रूप में रखना पड़ता है। इस कारण आवश्यकता से अधिक मुद्रा का प्रसार होने की सम्भावना नहीं रहती। पर इसमें दोष यह है कि इस प्रकार की पत्र-मुद्रा संचालन पद्धति में लोच नहीं रहती। दूसरे, सोना-चाँदी कोष में बेकार पड़ा रहता है जिसका कोई अच्छा उपयोग

किया जा सकता है। भारत ने कुछ समय तक इस प्रणाली को अपनाया था। प्रथम महायुद्ध काल तक २० करोड़ रुपये तक की पत्र-मुद्रा सरकारी साख-पत्रों के बल पर चल सकती थी और इससे अधिक पत्र-मुद्रा चलाने के लिये उनके बराबर मूल्य का सोना चांदी कोष में रखना पड़ता था।

(३) अनुपातिक सुरक्षित कोष पद्धति (Proportiona Reserve System)—इस पद्धति के अन्तर्गत केन्द्रीय अधिकोष को पत्र-मुद्रा के एक निश्चित प्रतिशत मूल्य का सोना निधि (Reserve) में रखना पड़ता है। पत्र-मुद्रा का शेष भाग सरकारी साख-पत्रों एवं व्यापारिक बिलों के बल पर चलता है। इस पद्धति की विशेषता यह है कि इसमें पत्र-मुद्रा की संख्या बढ़ाने के लिये उनके बदले मे बराबर मूल्य का सोना या चाँदी नहीं रखना पड़ता। इस प्रकार देश की आवश्यकतानुसार पत्र-मुद्रा का प्रसार एवं संकुचन किया जा सकता है।

इस पद्धति के दोष का वर्णन करते हुए डेविडसन नामक मुद्राशास्त्री ने लिखा है कि "अनुपातिक कोष प्रणाली का सबसे बड़ा दोष उस समय मालूम होता है जब देश का सोना बाहर जाने लगता है और केन्द्रीय अधिकोष के पास सोने की कमी होने लगती है और पत्र मुद्रा चलन को बड़ी मात्रा में कम करना पड़ता है। इस कारण मुद्रा-मंडी में मुद्रा की कमी हो जाती है। वस्तुओ के दाम गिरने लगते हैं जिससे व्यापार और उद्योग में उथल-पुथल हो सकती है। दूसरे, इस पद्धति के अनुसार थोड़ा सा सोना कोष में बढ़ने से उससे अधिक मूल्य की पत्र-मुद्रा छापी जा सकती है जिससे मुद्रा-स्फीति का भय बना रहता है।

(४) आंशिक अनुपात निधि पद्धति (Proportional System with Minimum Gold Reserve)—वास्तव में यह तीसरी पद्धति का एक संशोधन मात्र है। इसके अनुसार अनुपातिक निधि के वैधानिक प्रतिशत का कुछ भाग तो धातु के रूप में और शेष किसी दूसरे देश के सरकारी साख-पत्रों में अथवा विदेशी साख-पत्रों में रखा जाता है। उदाहरण के लिये, भा त में पत्र-मुद्रा चलने के मूल्य का ४०% भाग जिसमें सोने के

जिनके बदले आवश्यक स्वर्ण रखे गये हैं, उनके सिवा ४० करोड रुपये से [illegible] नहीं जा सकता। इसमें सोने को आवश्यक रूप से कोष में बन्द नहीं रखा जाता।

(५) साधारण जमा पद्धति (Simple Deposit Method) —इसके अनुसार जितने मूल्य की पत्र-मुद्रा चलन में होती है उतने ही मूल्य का सोना या चाँदी कोष में रखना पड़ता है। पत्र-मुद्रा इसमें पूर्ण परिवर्तनीय हो सकती है तथा किसी प्रकार का बिलकुल भय नहीं रहता। पर इस पद्धति में न तो लोच का गुण है और न मितव्ययिता का गुण ही। यही कारण है कि यह पद्धति बहुत कम चलन में आती है। इसी को दूसरे शब्दों में प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा कहते हैं।

सारांश

(१) पत्र-मुद्रा का चलन प्राचीन काल में भी अनेक देशों में होता रहा है जो इसकी उपयोगिता एवं महत्व का द्योतक है।

(२) पत्र-मुद्रा तीन प्रकार की होती है—(१) प्रतिनिधि-रूप पत्र-मुद्रा, (२) परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा, (३) अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा।

(३) पत्र-मुद्रा सभी सभ्य देशों में प्रचलन में है। इसके चलने से कीमती धातुओं की बचत होती है तथा लेन-देन में सुविधाजनक है। इसके गुणों से आकर्षित होकर ही अधिकांश देशों ने इसे अपनाया है।

(४) इसके दोष सरकार की असावधानी से भयंकर रूप धारण कर लेते हैं। अपरिवर्तन शील पत्र-मुद्रा का आवश्यकता से अधिक चलन में आना समाज के लिये बड़ा अहितकारी है। जैसे ही वस्तुओं के मूल्य बढ़ें, विदेशी-विनिमय की दर बढ़ना प्रारम्भ हो, सरकार को सतर्क होकर स्थिति सुधारने की ओर दृढ़ता पूर्वक कदम उठाने चाहिये।

पत्र-मुद्रा संचालन के दो सिद्धान्त हैं—

१—मुद्रा-सिद्धान्त (Currency Principle)

२—अधिकोषण सिद्धान्त (Banking Principle)

पहिले में मुद्रा-स्फीति का डर नहीं रहता पर मुद्रा में लोच भी नहीं रहती। उसका प्रसार धातुओं की उपलब्धता पर निर्भर रहता है। दूसरे में, मुद्रा-प्रसार को आवश्यकता से अधिक होने का डर बना रहता है, पर उसमे लोच आ जाती है तथा आवश्यकतानुसार घटाया-बढाया जा सकता है।

जिस पत्र-मुद्रा-चलन पद्धति में लोच, मितव्ययिता, परिवर्तन-शीलता तथा सुरक्षितता होगी वही उत्तम पद्धति कहलावेगी।

पत्र-मुद्रा संचालन कौन करे—यह बड़ा जटिल प्रश्न है। पर अनुभव से मुद्रा-शास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पत्र-मुद्रा संचालन केवल केन्द्रीय अधिकोष द्वारा ही किया जाना चाहिये क्योंकि इसमें सभी वांछित गुण विद्यमान रहते हैं। अधिकोष की निजी आर्थिक आवश्यकताएँ नहीं रहती, जिससे मुद्रा-स्फीति का डर भी नहीं रहता। अधिकोष व्यापारियों के सम्पर्क में रहता है इस कारण मुद्रा की आवश्यकता समझता रहता है तथा उसी के अनुसार उसकी मात्रा मे परिवर्तन करता रहता है।

प्रश्न

१—पत्र-मुद्रा का प्रयोग क्यो हुआ? इसके गुण तथा दोषो को समझाकर लिखिये। (यू० पी० बोर्ड, १९५४)

२—भारत में पत्र-मुद्रा संचालन कैसे होता है? इसके आधार को समझाकर लिखिए। (यू० पी० बोर्ड, १९५४, १९५२)

३—नोट-निर्गमन की क्या प्रणालिया है? वे किन परिस्थितियो के लिए उपयुक्त होती है? क्या भारत की वर्तमान नोट-निर्गमन प्रणाली से आप संतुष्ट हैं? (यू० पी० बोर्ड, १९५२: राजपूताना, १९४९)

४—विभिन्न प्रकार के कागजी-मुद्रा के गुणों और दोषा की तुलना कीजिए। (यू० पी० बोर्ड, १९५२, १९५१; राजपूताना १९५२, १९५०)

अध्याय ६

मुद्रा का परिमाण सिद्धांत

(Quantity Theory of Money)

मुद्रा का मूल्य—'मुद्रा के मूल्य' के प्रायः कई अर्थ लगाये जाते हैं। कुछ लोग मुद्रा के प्रयोग के बदले में दिये जाने वाले 'ब्याज' को 'मुद्रा का मूल्य' कहते हैं। पर ब्याज तो 'राशि के प्रयोग' के बदले में दिया गया पारितोषिक मात्र होता है इसलिये इसे 'मुद्रा का मूल्य नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग देश की मुद्रा के बदले मे मिलने वाली विदेशी मुद्राओं को 'मुद्रा का मूल्य' समझते हैं जिसे मुद्राशास्त्र में 'विदेशी-विनिमय-दर' कहते हैं। वास्तव में 'मुद्रा के मूल्य' का तात्पर्य उस विनिमय शक्ति से है जिसके द्वारा मुद्रा के बदले में वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त की जाती है। वस्तुएँ तथा सेवाएँ खरीदने की शक्ति को मुद्रा का मूल्य कहते हैं। 'वस्तुओं के भाव' मुद्रा से आँके जाते हैं और 'मुद्रा का मूल्य' वस्तुओं में आँका जाता है। इस प्रकार 'मुद्रा के मूल्य' और 'वस्तुओं' के भावों में आपसी सम्बन्ध रहता है। प्रो० सेलिग्मेन ने लिखा है कि 'मुद्रा का मूल्य' मुद्रा की क्रयशक्ति होती है और इसे वस्तुओ के सामान्य मूल्य स्तर से जाना जा सकता है। जब तक मुद्रा के मूल्य मे कोई फेर-बदल न हो तब तक वस्तुओं के सामान्य मूल्य-स्तर में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

पर कभी-कभी ऐसा भी संभव हो सकता है कि किसी वस्तु विशेष का मूल्य किसी विशेष परिस्थिति के कारण घट-बढ़ जाय और उसके साथ मुद्रा के सामान्य मूल्य में कोई विशेष परिवर्तन न हो। लेकिन अधिकांश वस्तुओं का सामान्य मूल्य-स्तर तब तक नहीं बदल सकता जब तक कि उसके साथ-साथ मुद्रा के सामान्य-मूल्य में भी कोई परिवर्तन न हो। क्राउथर के-

अनुसार 'मुद्रा तथा वस्तुओं के आपस के मूल्य-अनुपात को भाव (Price) कहते हैं। इन भावों में मुद्रा की घटा-बढ़ी के कारण या वस्तुओं की घटा बढ़ी के कारण परिवर्तन होते रहते हैं।"

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त

किसी भी वस्तु का मूल्य उसकी माग और पूर्ति पर निर्भर होता है। यदि किसी समय वस्तु की मांग उसकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक होती है तो उसका भाव बढ़ जाता है और यदि उसकी पूर्ति उसकी माँग की अपेक्षा अधिक होती है तो भाव गिर जाता है। इसी प्रकार यदि किसी समय वस्तुओं की मात्रा उतनी ही रहे और मुद्रा की पूर्ति पहिले की अपेक्षा बढ़ जाय, ऐसी परिस्थिति में उतनी ही वस्तुओं के लिये अधिक मुद्रा दी जाने लगेगी। फलतः मुद्रा का मूल्य गिर जायगा और वस्तुओं के भाव ऊँचे हो जावेंगे। इसके विपरीत यदि वस्तुओं की मात्रा उतनी ही रहे परन्तु मुद्रा की पूर्ति पहिले से कम हो जाय, तो उतनी ही वस्तुओं के लिये कम मुद्रा दी जाने लगेगी। परिणाम स्वरूप मुद्रा का मूल्य बढ़ जायगा और वस्तुओं के भाव गिर जायँगे।

उदाहरणार्थ मान लीजिये कि १०० वस्तुएँ हैं और उनको खरीदने के लिये १०० रु० हैं। यदि सभी वस्तुएँ बिकने के लिये बाजार में आवें, उनका एक ही बार क्रय-विक्रय हो तथा सभी रुपये केवल एक ही बार खर्च किये जावें तो एक वस्तु का औसत मूल्य १ रु० होगा पर यदि वस्तुएँ उतनी ही रहें और रुपये २०० हो जावें तो एक वस्तु का मूल्य २ रु० होगा और रुपये की क्रय-शक्ति आधी हो जायगी। इसके विपरीत यदि वस्तुएँ उतनी ही रहें पर चलन में रुपये केवल ५० रह जायें तो एक रुपये में दो वस्तुएँ मिलेंगी और रुपये की क्रय-शक्ति दुगनी हो जावेगी।

उपरोक्त उदाहरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि "यदि मुद्रा का परिमाण (मात्रा) बढ़ जाय और उससे विनिमय की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा उतनी ही रहे तो मुद्रा का मूल्य गिर जाता है और वस्तुओं के भाव

बढ़ जाते हैं। इसके विपरीत यदि मुद्रा की मात्रा कम हो जाय और उससे विनिमय की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा कम न हो तो मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है और वस्तुओं के भाव गिर जाते हैं।" संक्षेप में यही मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त है। प्रो० मिल के शब्दों में "यदि अन्य परिस्थितियाँ जैसी की तैसी ही बनी रहें, तो जिस अनुपात में मुद्रा का परिमाण घटता-बढ़ता है, ठीक उसके विपरीत उसी अनुपात में मुद्रा का मूल्य क्रमशः बढ़ता-घटता है। मुद्रा की जितनी मात्रा बढ़ती है, ठीक उसके विपरीत अनुपात में उसका मूल्य कम हो जाता है और मुद्रा की जितनी मात्रा घटती है ठीक उसके विपरीत अनुपात में उसका मूल्य बढ़ जाता है।"

स्थिर, समान अथवा जैसी-की-तैसी परिस्थितियाँ

यह सिद्धान्त तभी लागू होता है जब अन्य परिस्थितियाँ स्थिर, समान अथवा जैसी-की-तैसी बनी रहें। अन्य परिस्थितियों से निम्नलिखित तात्पर्य है—

(१) मुद्रा की चलन-गति में कोई परिवर्तन न हो।

(२) वस्तुओं के क्रय-विक्रय की गति में कोई फेर-बदल न हो।

(३) बिक्री को आई हुई सब वस्तुएँ मुद्रा के बदले में बिकें, उनका आपस में एक दूसरे से अदल-बदल न हो।

(४) वस्तुओं के उत्पादन, देश की जन-संख्या तथा प्रति-व्यक्ति-उत्पादन की मात्रा में कोई परिवर्तन न हो।

मुद्रा-परिमाण-सिद्धान्त की सत्यता के लिये यह आवश्यक है कि अन्य परिस्थितियाँ स्थिर अथवा समान बनी रहें। यदि मुद्रा की चलन-गति में कोई फेर-बदल हुई तो मुद्रा की पूर्ति पर उसका प्रभाव पड़ेगा और तब संभव है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त लागू न हो। इसी प्रकार यदि देश में उधार लेने-देने की प्रथा हो या वस्तुओं का आपस में एक दूसरे से अदल-बदल होता हो अथवा वस्तुओं के क्रय-विक्रय की गति में कोई फेर-बदल हुई तो संभव है मुद्रा की मात्रा बढ़ने से वस्तुओं के भावों

पर कोई प्रभाव न पड़े। यदि मुद्रा की पूर्ति बढ़ने के साथ वस्तुओं का उत्पादन भी बढ़ता गया या जनसंख्या बढ़ती गई तो भी मुद्रा के मूल्य अथवा वस्तुओं के भावों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। वर्तमान काल में जब समाज और देश की परिस्थितियाँ नई-नई करवटें ले रही हैं और मानव-प्राणी का स्वभाव भी बदल रहा है, उक्त कथित अन्य परिस्थितियों का जैसे का तैसा बना रहना असम्भव है।

सिद्धान्त का नया रूप

सिद्धान्त का वर्तमान रूप यह है कि यदि चालू मुद्रा के परिमाण और उसकी चलन की गति में कोई परिवर्तन होता है तो वस्तुओं का औसत मूल्य भी सामान्यतः उसके साथ-साथ ठीक उसी दिशा में और उसी अनुपात में बदलने लगता है। यदि मुद्रा की माँग में कोई परिवर्तन होता है तो वस्तुओं का मूल्य सामान्यतः उसकी विपरीत दिशा तथा विपरीत अनुपात में बदलने लगता है। "सामान्यतः" से तात्पर्य यह है कि यह सिद्धान्त सामान्य परिस्थितियों में सामान्यतः लागू होता है। यदि कोई असाधारण परिस्थिति बीच में आ जाती है, जैसे जनसंख्या बढ़ जाय, या उत्पादन बढ़ जाय, इत्यादि तो यह सिद्धान्त लागू नहीं होता।

मुद्रा की मांग एवं पूर्ति

मुद्रा की मांग—मुद्रा की आवश्यकता अथवा मांग वस्तुएँ या सेवाएँ खरीदने के लिये होती है। वस्तुएँ एवं सेवाएँ बिक्री के लिये बढ़ती-घटती रहती हैं, उसके अनुसार मुद्रा की माँग की मात्रा भी बढ़ती-घटती रहती है। मुद्रा की सहायता से वस्तुओं और सेवाओं की जितनी खरीद-बेच होती है वह सब मुद्रा की माँग कहलाती है। संक्षेप में, मुद्रा की माँग, बिक्री को आई हुई वस्तुओं में निहित होती है, पर जो वस्तुएँ आपस में बिना मुद्रा की सहायता के अदल-बदल ली जाती हैं उनसे मुद्रा की माँग नहीं बनती, मुद्रा की माँग तो अपनी सहायता में होने वाले व्यापारिक क्रय-विक्रय पर निर्भर होती है।

मुद्रा की पूर्ति—'मुद्रा की पूर्ति' का तात्पर्य उस मुद्रा से है जो विनिमय माध्यम के काम आने के लिये हो अर्थात् जिसके द्वारा वस्तुएँ या सेवाएँ खरीदी जाती हो। "मुद्रा की पूर्ति" का अर्थ प्रसारित मुद्रा की कुल मात्रा से नहीं होता क्योंकि उसमें से सभी मुद्रा विनिमय माध्यम के काम नहीं आती वरन् उसके कुछ अंश को लोग संग्रह कर लेते हैं और इस प्रकार वह भाग लोगो के पास निठल्ला पड़ा रहता है। केवल विनिमय माध्यम के काम आनेवाली चालू मुद्रा को ही मुद्रा की पूर्ति समझना चाहिये। इसमें सब प्रकार की मुद्राओ (जैसे सिक्के, नोट तथा साख-मुद्रा) को सम्मलित कर लेना पड़ता है। अर्थशास्त्री मिल के अनुसार "किसी भी समय मुद्रा की जितनी भी मात्रा चलन (circulation) में होती है वह सब मुद्रा की पूर्ति कहलाती है।"

किसी भी समय देश में मुद्रा की पूर्ति का सही सही अनुमान लगाना बहुत कठिन है। क्योंकि सिक्कों और पत्र-मुद्रा की मात्रा का अनुमान लगाना तो सरल है पर साख-मुद्रा, चेक, बिल आदि के द्वारा जो विनिमय का काम होता है, उसकी मात्रा जानना असम्भव है। फिर, मुद्रा की पूर्ति केवल विनिमय माध्यम के काम आनेवाली मुद्रा के परिमाण से ही नहीं जानी जा सकती, वरन् इसमें मुद्रा की चलन-गति (Rapidity of Circulation of Money) का भी ध्यान रखना पड़ता है। जितनी शीघ्रता से और जितने अधिक विनिमय का लेन-देन कोई मुद्रा करे, उतनी ही संख्या में मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है पर मुद्रा-चलन-गति को ज्ञात करना सरल नहीं है। यह समय-समय पर बदलती भी रहती है।

प्रो० इर्विङ्ग फिशर का समीकरण

प्रो० फिशर ने मुद्रा के परिमाण सिद्धांत को गणित के रूप में व्यक्त किया है। आरम्भ में इसे निम्नलिखितानुसार प्रस्तुत किया गया है—

$$PT = MV$$

अर्थात् (वस्तुओं का औसत मूल्य) × (वस्तुओं का कुल लेन-देन)
= (चालू मुद्रा का परिमाण × (मुद्रा के चलन की गति)

$$\text{या. वस्तुओं का औसत मूल्य} = \frac{(\text{मुद्रा का परिमाण}) \times (\text{मुद्रा के चलन की गति})}{(\text{वस्तुओं का कुल लेन-देन})}$$

या
$$\text{मू} = \frac{\text{मु} \times \text{ग}}{\text{व}}$$

इस प्रकार लिखने से मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का आशय स्पष्ट होता है। यदि 'ग' और 'व' जैसे-के तैसे स्थायी बने रहे तो 'मू' और 'मु' में एक ही दिशा में परिवर्तन होंगे। दूसरे शब्दों में यदि मुद्रा के परिमाण (मु) में कोई परिवर्तन हुआ तो वस्तुओं के मूल्य (मू) उसी दिशा में बदलेंगे। यदि मुद्रा के चलन की गति (ग) में कोई परिवर्तन हुआ तो भी वस्तुओं के मूल्य (मू) उसी दिशा में बदलेंगे परन्तु यदि वस्तुओं के लेन-देन (व) में कोई परिवर्तन हुआ तो वस्तुओं के मूल्य (मू) उसकी विपरीत दिशा में बदलेंगे।

बाद में, यह समीकरण अपूर्ण बतलाया गया क्योंकि इसमें केवल धातु-मुद्रा (सिक्कों) की मात्रा पर ही विशेष जोर दिया गया है और पत्र-मुद्रा तथा साख-मुद्रा के परिमाण को सम्मिलित नहीं किया गया है। आज कल सिक्कों के साथ-साथ पत्र-मुद्रा और धनादेश आदि भी लेन-देन के काम आते हैं तथा अधिकांश लेन-देन. पत्र-मुद्रा या धनादेशों के द्वारा ही होता है। यातायात के उन्नत साधनों तथा अधिकोषण की सुविधाओं ने तो साख-मुद्रा का प्रयोग और प्रचार और भी अधिक बढ़ा दिया है। अतः आवश्यक सुधार करके निम्नलिखित समीकरण बना दिया गया है—

$$\text{मू} = \frac{(\text{मु} \times \text{ग}) + (\text{सा. मु.} \times \text{सा. ग.})}{\text{व}}$$

जहाँ, मू = वस्तुओं का औसत मूल्य,
मु = चालू मुद्रा (सिक्के व पत्र-मुद्रा) का परिमाण,
ग = पत्र-मुद्रा व सिक्कों की चलन-गति,

सा. मु. = चालू साख मुद्रा का परिणाम;
सा. ग. = साख मुद्रा के चलन की गति,
व = वस्तुओं का कुल लेन-देन ।'

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त तभी सत्य होता है जब कि अन्य परिस्थितियाँ जैसी-की-तैसी बनी रहें। दूसरे शब्दों में, यदि 'मुद्रा की गति,' 'साख मुद्रा के परिणाम,' 'साख-मुद्रा' की गति तथा 'वस्तुओं के कुल लेन-देन' में कोई फेर बदल न हो तो यह सिद्धान्त अच्छी तरह लागू होगा।

सिद्धान्त की आलोचना

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के विरुद्ध तरह-तरह के आरोप लगाये जाते हैं एवं सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की जाती है। सिद्धान्त के जिन पहलुओं पर आक्रमण किया जाता है, उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं :—

(१) इस सिद्धान्त मे अन्य परिस्थितियों को जैसी-की-तैसी रहने की कल्पना की गई है। पर साधारणतः ये परिस्थितियाँ स्थिर अथवा समान कभी नहीं रहने पाती। कभी प्रति व्यक्ति उत्पादन की मात्रा बढ़ती है, कभी जन-सख्या बढ़ने के कारण उत्पादन बढने लगता है, कभी मुद्रा की गति में फेर-बदल होने लगते हैं और कभी साख-मुद्रा की मात्रा में घटा-बढ़ी हो जाती हैं। अल्पकालीन परिस्थितियों में भी ये सभी बातें जैसी-की-तैसी नहीं रहतीं। अतः आलोचकों के मतानुसार यह सिद्धान्त एक स्थाई सत्य नहीं है।

(२) आलोचकों का मत है कि इस सिद्धान्त से इसका ज्ञान नहीं होने पाता कि किस विधि के अनुसार मुद्रा की मात्रा के घटने-बढ़ने से मूल्य-स्तर घट-बढ़ जाते हैं। और न इस बात का पर्याप्त उत्तर मिलता है कि व्यापार-चक्र (Trade-Cycle) में मूल्य स्तर घटने-बढ़ने के क्या कारण होते हैं? मुद्रा का परिमाण स्थिर रहने पर भी मंदी काल में मूल्य-स्तर गिर जाते हैं और तेजी के समय ऊँचे हो जाते हैं। अतः यह सिद्ध होता

है कि मूल्य-स्तर घटने-बढ़ने का कारण केवल मुद्रा का परिमाण ही नहीं है वरन् कुछ और भी ऐसा कारण है जिससे मूल्य-स्तर स्थायी नहीं रहने पाते।

(३) प्रो० कीन्स का कहना है कि इस सिद्धान्त के समीकरण में 'वस्तुओं के लेन-देन का जो जिक्र किया है, वह अपूर्ण है। मुद्रा के द्वार वस्तुओं के क्रय-विक्रय संबन्धी लेन-देन तो बहुत कम होते हैं। अतः लेन-देन (व) को सम्मिलित करने मे मुद्रा की कुल क्रय-शक्ति का सही और पूर अनुमान नहीं लग पाता, केवल नकद क्रय-विक्रय (Cash Purchase and Sales) का ही अनुमान होता है। इसलिये यह सिद्धान्त ठीव नहीं है।

(४) इस सिद्धान्त के अंतर्गत दी हुई मुद्रा की गति और साख-मुद्रा की मात्रा को मापना या उसका अनुमान लगाना असंभव है। सिक्को तथा पत्र-मुद्रा की मात्रा का अनुमान लगाया जा सकता है पर विनिमय माध्यम का काम करने वाले धनादेशो तथा विपत्रों या अन्य साख-मुद्रा के परिमाण का पता लगाना कठिन है। फिर मुद्रा की चलन-गति का सही अनुमान लगाना तो और भी कठिन है। अतः यह सिद्धान्त अधिकाश परिस्थितियों में केवल कल्पना और अनुमान पर निर्भर है। इसकी सत्यता निश्चित शब्दों में नही बाँधी जा सकती।

(५) कुछ लोगो का आक्षेप है कि इस सिद्धान्त में कोई विशेषता नहीं है बल्कि यह माँग और पूर्ति के विवेचन का सरल ढङ्ग है। पर वास्तव में स्थिति कुछ भिन्न है। इस सिद्धान्त में इस बात का विवेचन है कि मुद्रा की मात्रा कम या अधिक होने से क्या परिणाम होते हैं तथा मुद्रा की मात्रा में आवश्यक परिवर्तन करके किस प्रकार कीमतों पर नियंत्रण किया जा सकता है।

(६) इस सिद्धान्त के अनेक आलोचकों का कथन है कि इसमें मुद्र की माँग की अपेक्षा पूर्ति पर ही अधिक जोर दिया गया है जब कि मुद्रा की क्रय-शक्ति उसकी माँग द्वारा भी प्रभावित होती है। इस कारण यह सिद्धान्त अपूर्ण है।

सिद्धान्त की उपयोगिता

यद्यपि इस सिद्धान्त के विरुद्ध भाँति-भाँति के आरोप लगाये जाते हैं और उनमें से कुछ सही भी हैं परन्तु फिर भी इस सिद्धान्त का अपना कुछ महत्व अवश्य है। निस्सन्देह, ऐसे और भी अनेक कारण हैं जिनसे वस्तुओं के भाव बदलते रहते हैं पर वे सब इतने महत्वपूर्ण नहीं जान पड़ते, जितना कि मुद्रा की मात्रा घटने-बढ़ने का है। यह सिद्धान्त मूल्य-परिवर्तन का कम से कम एक मुख्य तथा महत्वपूर्ण कारण तो बतलाता ही है। इसी के सहारे चालू मुद्रा की मात्रा में कमी-बेशी करके देश के मूल्य-स्तर को नियंत्रित किया जा सकता है। मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त में सत्यता अवश्य है और इसकी अपनी उपयोगिता है। रावर्टसन नामक मुद्राशास्त्री ने ठीक ही लिखा है कि "मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त मुद्रा का मूल्य समझने के लिये एक विचित्र सत्य है—यह ऐसा सत्य है जिसे वास्तविक जीवन के अंतर्गत मुद्रा की मात्रा और वस्तुओं के मूल्यों में सम्पर्क स्थापित करने के लिये समझना अनिवार्य है।"

सारांश

(१) 'मुद्रा के मूल्य' का तात्पर्य उस विनिमय शक्ति से है जिसके द्वारा मुद्रा के बदले में वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त की जाती हैं। वस्तुएँ तथा सेवाएँ खरीदने की शक्ति को मुद्रा का मूल्य कहते हैं। 'मुद्रा के मूल्य' और 'वस्तुओं के भावों' में घनिष्ठ संबन्ध रहता है।

(२) यदि वस्तुओं की मात्रा उतनी ही रहे और मुद्रा का परिमाण बढ़ जाय तो मुद्रा का मूल्य गिर जाता है और वस्तुओं के भाव बढ़ जाते हैं। और यदि मुद्रा का परिमाण कम हो जाय तो मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है और वस्तुओं के भाव गिर जाते हैं। यही मुद्रा-परिमाण-सिद्धान्त है।

(३) मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त की सत्यता के लिये आवश्यक है कि परिस्थितियाँ स्थिर रहें। यदि अन्य परिस्थितियाँ समान न रहीं तो सिद्धान्त

लागू नहीं हो सकता। वर्तमान समाज में इन परिस्थितियों का स्थिर रहना असम्भव है वे परिवर्तनशील रहती हैं।

(४) सिद्धान्त का वर्तमान रूप यह है कि यदि चालू मुद्रा के परिमाण और उसकी चलनगति में कोई परिवर्तन होता है तो वस्तुओं का औसत मूल्य या सामान्यतः उसके साथ-साथ ठीक उसी दिशा में और उसी अनुपात में बदलने लगता है।

(५) मुद्रा की सहायता से वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदी जाती हैं और उनका विक्रय हेतु मात्रा ही मुद्रा की माँग बनाती है। प्रचलित मुद्रा की कुल मात्रा मुद्रा की पूर्ति नहीं होती। विनिमय माध्यम के रूप में काम आने वाली मुद्रा को ही मुद्रा की पूर्ति समझना चाहिये।

(६) प्रो० इर्विंग फिशर ने सिद्धान्त को निम्नलिखित समीकरणों में व्यक्त किया है—

आरम्भ में (१) $म = \frac{मु \times ग}{व}$

बाद में (२) $मू = \frac{(मु \times ग) + (आ. मु. \times आ. ग.)}{व}$

(७) आलोचकों ने इस सिद्धान्त की निरर्थकता सिद्ध करने के हेतु कई आरोप लगाएँ हैं पर इसकी अपनी उपयोगिता है। यद्यपि वस्तुओं के मूल्य-स्तर में कई कारणों से परिवर्तन होता रहता है फिर भी मुद्रा की मात्रा में घटती-बढ़ती होना मूल्य-स्तर परिवर्तन का एक मुख्य कारण बन जाता है।

प्रश्न

(१) मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त क्या है ? उसे समझाइए। (यू० पी० बोर्ड, १९५०, १९४९, १९४५, १९४३ अजमेर बोर्ड, १९५०)

(२) "मुद्रा के मूल्य" से आप क्या समझते हैं? मुद्रा का मूल्य कैसे जाना जा सकता है। (यू० पी० बोर्ड, १६४६)

(३) मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त की आलोचना सहित व्याख्या कीजिए। मुद्रा के चलन की गति पर किन स्थितियों का प्रभाव पड़ता है? (अजमेर बोर्ड, १६५२; राजपूताना, १६५३, १६५०, १६४६, १६४८)

अध्याय १०

मुद्रा की क्रय-शक्ति मापने की विधि

निर्देशांक (Index Number)

मुद्रा की क्रय-शक्ति में होने वाले परिवर्तनों को मापना कई दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इन परिवर्तनों से कुछ लोगों को लाभ होता है तो अन्य लोगों को बड़ी भारी हानि होती है। अतः यदि मुद्रा की क्रय-शक्ति को नापते रहें और उसमें आवश्यक समायोजन (Adjustment) करते रहें तो समाज को इस बुराई से कुछ सीमा तक बचाया जा सकता है। भारी लेन-देन के व्यवहारों की सुविधा के लिये मुद्रा का मूल्य मापना बहुत ही आवश्यक है। मुद्रा की क्रय-शक्ति में होने वाले परिवर्तनों को ज्ञात करके भिन्न भिन्न स्थान और काल में हुई मनुष्यों की आय (Income) तथा मजदूरों की मजदूरी (Wages) की वास्तविकता का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। इसी प्रकार अनेक देशों की आर्थिक स्थिति की तुलना की जा सकती है तथा सामाजिक प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है।

मुद्रा की क्रय-शक्ति अथवा वस्तुओं के मूल्य-स्तर में जो परिवर्तन होते हैं उनको ठीक-ठीक मापने की कोई भी विधि नहीं है। हाँ, मूल्य-स्तर में होने वाली घटा-बढ़ी का सामान्य अनुमान एक विधि द्वारा लगाया जा सकता है जिसे मूल्य-निर्देशांक (Price Index Number) कहते हैं। मूल्य-निर्देशांक एक काल से दूसरे काल में वस्तुओं के मूल्य में होने वाले प्रतिशत औसत परिवर्तन को दर्शाते हैं।

जब वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन होता है तब वस्तुओं का मूल्य

एक-सा नहीं घटता-बढ़ता। इसलिये यह निश्चित करना बहुत कठिन हो जाता है कि किसी एक स्थान में वस्तुओ का सकल मूल्य कितना घटा-बढ़ा। पर यदि किसी भी समय इन मूल्यों की दूसरे काल के मूल्यो से तुलना करें, तो मूल्यों का सामान्य-स्तर एक ही दिशा में होगा—या तो सामान्य-स्तर में चढ़ाव होगा या उतार होगा जिसे मूल्य-निर्देशांक द्वारा नापा जा सकता है।

मूल्य-निर्देशांक के दो प्रमुख उद्देश्य होते हैं—

(१) वस्तुओ के मूल्य के सामान्य-परिवर्तन को दर्शाना,

और (२) इस परिवर्तन का विभिन्न श्रेणियो के लोगो पर हुए प्रभाव को समझाना।

प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिये जो निर्देशांक तैयार किये जाते हैं वे सब प्रकार की वस्तुओ के मूल्य में हुए परिवर्तनो के आधार पर तैयार किये जाते हैं और दूसरे उद्देश्य की पूर्ति करने वाले निर्देशांक उन वस्तुओ के मूल्य-परिवर्तन के आधार पर बनाए जाते हैं, जो उस विशिष्ट श्रेणी की जनता के द्वारा उपयोग में लाई जाती है।

निर्देशांको का प्रयोग केवल वस्तुओं का मूल्य-स्तर मापने के लिये ही नहीं वरन् देश की वस्तुओ के उत्पादन की मात्रा में उतार-चढ़ाव जानने के लिये, देशवासियों की आर्थिक दशा में परिवर्तन समझने के लिये तथा मजदूरों की मजदूरी में उतार-चढ़ाव एवं उसका प्रभाव समझने के लिये भी किया जाता है।

मूल्य निर्देशांक बनाने की विधियाँ

मूल्य निर्देशांक प्रायः दो प्रकार से बनाये जाते हैं—

(१) सामान्य निर्देशांक (General Index Numbers)

(२) भारशील निर्देशांक (Weighted Index Numbers)

सामान्य निर्देशांक—सामान्य निर्देशांक बनाने के लिये सबसे पहिले यह निश्चय कर लेना चाहिये कि हमें किस वर्ष के मूल्य-स्तरों से

तुलना करना है। इसके लिये सामान्यतः एक ऐसा वर्ष चुन लिया जाता है जिसमें कोई ऐसी विषम घटना न घटी हो जिसके कारण वस्तुओं के मूल्यों में कोई विशेष परिवर्तन हुआ हो अथवा असाधारण उतार-चढाव हुए हों। इस वर्ष को आधार वर्ष (Base Year) कहते हैं। इसी वर्ष के मूल्य-स्तर के आधार पर अन्य वर्षों के मूल्य-स्तरों की तुलना की जाती है। आधार-वर्ष की विभिन्न वस्तुओं का मूल्य १०० कल्पित कर उनके योग को वस्तुओं की कुल संख्या से भाग देने पर जो भागफल आता है वह आधार वर्ष का निर्देशांक होता है।

दूसरी बात इसमें यह निश्चित करनी पडती है कि निर्देशांक में किन-किन वस्तुओं के मूल्य का समावेश हो। सब वस्तुओं के मूल्य प्रत्येक स्थान से ज्ञात करना तो असंभव कार्य है अतएव कुछ ऐसी वस्तुएँ चुन ली जाती हैं जो प्रायः सभी स्थानों पर सभी के उपयोग में आती रहती हैं। वस्तुओं का चुनाव निर्देशांक की आवश्यकता पर निर्भर करता है।

तीसरे, निर्देशांक तैयार करने के लिये थोक-मूल्य (Wholesale Price) काम में लिया जाय या फुटकर मूल्य (Retail Price), यह बात निर्देशांक की आवश्यकता पर निर्भर होती है। यदि रहन-सहन का स्तर मालूम करना हो तो फुटकर मूल्य लेने चाहिये। मूल्य उस स्थान विशेष से प्राप्त किये जाने चाहिये जहाँ उस वस्तु का क्रय-विक्रय बहुत अधिक मात्रा में होता हो। अतएव प्रत्येक वस्तु के लिये अलग-अलग स्थान चुन लिया जाता है। एक वस्तु का एक ही श्रेणी का मूल्य लिया जाना आवश्यक है। जहाँ तक संभव हो, वस्तुओं के वास्तविक मूल्य जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

उदाहरण—मान लीजिये कि हमें सन् १९३९ और १९५३ के मूल्य-स्तरों की तुलना करनी है। १९३९ में गेहूँ का भाव ५ रु० प्रति मन, शक्कर का भाव २० रु० प्रति मन, कोयला ३ रु० प्रति मन तथा घी ४० रु० प्रति मन था और इन्हीं वस्तुओं की कीमतें १९५३ में क्रमशः २० रु०, ८० रु०, १२ रु० तथा १२० रु० प्रति मन थीं। इनके निर्देशांक निम्न प्रकार होंगे—

क्रम-संख्या	वस्तुएँ	मूल्य-स्तर १९३९ (आधार वर्ष)		मूल्यस्तर १९५३ अभीष्ठ वर्ष	
		वास्तविक मूल्य प्रति मन	निर्देशांक (कल्पित)	वास्तविक मूल्य प्रति मन	निर्देशाक
१	गेहूँ	५ रु०	१००	२० रु०	४००
२	शक्कर	२० ,,	१००	८० ,,	४००
३	कोयला	३ ,,	१००	१२ ,,	४००
४	घी	४० ,,	१००	१२० ,,	३००
	योग		४००		१५००
	मूल्य-स्तर निर्देशाक		४००÷४ =१००		१५००÷४ =३७५

तालिका नं० १

उक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि १९३९ की अपेक्षा १९५३ में गेहूँ, शक्कर, कोयला की कीमत चौगुनी तथा घी की तिगुनी हो गई। अतः सन् १९३९ ई० की अपेक्षा सन् १९५३ ई० का निर्देशाक ४००, ४००, ४०० तथा ३०० होंगे। इनका योग १५०० होगा और वस्तुओं की क्रम-संख्या ४ से भाग देने पर भागफल ३७५ हुआ। यही सन् १९५३ ई० का निर्देशाक होगा।

भारशील निर्देशांक—निर्देशाक बनाने के लिये जब कुछ वस्तुएँ चुनी जाती हैं तो उन सब वस्तुओं का एक सा महत्त्व नहीं होता। उनमें से कुछ वस्तुओं का महत्त्व अधिक होता है तथा कुछ का अपेक्षाकृत कम होता है। इस महत्त्व के अनुसार निर्देशाक के लिये चुनी हुई प्रत्येक वस्तु के लिये कुछ "भार-अंक" (Weights) निर्धारित कर दिये जाते हैं। वस्तुओं का भार-अंक निर्धारित करने का अर्थ यह होता है कि जीवन में जिस वस्तु

का अधिक महत्व होता है उसकी कीमत में परिवर्तन होने से रहन-सहन के स्तर में अधिक परिवर्तन होने की सम्भावना रहती है क्योंकि उस वस्तु पर मनुष्य की आय का अधिकांश भाग व्यय होता है।

उदाहरण—मान लीजिये गेहूँ, शक्कर, कोयला और घी के महत्व के अनुसार उनके भार-अंक (Weight) क्रमशः ४, ३, २, १ निर्धारित किये जाते हैं। सन् १९३९ ई० के मूल्यों को १०० कल्पित करके उनको प्रत्येक वस्तु के भार-अंक से गुणा किया जावेगा और फिर जो योग होगा उसमें भार-अंक के योग का भाग देकर, जो भजनफल आवेगा वह आधार वर्ष का भारशील निर्देशांक होगा। इसी प्रकार सन् १९५३ ई० के मूल्यों के साथ किया जावेगा।

क्रम संख्या	वस्तु	मूल्य-स्तर १९३९ (आधार-वर्ष)			मूल्य स्तर १९५३		
		वास्तविक मूल्य (प्रतिमन)	भार-अंक	भारशील मूल्य	वास्तविक मूल्य (प्रतिमन)	आधारवर्ष से तुलनात्मक मूल्य	भारशील मूल्य
१	गेहूँ	५ रु०	४	४००	२० रु०	४००	४०० × ४ = १६००
२	शक्कर	२० "	३	३००	८० रु०	४००	४०० × ३ = १२००
३	कोयला	३ "	२	२००	१२ रु०	४००	४०० × २ = ८००
४	घी	४० "	१	१००	१२० रु०	३००	३०० × १ = ३००
	योग		१०	१०००			३,६००
	भारशील निर्देशांक			१००० ÷ १० = १००			३६०० ÷ १० = ३६०

तालिका नं० २

उपर्युक्त तालिका के भारशील निर्देशांकों से स्पष्ट है कि १९३९ और १९५३ के मूल्य-स्तरों में भारी अंतर था। भारशील निर्देशांक का प्रयोग कम किया जाता है क्योंकि विभिन्न-वस्तुओं के सही भार अंक निर्धारित करना कठिन होता है।

निर्देशांक बनाने में सावधानी की आवश्यकता

निर्देशांक बनाते समय कुछ बातों को ध्यान में रखने की आवश्यकता रहती है। प्रथम, आधार वर्ष का चुनाव सावधानी से करना चाहिये। उसमें कोई असाधारण बात नहीं होनी चाहिये। जब ऐसा वर्ष मिलने में कठिनाई होवे तो ऐसी परिस्थिति में तीन वर्ष, पाँच वर्ष अथवा सात वर्ष का औसत मूल्य आधार मान लिया जाता है और इसी के आधार पर अन्य वर्षों के मूल्यों की तुलना की जाती है।

दूसरे, वस्तुओं का चुनाव निर्देशांक बनाने के उद्देश्य पर निर्भर करता है। यह इस प्रकार होना चाहिये कि निर्देशांक बनाने का उद्देश्य पूरा हो सके। चुनी हुई वस्तुओं की कोटि (quality) भिन्न-भिन्न वर्षों में समान रहनी चाहिये।

तीसरे, चुनी हुई वस्तुओं का मूल्य ज्ञात करने में सावधानी रखनी चाहिये। यह निर्देशांक बनाने के उद्देश्य पर निर्भर करता है कि वस्तुओं के थोक मूल्य लिये जावें अथवा फुटकर-मूल्य। जहाँ तक हो सके वास्तविक मूल्य लिये जाने चाहिये।

चौथे, 'भार-अंक' निर्धारित करने में भी सावधानी रखनी चाहिये। उपभोग की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु का भार-अंक (Weight) सबसे अधिक और कम महत्त्वपूर्ण वस्तुओं के भार-अंक कम होने चाहिये।

निर्देशांक की उपयोगिता

संक्षेप में, निर्देशांक आर्थिक, व्यापारिक तथा वित्त सम्बन्धी सभी समस्याओं को जानने और समझने के लिये उपयोगी है। इनके द्वारा व्यापार का रुख, पूँजी का बहाव, लाभ-हानि का ज्ञान आदि अनेक बातें ज्ञात

की जा सकती है। प्रो० फिशर का कहना है कि "वस्तुओं का मूल्य-स्तर स्थाई रखने तथा व्यापार में स्थिरता और स्थायित्व लाने के लिये निर्देशाक बहुत उपयोगी है।" यद्यपि निर्देशाकों के द्वारा मूल्य-स्तर के उतार-चढ़ावों का सही-सही ज्ञान नहीं हो सकता तो भी इनके द्वारा जो अनुमान लगाया जाता है वह बहुत उपयोगी होता है। अतः निर्देशाक अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ व्यापार विशेषज्ञ तथा कूटनीतिज्ञ सभी के लिये समान रूप से उपयोगी होते हैं।

भारत में जो निर्देशाक प्रकाशित किये जाते हैं वे प्रायः अधूरे, पक्षपातपूर्ण, अवैज्ञानिक और अशुद्ध होते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे देश में शिक्षित और अनुभवी जांच कर्ताओं की कमी है जो जनता में विश्वास पैदा करके उनसे ठीक-ठीक आंकड़े पैदा कर सके।

सारांश

(१) मूल्य स्तर में होने वाले उतार-चढ़ाव का सामान्य अनुमान एक विधि द्वारा लगाया जा सकता है जिसे मूल्य-निर्देशाक (Price Index Numbers) कहते हैं। मूल्य-निर्देशाक एक काल से दूसरे काल में वस्तुओं के मूल्य में होने वाले प्रतिशत औसत परिवर्तन को दर्शाते हैं।

(२) मूल्य निर्देशाक दो प्रकार से बनाए जाते हैं—सामान्य-निर्देशांक तथा भारशील-निर्देशाक। सामान्य निर्देशाक बनाने के लिये एक आधार वर्ष चुनना पड़ता है। जिन वस्तुओं के मूल्य का समावेश किया जाता है उनका चुनाव भी करना पड़ता है। आधार वर्ष के मूल्य-स्तर को १०० मानकर किसी अन्य वर्ष से तुलना की जाती है। भारशील निर्देशांक में अधिक आवश्यक वस्तु को कुछ भार-अंक दे दिये जाते हैं क्योंकि उन पर मनुष्य की आय का अधिक हिस्सा व्यय होता है।

(३) निर्देशाक बनाने में कुछ बातें ध्यान में रखनी पड़ती हैं। आधार वर्ष ऐसा चुनना चाहिये जिसमें कोई असाधारण बात न हुई हो जिससे भावों में अधिक उतार अथवा चढ़ाव न हुए हों। वस्तुओं के चुनाव

में भी सावधानी रखना पड़ती है जो बहुत अंश तक निर्देशांक के उद्देश्य पर निर्भर करता है। भार-अंक यदि ठीक से निर्धारित नहीं किये गये तो सही निर्देशांक नहीं बन सकेंगे।

(४) निर्देशाक आर्थिक, व्यापारिक तथा वित्त सम्बन्धी सभी समस्याओं को जानने व समझने के लिये उपयोगी हैं।

प्रश्न

१—मुद्रा का मूल्य किस प्रकार मापा जा सकता है? सोदाहरण समझाइए। (अजमेर बोर्ड, १९५२)

२—निर्देशांक किसे कहते हैं। इनके द्वारा मुद्रा का मूल्य किस प्रकार मापा जा सकता है? उदाहरण देकर समझाइए। (राजपूताना, १९५३, १९४९)

३—वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में निर्देशांको का क्या महत्व है? इनकी तैयारी में किन-किन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है? (राजपूताना, १९५१)

४—क्या आपकी राय मे मूल्य निर्देशांको के द्वारा मुद्रा के मूल्य को सही-सही मापा जा सकता है? (राजपूताना, १९५०)

अध्याय ११

मुद्रा-स्फीति, मुद्रा-संकोच तथा मुद्र

(Inflation, Deflation & Reflation)

मुद्रा का मूल्य समय-समय पर बदलता रहता है और वस्तुओं के भावों में परिवर्तन भी होता रहता है। जब मुद्रा का मूल्य ऊँचा हो जाता है, तो वस्तुओं के भाव नीचे हो जाते हैं, और जब मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है तो वस्तुओं के भाव ऊँचे हो जाते हैं। मुद्रा के मूल्य एवं वस्तुओं के भावों में इसी प्रकार उलट-फेर होती रहती है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने से समाज के कुछ वर्गों को लाभ होता है और कुछ को हानि होती है।

मुद्रा स्फीति (Inflation)

मुद्रा-स्फीति का अर्थ—जब मुद्रा की मात्रा व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं से इतनी अधिक बढ़ जाती है कि लगभग सभी वस्तुओं के मूल्य बढ जाते हैं और मुद्रा की क्रय-शक्ति घट जाती है, तब ऐसी स्थिति को मुद्रा-स्फीति कहते हैं।

यह स्थिति दो प्रकार से उत्पन्न होती है—एक तो जब मुद्रा की मात्रा इतनी अधिक कर दी जाय कि वह व्यापार और उद्योगों की आवश्यकताओं से बहुत अधिक हो जाय और दूसरे, जब मुद्रा की मात्रा उतनी ही रहे परन्तु वस्तुओं का उत्पादन कम हो जाय। इन दोनों स्थितियों में वस्तुओं के भाव ऊँचे हो जाते हैं और मुद्रा की क्रय-शक्ति स्वतः ही कम हो जाती है। पर यह स्मरणीय है कि यदि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि, देश में जनसंख्या तथा व्यापार बढ़ने के कारण की जावे तो उसे मुद्रा-स्फीति नहीं कहेंगे।

मुद्रा-स्फीति के कारण

(१) जब कभी सोने-चाँदी की नई खानों का पता लगने से सोने-चाँदी की मात्रा बढ़ने लगती है, तो मुद्रा की संख्या बढ़ जाती है और मुद्रा स्फीति के लक्षण आ जाते हैं। इसी प्रकार यदि देश में बाहर से सोना-चाँदी आयात होने लगे तो उस देश में मुद्रा की मात्रा बढ़ने लगती है और मुद्रा की क्रय-शक्ति घट जाती है। सन् १८६६ से १६१०-११ ई० तक वस्तुओं के भाव बढ़ने का यही कारण था कि उस समय दक्षिणी अफ्रीका में सोने की खानों का पता लगा था जिससे सोने की मात्रा बढ़ने लगी और मुद्रा की क्रय-शक्ति घट गई थी। सन् १६१४-१८ ई० और इसके पश्चात् भी संयुक्त राज्य अमेरिका, स्वीडन, नार्वे तथा स्पेन में सोने का आयात बढ़ने के कारण वहाँ मुद्रा की क्रय शक्ति घट गई और वस्तुओं के मूल्य बढ़ गये थे।

(२) किसी गम्भीर अवसर पर देश की सरकार जान-बूझकर भी मुद्रा-स्फीति करती है। प्रायः युद्ध के समय सरकार देश में मुद्रा की मात्रा बहुत अधिक बढ़ा देती है। युद्ध काल में सरकार को युद्ध-सम्बन्धी कार्यों के लिये धन की आवश्यकता पड़ती है परन्तु युद्ध के कारण परिस्थितियाँ इतनी अनिश्चित होती हैं कि जनता सरकार को उधार नहीं देती। सरकार नये-नये कर लगाकर भी धन इकट्ठा कर सकती है परन्तु ऐसा करने से जनता में सरकार के प्रति असंतोष पैदा होने लगता है। अतः सरकार अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा छापकर इतनी अधिक संख्या में चला देती है कि मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है और वस्तुओं के भाव ऊँचे हो जाते हैं। मुद्रा की मात्रा तो बढ़ जाती है परन्तु वस्तुओं का उत्पादन उतना नहीं बढ़ पाता।

(३) कभी-कभी शांति-काल में भी जब कभी सरकार को धन की आवश्यकता होती है, और जनता से ऋण नहीं मिलता और न कर लगाकर आवश्यकता की पूर्ति की जा सकती है, तो सरकार पत्र-मुद्रा छापकर अपनी आवश्यकता की पूर्ति करती है जिससे मुद्रा-स्फीति पैदा हो जाती है।

(४) सरकार देश में वस्तुओं के नीचे मूल्यों को ऊँचा उठाने के

लिये भी मुद्रा स्फीति करती है। मन्दी के काल में अमेरिका की सरकार ने मुद्रा स्फीति करके वस्तुओं के भाव ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया था।

मुद्रा स्फीति का प्रभाव

मुद्रा-स्फीति का प्रभाव समाज के भिन्न वर्गो पर एक सा नहीं पड़ता। कुछ लोग को इससे हानि होती है और कुछ लोगों को इससे लाभ होता है। भिन्न-भिन्न वर्गो पर जो प्रभाव पड़ता है वह नीचे दिया जा रहा है—

(१) **व्यापारी वर्ग पर प्रभाव**—मुद्रा-स्फीति के कारण वस्तुओं के मूल्य बढ़ने से थोक या फुटकर व्यापारियों को बहुत लाभ होता है। वे अपना माल ऊँचे भावो पर बेच देते हैं। व्यापारी अधिक लाभ कमाते-कमाते मदमस्त हो जाते हैं तथा और अधिक लाभ कमाने की लालसा से सट्टेबाजी करने लग जाते हैं जिससे व्यापार अनिश्चित हो जाता है तथा धन कमाने के लिये झूट, भ्रष्टाचार तथा काले बाजार फैल जाते हैं।

(२) **ऋणियों तथा ऋणदाता पर प्रभाव**—मुद्रा-स्फीति के समय देनदार को लाभ और लेनदार को हानि होती है। देनदार को ऋण का भुगतान चुकाने में पहिले की अपेक्षा कम मूल्य देना पड़ता है और लेनदार को जितना मूल्य उसने दिया है उससे कम मूल्य प्राप्त होता है। उसे अपने दिये हुये ऋण पर जो व्याज मिलता है, उसका मूल्य भी कम हो जाता है।

(३) **श्रमिक वर्ग पर प्रभाव**—श्रमिकों तथा निश्चित वेतन पाने वाले लोगों को मुद्रा-स्फीति के कारण बहुत हानि होती है। उनका वेतन तो वही रहता है पर वस्तुओं के मूल्य ऊँचे हो जाने के कारण उनकी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पाती। यदि उनका वेतन भी बढता है तो वह उस अनुपात मे नहीं बढ़ाया जाता जिसमें वस्तुओं के दाम बढते हैं। यही कारण है श्रमिक वर्ग मे असतोष फैलता है और हड़तालें होने लगती हैं।

(४) **उद्योगपतियों पर प्रभाव**—मुद्रा-स्फीति के समय उद्योग पतियों को बहुत लाभ होता है। वस्तुओं की कीमतें उनकी लागत की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ जाती हैं। हाँ, लाभ अधिक होने से नये-नये उद्योग-धंधे

खुलने लगते हैं और देश की औद्योगिक उन्नति होने लगती है। पर अत्यधिक लाभ होने से सट्टेबाज़ी होने लगती है और लोगों को उसके दुष्परिणाम भी भुगतने पड़ते हैं।

(५) उपभोक्ताओं पर प्रभाव—मुद्रा-स्फीति के कारण उपभोक्ताओं को हानि होती है, क्योंकि उन्हें पहिले की अपेक्षा अब अधिक मूल्य देने पड़ते हैं। समाज के जिन वर्गों की आय बढ़ जाती है, उनको इतना कष्ट नहीं उठाना पड़ता पर जिनकी आय तो उतनी ही रहती है, पर वस्तुओं के मूल्य अधिक बढ़ जाते हैं, उनको अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

(६) विदेशी व्यापार पर प्रभाव—मुद्रा-स्फीति का विदेशी-व्यापार पर भी प्रभाव पड़ता है। वस्तुओं के मूल्य अधिक हो जाने के कारण उनका निर्यात कम हो पाता है जिससे व्यापारिक संतुलन देश के विपक्ष में होने लगता है।

संक्षेप में, मुद्रा-स्फीति से उद्योगपतियों, व्यापारियों तथा ऋणियों को लाभ होता है पर मजदूरों, वेतन-भोगियों, उपभोक्ताओं को हानि होती है। सरकार तो पत्र-मुद्रा छापकर अपना काम चला लेती है पर इसका आर्थिक प्रभाव समाज पर अच्छा नहीं पड़ता। एक बार मुद्रा-स्फीति का आरम्भ हुआ तो उसे फिर रोकना कठिन हो जाता है। कभी-कभी तो स्थिति इस सीमा तक पहुँच जाती है कि मुद्रा का मूल्य इतना कम हो जाता है कि उसकी कोई उपयोगिता ही नहीं रह जाती। व्यापारियों के आचरण भी बिगड़ जाते हैं।

भारत में मुद्रा-स्फीति

द्वितीय युद्ध-काल में मुद्रा की मात्रा बढ़ती गई परन्तु वस्तुओं का उत्पादन उतनी मात्रा में नहीं बढ़ा। फल यह हुआ कि मुद्रा का मूल्य गिर गया और वस्तुओं के भाव चढ़ गये। मुद्रा-स्फीति का प्रमुख कारण भारत-सरकार द्वारा मित्र-राष्ट्रों को युद्ध में आर्थिक सहायता देना था। भारत-

सरकार ने मुद्रा-स्फीति के दोषों को दूर करने के प्रयत्न किये। मुद्रा की बढ़ी हुई संख्या को वापस खींचने के लिये जनता पर नये-नये कर लगाये; जनता से सरकार ने ऋण लिये तथा सरकार ने सोना भी बेचा जिससे बाजार में क्रय-शक्ति कम हो जाय। वस्तुओं के मूल्य पर नियंत्रण लगाया गया तथा देश में उत्पादन बढ़ाने की नई-नई सुविधाएँ दी गई। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो ने अपने-अपने खर्चे भी कम करने की कोशिश की। चोर बाजारी रोकने के लिये कड़े-कड़े नियम भी बनाए गये। पर मुद्रा-स्फीति का जोर कम न हुआ। युद्ध समाप्त होने के पश्चात् भी वस्तुओ के मूल्य ऊँचे ही बने रहे, और आज भी अधिक या कम मात्रा में ऐसा ही चल रहा है।

मुद्रा-संकोच (Deflation)

जब मुद्रा की मात्रा व्यापार और उद्योग की आवश्यकता से इतनी कम कर दी जाती है कि लगभग सभी वस्तुओं के मूल्य गिर जाते हैं और मुद्रा की क्रय शक्ति बढ़ जाती है, तो उसे मुद्रा-संकोच कहते हैं। प्रो० कीन्स ने लिखा है "मुद्रा-संकोच वह मुद्रा नीति है जिसके द्वारा देश में मुद्रा की मात्रा और उसकी आवश्यकताओं के बीच का अनुपात इतना कम कर दिया जाय कि जिससे मुद्रा की विनिमय शक्ति बढ़ जाय और वस्तुओ के मूल्य नीचे गिर जायं।" दूसरे शब्दों में, मुद्रा-संकोच एक ऐसा साधन है जिससे मुद्रा का आंतरिक मूल्य बढ़ा दिया जाता है और वस्तुओ के मूल्य नीचे गिरा दिये जाते हैं।

कभी-कभी जब मुद्रा-स्फीति के कारण वस्तुओ के मूल्य बहुत ऊँचे हो जाते हैं और लोगों की क्रय-शक्ति कम हो जाती है तो सरकार मुद्रा-स्फीति के दोषों को दूर करने के लिये मुद्रा-संकोच करने लगती है और धीरे-धीरे इतनी अधिक मात्रा में मुद्रा सकुचित हो जाती है कि मुद्रा की मात्रा उसकी आवश्यकता से बहुत अधिक कम हो जाती है। मुद्रा का संकुचन कई प्रकार से किया जा सकता है—

(१) सरकार देश में चलने वाले अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा को रद्द कर सकती है जिससे मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है।
(२) जनता पर भारी-भारी कर लगा कर मुद्रा को चलन में से खींच लिया जा सकता है।
(३) देश का केन्द्रीय अधिकोष अपनी कटौती (Discount Rate) बढ़ाकर मुद्रा-संकोच कर सकता है।
(४) केन्द्रीय अधिकोष जनता से ऋण लेकर चलन में मुद्रा की मात्रा कम कर देता है। तथा वह अपनी खुली-बाजार-क्रियाओं (Open Market Operations) द्वारा जनता को सिक्यूरिटीज बेचकर बदले में मुद्रा लेकर संचित कर लेता है जिससे चलन में मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है।

मुद्रा-संकोच तथा मूल्य-स्तर

मुद्रा-संकोच प्रायः मूल्य-स्तर को नीचा गिराने के उद्देश्य से किया जाता है। पर जिस अनुपात में मुद्रा की मात्रा कम की जाती है, वस्तुओं के मूल्य उससे कम अनुपात में नीचे गिरते हैं। एक प्रसिद्ध मुद्रा-शास्त्री ने लिखा है "वस्तुओं के मूल्य न तो ऐसी पत्थर की दीवारें हैं जिनको तोड़कर गिराया ही न जा सके और न मोम की भाँति इतनी सरस हैं कि जो थोड़ी गरमी पाकर ही पिघल कर गिर पड़े। मुद्रा की मात्रा वस्तुओं के मूल्य-स्तर की अपेक्षा अधिक लोचदार होती है। मूल्य-स्तर के अनुकूल मुद्रा की मात्रा में फेर-बदल करना सरल है परन्तु मुद्रा की मात्रा के अनुकूल मूल्य स्तर में घटा-बढ़ी करना अपेक्षाकृत कठिन है।"

मुद्रा-संकोच के परिणाम

मुद्रा-संकोच का प्रभाव समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों पर एक-सा नहीं पड़ता। कुछ लोगों को इससे हानि होती है और कुछ को इससे लाभ? भिन्न-भिन्न वर्गों पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा अथवा प्रतिकूल, इसका उल्लेख नीचे किया गया है।

कृषिकों पर प्रभाव—मुद्रा-संकोच की स्थिति में वस्तुओं के भाव गिर जाते हैं। किसानों द्वारा उत्पादित अनाज भी सस्ता हो जाता है पर लगान वगैरह में कोई कमी नहीं की जाती। इस कारण किसानों की दशा खराब होने लगती है और वे ऋणी होने लगते हैं। उपज की आय से उनका पूरा नहीं पड़ता। भारतीय किसानों की भी द्वितीय-महायुद्ध के पहिले इसी कारण सोचनीय दशा थी।

उद्योगपतियों पर प्रभाव—मुद्रा-संकोच से उद्योगों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। वस्तुओं के दाम कम हो जाते हैं। उत्पादन कार्य में शिथिलता आ जाती है। देश में बेकारी फैलने लग जाती है और आर्थिक व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है। लोगों के पास क्रय-शक्ति कम रह जाती है जिससे उत्पादित वस्तुओं की माँग कम रह जाती है। उद्योग बन्द होने लगते हैं।

व्यापारियों पर प्रभाव—मुद्रा की कमी होने के कारण व्यापार करने में असुविधा होती है। वस्तुओं के मूल्य गिरने लगते हैं और व्यापारियों को घाटा लगना प्रारंभ हो जाता है। देश का आतरिक व्यापार गिरने लगता है पर विदेशी व्यापार बढ़ता है तथा व्यापार का संतुलन अनुकूल (Favourable Balance of Trade) हो जाता है। मद्रा भी समाप्त प्रायः हो जाता है।

श्रमिक-वर्ग पर प्रभाव—आरम्भ में तो श्रमिकों को लाभ होता है क्योंकि उनका वेतन ऊँचा रहता है तथा वस्तुओं के भाव नीचे गिर जाते हैं। पर फिर जब उद्योग बन्द होने लगते हैं तो उन्हें हानि उठानी पड़ती है तथा बेकारी का सामना करना पड़ता है।

ऋणियों तथा ऋणदाताओं पर प्रभाव—मुद्रा संकोच के समय ऋणदाताओं को लाभ होता है। यह दो प्रकार से होता है। प्रथम, वे ब्याज की दर ऊँची कर देते हैं क्योंकि मुद्रा की न्यूनता होने के कारण लोग ब्याज की ऊँची दर देने में आनाकानी नहीं कर सकते। दूसरे, इस समय मुद्रा का मूल्य भी बढ़ जाता है जिससे ऋणग्रस्तों को जो रुपया

ऋणियों से वापिस मिलता है उससे भी लाभ होता है। इसके विपरीत, ऋणियों को अधिक ब्याज देना पड़ता है तथा ऋण चुकाने पर अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है जिससे उन्हें हानि उठानी पड़ती है।

वेतन-भोगी वर्ग पर प्रभाव—मुद्रा-संकोच के कारण मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है जिससे निश्चित आय वालों का लाभ होता है क्योंकि उनकी आय ज्यों की त्यों बनी रहती है। अतः उनकी आर्थिक दशा अच्छी हो जाती है।

सरकार पर प्रभाव—इस काल उद्योग-धंधे और व्यापार उन्नत-दशा में नहीं रहते जिससे सरकार की आय कम होती है। देश में फैली बेकारी तथा अराजकता निवारणार्थ सरकार को अनेकों निर्माण कार्य करने पड़ते हैं जिससे बेकारी से पीड़ित जनता को कुछ राहत मिल सके।

उपभोक्ताओं पर प्रभाव—उपभोक्ताओं को मुद्रा-संकोच काल में लाभ होता है क्योंकि मूल्य-स्तर नीचा हो जाता है। जिन लोगों की आय निश्चित होती है उन्हें अधिक लाभ होता है। व्यापारियों तथा उद्योग-पतियों की आय कम हो जाती है इस कारण वे इतना अधिक लाभ नहीं उठा पाते।

संक्षेप में, मुद्रा-संकोच के कारण वस्तुओं के मूल्य घटते हैं और व्यापार, उद्योग, कृषि एवं उत्पादन के अन्य श्रोत सूखने लगते हैं जिससे देश की प्रगति रुक जाती है और आर्थिक विकास मंद पड़ जाता है। मुद्रा-संकोच को मानव-समाज पर एक भयंकर आपत्ति समझनी चाहिये जिसके अन्तर्गत वस्तुओं के भाव शनैः शनैः कम होते जाते हैं जिससे व्यापार मंद पड़ जाता है, उद्योग बन्द होने लगते हैं, समाज की प्रगति रुक जाती है, आर्थिक कलेवर छिन्न-भिन्न होने लगता है तथा देश का सम्पूर्ण ढाँचा बिगड़ जाता है।

मुद्रा-संस्फीति (Reflation)

जब कभी मुद्रा-संकुचन इतनी अधिक मात्रा में कर दिया जाय कि

वस्तुओं के मूल्य बहुत अधिक घट जायं, तो ऐसी अवस्था में मूल्य स्तर को उठाने के लिये मुद्रा-प्रसार किया जाता है जिसे मुद्रा-संस्फीति (Reflation) कहते हैं। मुद्राशास्त्री कोल ने लिखा है कि "मंदी को दूर करने के लिये जान-बूझकर जो मुद्रा-प्रसार किया जाता है उसे मुद्रा-संस्फीति कहते हैं। मुद्रा-संस्फीति का उद्देश्य मन्दी को दूर करके मूल्य-स्तर ऊँचा उठाना होता है। मुद्रा-संस्फीति करने से वस्तुओं के भाव एक दम एक साथ ऊँचे नहीं उठते वरन् शनैः-शनैः ऊँचे होते हैं। मन्दी के कारण देश में जो बेकारी फैल जाती है उसे दूर करने के लिये मुद्रा-संस्फीति की जाती है जिससे बेकार लोगों को काम मिल जाय।

मुद्रा-संस्फीति तथा मुद्रा-स्फीति को समान समझना भ्रम होगा। यद्यपि दोनो परिस्थितियों में मुद्रा-प्रसार किया जाता है पर दोनों के उद्देश्यों में अन्तर है। मुद्रा-सस्फीति का उद्देश्य मन्दी को दूर करके मूल्य ऊँचा करना होता है जिससे बेकार लोगों को काम मिल जाय और जब इस उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है तो मुद्रा-प्रसार करना बन्द कर दिया जाता है। मुद्रा-स्फीति का उद्देश्य एक साथ मुद्रा की मात्रा बढ़ाना होता है जिससे मूल्य-स्तर शीघ्र ऊँचा हो जाता है। इसमें मूल्य प्रसार करने की कोई निश्चित सीमा नहीं होती।

मुद्रा-संस्फीति तब तक की जाती है जब तक कि देश मे पूरा रोजगार (Full employment) न हो जाय परन्तु मुद्रा-स्फीति इससे भी आगे होती रहती है।

संक्षेप में, मुद्रा-संस्फीति का परिणाम क्रियात्मक होता और मुद्रा-स्फीति का परिणाम विनाशकारी होता है। मुद्रा-संस्फीति राष्ट्र व समाज के हित के लिये होती है परन्तु मुद्रा-स्फीति सरकार की स्वार्थसिद्धि के लिये होती है। डा० शर्मा ने लिखा है कि "निठल्ली पूंजी और बेकार श्रमिकों को रोजगार देने के उद्देश्य से जो मुद्रा-प्रसार किया जाता हैं उसे मुद्रा-संस्फीति कहते हैं परन्तु यदि इस उद्देश्य की पूर्ति के पश्चात् भी मुद्रा-प्रसार होता है तो उसे मुद्रा-स्फीति कहते हैं।"

सारांश

(१) जब मुद्रा की मात्रा व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं से बढ़ जाती है और मूल्य-स्तर ऊँचा हो जाता है तब ऐसी स्थिति को मुद्रा-स्फीति कहते हैं। मुद्रा-स्फीति के दो कारण होते हैं। प्रथम, जब कभी सोने-चाँदी की खानों से अधिक उत्पादन हो जावे तो मुद्रा की मात्रा बढ़ने से मुद्रा-स्फीति हो जाती है। द्वितीय, जब सरकार अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा छापने का तरीका अपनाती है तब भी मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इससे उद्योगपतियों, व्यापारियों तथा ऋणियों को लाभ होता है पर मजदूरों, वेतनभोगियों, उपभोक्ताओं तथा ऋणदाताओं को हानि होती है। भारतवर्ष में द्वितीय महायुद्धकाल में मुद्रा-स्फीति की स्थिति रही और उसके दोषों से समाज अभी भी मुक्त नहीं हो पाया।

(२) जब मुद्रा की मात्रा उद्योग और व्यापार की आवश्यकता से इतनी कम कर दी जाती है कि मूल्य-स्तर गिर जाता है और मुद्रा की क्रयशक्ति बढ़ जाती है, उस स्थिति को मुद्रा-संकोच कहते हैं। सरकार मुद्रा-संकोच करने के हेतु अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा को रद्द कर देती है अथवा अन्य कर लगा दिये जाते हैं जिससे मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है। मुद्रा-संकोच के कारण उद्योग, व्यापार, कृषि एवं उत्पादन के अन्य स्रोत सूख जाते हैं। आर्थिक विकास मन्द पड़ जाता है। वेतन भोगी वर्ग एवं उपभोक्ताओं को लाभ होता है।

(३) मुद्रा संकोच के कारण गिरे मूल्य-स्तर को उठाने के लिए जो मुद्रा-प्रसार किया जाता है उसे मुद्रा-संस्फीति कहते हैं। यह मुद्रा-स्फीति से भिन्न होती है यद्यपि दोनों स्थिति में मुद्रा प्रसार किया जाता है।

प्रश्न

१—मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संकुचन को समझाकर लिखिए और उनके आर्थिक परिणाम बताइए।

(यू० पी० बोर्ड, १९५३; राजपूताना, १९५२, १९४९)

२—मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-संकुचन में क्या अन्तर है ? इन दोनों में से किसका आय पर बुरा प्रभाव पड़ेगा और कैसा ? समझाकर लिखिए।
(यू० पी० बोर्ड, १९५०)

३—मुद्रा-स्फीति किसे कहते हैं ? इसका समाज में विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ा है ? इसको कैसे रोका जा सकता है ?
(राजपूताना, १९५०)

४—मूल्य-स्तर में परिवर्तन का समाज में विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ता है ? क्या आपकी राय गिरते हुए मूल्य उत्तम होंगे या चढ़ते हुए मूल्य ?
(राजपूताना, १९४८)

अध्याय १२

साख एवं साख-व्यवस्था

(Credit and Credit System)

साख का अर्थ

बताया जा चुका है कि सिक्के और नोट विनिमय-माध्यम का काम करते हैं। इनको देकर बदले में हम वस्तुएं और सेवाएं खरीद लेते हैं और इन्हें लेकर वस्तुएं और सेवाएं बेच देते हैं। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हम उस समय बिना कुछ दिए वस्तुएं खरीद लेते हैं और बिना सिक्के या नोट लिए वस्तुएं बेच भी देते हैं। उदाहरणार्थ, हमें कपड़े की आवश्यकता है। हम किसी परिचित दूकानदार से कपड़ा ले आए और उस समय हम उसे न सिक्के दें और न कोई और वस्तुएं दें, तो क्या इसका अर्थ यह है कि हम दूकानदार को इस कपड़े के बदले में कभी कुछ न देंगे या वह दूकानदार अपने कपड़े के बदले में हमसे कभी कुछ न लेगा ? ऐसी बात नहीं है। यद्यपि हमने कपड़ा लेते समय दूकानदार को कुछ भी नहीं दिया परन्तु थोड़े-बहुत समय के पश्चात् हमें उस कपड़े का मूल्य सिक्के या नोट देकर चुकाना पड़ेगा। तो प्रश्न यह है कि दूकानदार ने कपड़ा देते समय ही हमसे उसका मूल्य क्यों नहीं मांगा और हमने उसी समय उसको उसका मूल्य क्यों नहीं चुकाया ? इसका कारण है हमारा और दूकानदार का पारस्परिक विश्वास। दूकानदार को यह विश्वास होता है कि हम भविष्य में उसे कपड़े का मूल्य चुका देंगे और हमें यह विश्वास होता है कि दूकानदार कपड़े का मूल्य भविष्य में लेने को राजी हो जायगा। यही 'विश्वास' जिसके बल पर हम आज का लिया मूल्य भविष्य में चुकावें 'साख' कहलाती है। साख के

लेन-देन में आज के लिये हुए मूल्य का भुगतान भविष्य के लिए स्थगित कर दिया जाता है। अतः साख का अर्थ 'भुगतान स्थगित करना' भी हो सकता है। साख या उधार का लेन-देन केवल उन व्यक्तियों के बीच में हो सकता है जिनको आपस में एक दूसरे का विश्वास हो। कोई भी दो अपरिचित व्यक्ति साख का लेन-देन नहीं कर सकते। साख स्वीकृत करने से पहले साख स्वीकृत करनेवाला इस बात को भली भाँति देख लेता है कि जिस व्यक्ति की साख स्वीकृत की जा रही है वह भविष्य में मूल्य चुकाने के योग्य है भी या नहीं, वह उसका भुगतान कर देगा या नही और भुगतान करने की उसकी नीयत भी है या नहीं। ये सब बातें साख-लेनेवाले के व्यक्तिगत चरित्र तथा उसकी जायदाद आदि को देखकर ज्ञात हो सकती है। इसी प्रकार दो देशो में साख का लेन-देन साख पर लेने वाले देश की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति पर निर्भर होता है। जिस देश की आर्थिक स्थिति ठोस होती है उसको बड़ी से बड़ी वस्तु तथा अधिक से अधिक माल साख पर मिल सकता है। यही बात उद्योगों के साथ भी होती है। जिन उद्योगो की आर्थिक स्थिति अच्छी होती है उन्हे सरलता से साख स्वीकार कर दी जाती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि साख का मूल आधार 'विश्वास' है और साख पर राशि या वस्तुएं लेना किसी व्यक्ति का बड़ा भारी गुण है।

साख का लेन-देन

साख का लेन-देन वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को वस्तुएं या राशि इस विश्वास पर दे कि लेनेवाला उनका मूल्य चुकाने के योग्य है और भविष्य मे निश्चित तिथि पर चुका भी देगा। साख के लेन-देन मे 'समय' का भी विशेष स्थान है। साख स्वीकृत करनेवाले व्यक्ति को यह देखना पड़ता है कि साख पर दी जानेवाली वस्तुओं या सेवाओं का भुगतान कितने समय के पश्चात् हो सकेगा। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक व्यक्ति दूसरे को एक महीने की अवधि पर साख स्वीकार

कर दे परन्तु दो महीने की अवधि पर न करे। इसका अर्थ यह नहीं कि उन दोनो के बीच आपस का विश्वास बिलकुल नहीं है। हां, इसका अर्थ यह होता है कि एक महीने तक के साख के लेन-देन मे उन दोनो का आपस का विश्वास है परन्तु इसमे अधिक समय तक के लेन-देन में उनका पारस्परिक विश्वास नहीं है।

नकद लेन देन मे वस्तुएं देकर बदले मे नोट या सिक्के ले लिये जाते हैं या सिक्के या नोट देकर वस्तुए खरीद ली जाती हैं। अतः नकद लेन-देन मे वस्तुओं के बदले में तुरन्त हाथों-हाथ उसी समय उनका मूल्य चुका दिया जाता है, परन्तु साख या उधार के लेन-देन मे आज वस्तुएं देकर भविष्य में उनका मूल्य चुकाया जाता है। इसका अर्थ यह है कि साख के लेन-देन मे वस्तुओ और मुद्रा की विनिमय-क्रिया उसी समय पूर्ण नहीं होती वरन् निश्चित समय के बाद भविष्य मे पूरी होती है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि साख का लेन-देन विनिमय की क्रिया को भविष्य के लिए स्थगित करने की एक व्यवस्था होती है। गाइड नामक मुद्राशास्त्री ने स्पष्ट लिखा है कि यदि वस्तु और मुद्रा के विनिमय में 'समय' का पुट लगा दे तो साख का लेन-देन बन जाता है। साख के लेन-देन में ऐसी व्यवस्था होती है जिसके अन्तर्गत वर्तमान वस्तुओ का मूल्य भविष्य में मुद्रा से चुकाया जाता है। अतः साख के लेन-देन में तीन बाते निहित होती हैं:—(१) विश्वास, (२) समय, (३) मूल्य का भुगतान। साख के प्रत्येक लेन-देन मे, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, आपस का विश्वास होना आवश्यक है विश्वास के बल पर ही वर्तमान वस्तुओ का मूल्य भविष्य मे चुकाना सम्भव हो सकता है। साख के लेन-देन मे मूल्य का भुगतान भी एक बहुत बड़ी आवश्यकता है। यदि कोई व्यक्ति आज साख पर वस्तुएं ले और एक महीने के पश्चात् उनका मूल्य चुकाने का वचन दे परन्तु एक महीने के बाद निश्चित तिथि पर भुगतान लेनेवाला मूल्य माफ कर दे तो उसे साख का लेन-देन नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमे मूल्य का भुगतान नहीं हुआ है। इस लेन-देन को भेंट या gift कहना उचित होगा। इसी प्रकार यदि

देनदार निश्चित तिथि-पर यह मूल्य न चुकाए और मूल्य भुगतान करने से बिलकुल इन्कार कर दे तो भी उसे साख का लेन-देन नहीं कहना चाहिए। साख के लेन-देन का अर्थ है मूल्य के भुगतान को स्थगित करना (postponement of payment)। हमारे इन दोनों उदाहरणों में भुगतान चुकाने का काम स्थगित नहीं होता वरन् मूल्य या तो बिलकुल माफ कर दिया जाता है या डूब जाता है। इसलिए ऐसे लेन-देन को साख के सौदे (credit transactions) नहीं कह सकते। साख का लेन-देन तभी कहा जाता है जब उसमें तीनों बातें हों—विश्वास, समय, मूल्य का भुगतान।

साख का लेन-देन दो प्रकार से हो सकता है:—(१) वस्तुओं व सेवाओं का क्रय-विक्रय जिनका मूल्य भविष्य में चुकाया जाय, (२) राशि का लेन-देन जो निश्चित समय के बाद चुकाया जाय।

साख मुद्रा

अभी बताया जा चुका है कि साख-व्यवस्था का मूल आधार 'विश्वास' है। इसी विश्वास के बल पर आज की ली हुई राशि या वस्तुओं का भुगतान भविष्य में किया जा सकता है। साख पर वस्तुएं लेनेवाले को भविष्य में निश्चित तिथि पर उनका मूल्य चुकाने का वचन देना पड़ता है। यह वचन दो प्रकार से दिया जा सकता है—(१) मौखिक, (२) लिखित। मौखिक वचन के अनुसार साख पर राशि या वस्तुए लेने वाला केवल मुंह-जबानी कहकर ही यह विश्वास दिला देता है कि वह निश्चित समय पर उन वस्तुओं का मूल्य चुका देगा या वह राशि लौटा देगा। साख के छोटे छोटे लेन-देन प्रायः मौखिक विश्वास के आधार पर ही तय हो जाते हैं। परन्तु बड़ी-बड़ी राशि के लेन-देन में केवल मौखिक वचन देकर विश्वास दिलाने से ही काम नहीं चलता। ऐसी परिस्थिति में वस्तुओं या राशि के बदले में लिखित वचन भी देना पड़ता है। लिखित वचन एक प्रकार का प्रमाण-पत्र होता है जिसमे साख पर ली हुई वस्तुओं का मूल्य तथा उसको

भविष्य में चुकाने का वचन लिखा रहता है। इन प्रमाण-पत्रों या लिखित वचनों को ही साख-पत्र या साख-मुद्रा कहते हैं। ये साख-पत्र हैं—विनिमय-बिल (Bill of Exchange), प्रतिज्ञा-पत्र (Promissory Notes), बैंक-ड्राफ्ट, चेक आदि।

साख-पत्र या साख-मुद्रा

अभी-अभी बताया गया है कि साख के लेन-देन में वस्तु या राशि लेते समय उनके बदले में प्रायः साख-पत्र देने पड़ते हैं। अतः साख-पत्र साख के लेन-देन में एक प्रकार से विनिमय माध्यम का काम करते हैं। चेक या विनिमय-बिल देकर बदले में वस्तुएं खरीद ली जाती हैं। अब प्रश्न होता है कि क्या हम इन साख-पत्रों को सिक्कों या नोटों की तरह 'मुद्रा' कह सकते हैं? मुद्रा की परिभाषा समझाते समय बताया गया था कि मुद्रा वह वस्तु है जो विनिमय का माध्यम हो तथा जिसको वस्तुओं और सेवाओं के क्रय-विक्रय में देश के सभी लोग स्वीकार करें। सिक्के और नोट विनिमय के ऐसे ही माध्यम हैं जिनको देश में रहनेवाले सभी लोग बिना किसी हिचकिचाहट के लेन-देन में स्वीकार करते हैं। चेक, विनिमय बिल, प्रतिज्ञा-पत्र तथा अन्य साख-पत्रों में यह बात नहीं होती। इनको देश के सभी लोग सिक्कों या नोटों की तरह स्वीकार नहीं करते वरन् वे ही लोग लेते-देते हैं जो एक-दूसरे को भली-भांति जानते हों और जिनमें आपस का विश्वास हो। अतः साख-पत्रों का चलन सिक्कों और नोटों की अपेक्षा बहुत सीमित होता है।

सिक्कों और नोटों को लोग इकट्ठा करके संचित करते हैं परन्तु चेक, बिल, प्रतिज्ञा-पत्रों आदि को कोई भी संचित नहीं करता। इसलिए ये साख-पत्र सिक्कों और नोटों की भांति 'मुद्रा' नहीं कहे जा सकते।

सिक्कों का अपना कुछ धातु-मूल्य होता है तथा सरकार उन्हें कानूनी मुद्रा घोषित करती है। इसी प्रकार नोटों के चलने में कानून का बल होता है। परन्तु चेक, बिल आदि साख-पत्रों का न तो सिक्कों की भांति कोई अपना मूल्य होता है और न सरकार उन्हें कानूनी मुद्रा घोषित करती है। ये केवल

आपस की साख और विश्वास के बल पर ही लिये-दिये जाते हैं। अतः इन साख-पत्रों को सिक्कों और नोटों की तरह 'मुद्रा' नहीं कहा जा सकता। हां, उन्हें 'साख-मुद्रा' कहना कोई अनुचित बात नहीं होगी। जान्सन नामक मुद्रा-शास्त्री ने लिखा है कि सिक्कों और नोटों की तरह चेक, बिल तथा प्रतिज्ञा-पत्रों में भी कुछ गुण होने आवश्यक हैं; जैसे—

(१) वे सरलता से पहिचाने जा सकें।
(२) लोग उनको जालसाजी करके सरलतापूर्वक न बना सकें।
(३) वे आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न राशि के हों।

जॉन्सन के इस कथन से यह बात सिद्ध होती है कि चेक, बिल आदि साख-पत्र भी मुद्रा के रूप कहे जा सकते हैं। चूंकि ये लेनदार और देनदार की पारस्परिक साख पर चलते हैं अतः इन्हें साख-मुद्रा कहना ही उपयुक्त होगा।

साख का महत्व

(१) उत्पादन में वृद्धि—वर्तमान समाज में साख का बहुत महत्व है। कृषि, उद्योग, व्यापार एवं उपभोग—सभी क्षेत्रों में साख का लेन-देन अनिवार्य बन गया है। आजकल तो साख का लेन-देन 'वाणिज्य का जीवन' तथा 'आधुनिक व्यापार का मूल आधार' समझा जाता है। बिना साख और साख के लेन-देन के आजकल का विशाल उत्पादन संभव नहीं हो सकता था। आजकल तो प्रत्येक व्यक्ति साख पर राशि या वस्तुएं लेकर उत्पादन बढ़ाता है। साख के लेन-देन के कारण वही व्यक्ति लेनदार है और वही देनदार भी है। इस प्रकार उत्पादन की पेचीदा गाड़ी आगे बढ़ रही है। यही नहीं, उपभोग में भी साख का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। अधिकांश लोग आज साख पर वस्तुएं लेकर अपना जीवन-यापन करते हैं। आवश्यकता की वस्तुएं तथा आराम और विलास की वस्तुएं—सभी साख पर ली जाती हैं। कठिनाई के समय साख पर राशि या वस्तुएं लेकर मनुष्य अपने संकट को

पार करने लगा है। सम्पत्ति उत्पादन करने की वर्तमान पेचीदा पद्धति आज साख के लेन-देन से ही सम्भव हुई।

(२) **साधनों का महत्तम उपयोग**—जो मनुष्य अपनी सम्पत्ति और साधनों का अधिक से अधिक उपयोग नहीं कर सकता, वह साख के द्वारा अपने साधनों को दूसरे लोगों को देकर अधिक से अधिक लाभ उठा सकता है। इस प्रकार साधनों का महत्तम उपयोग होता है तथा देश की सम्पत्ति में भी वृद्धि होती है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके पास सम्पत्ति और साधन होते हैं परन्तु वे उनका उपयोग नहीं कर पाते, दूसरे लोग ऐसे होते हैं जिनके पास सम्पत्ति उत्पादन करने की कला होती है परन्तु साधन नहीं होते। साख के द्वारा इन दोनों प्रकार के लोगों को लाभ मिल सकता है।

(३) **व्यापार का विकास**—साख के द्वारा ही आज व्यापार इतनी उन्नति कर सका। बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ साख के कारण जनता में हिस्से बेचकर पूंजी इकट्ठी करती हैं जिससे देश की सम्पत्ति बढ़ाने में सहायता मिलती है। साख के कारण ही लोग अपनी-अपनी राशि बैंकों में जमा करते तथा बैंक भी लोगों को राशि उधार देते हैं।

(४) **बचत को प्रोत्साहन**—साख-संस्थाओं (बैंक आदि) के द्वारा देशवासी बचत करना सीखते हैं जिससे देश की पूंजी बढ़ती है।

(५) **धातु की बचत**—साख के द्वारा साख-मुद्रा (चेक, बिल आदि) का प्रचार बढ़ता है। साख-मुद्रा के कारण सिक्कों और नोटों की बचत होती है। सिक्कों की बचत होने से सोने-चाँदी तथा अन्य धातुओं की बचत होती है। इस बचत को देश के अन्य उत्पादन के कामों मे लगाकर देश की सम्पत्ति बढ़ाई जा सकती है। साख-मुद्रा के कारण बड़ी-बड़ी राशि के भुगतान लेने-देने में तथा दूर-दूर राशि भेजने में सुविधा रहती है। इनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बड़ी सरलता से भुगताए जा सकते हैं। साख-मुद्रा ने सिक्कों और नोटों के चलन को बहुत कम कर दिया है।

(६) **मूल्य-स्तर का संतुलन**—साख से कीमतों की घट-बढ़ भी संतुलित हो जाती है। जब कभी समाज में मुद्रा की आवश्यकता होती है तो

बैंक साख के रूप में उसे बढ़ा देते हैं और जब उसकी उतनी आवश्यकता नहीं रहती तब वे उसे समेट लेते हैं। इस प्रकार वस्तुओं के भावों में स्थिरता बनी रहती है।

(७) भीमकाय उत्पादन का विकास—साख के द्वारा ही भीमकाय उत्पादन के बड़े-बड़े कारखाने चल रहे हैं जिनमें देश की मानवीय एवं प्राकृतिक सम्पत्ति का अधिक से अधिक उपयोग होता है। साख के द्वारा श्रम और पूंजी की निपुणता तथा कुशलता बढ़ाई जा सकती है। एक समय था जब कि लोग आपस में एक दूसरे की वस्तुओं का अदल-बदल किया करते थे। उस समय उनको वस्तु-विनिमय में बहुत कठिनाई होती थी। 'मुद्रा' के प्रयोग ने विनिमय की उन कठिनाइयों को दूर कर दिया और लेन-देन में समय की भी बचत की। परन्तु आज 'साख के लेन-देन' ने इस सुविधा को और भी अधिक बढ़ा दिया है। एक मुद्राशास्त्री ने लिखा है कि सबसे पहिले 'वस्तु-विनिमय' रूपी रेंगती हुई 'नाव' थी जो केवल पानी पर चलती थी, इसके बाद 'मुद्रा'-रूपी तेज दौड़नेवाली 'मोटर' आई जो व्यापार रूपी सड़कों पर बड़ी तेजी से चलने लगी और आज 'साख'-रूपी 'बिजली की रेल' है जो मोटरों से भी अधिक तेज दौड़ती है। साख के द्वारा लेन-देन का काम बहुत सरल हो गया है। जॉन्सन ने तो यहां तक लिखा है कि साख के लेन-देन आधुनिक व्यापार-जगत के बड़े महत्वपूर्ण सन्देश वाहक यन्त्र के समान हैं। यदि आज टेलीग्राम और टेलीफोन के तारों को तोड़ दिया जाय तो आधुनिक व्यापार-जगत को इतनी कठिनाई नहीं होगी जितनी साख के लेन-देन तोड़ने से हो जायगी। एक वाक्य में, साख 'वाणिज्य की आत्मा', 'मौद्रिक व्यवस्था का मूल-आधार' तथा 'सभ्यता का प्रतीक' है।

साख के दोष

संसार में प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं—एक अच्छा और दूसरा बुरा। प्रकृति के इस सिद्धान्त के अनुसार साख के लाभ भी हैं और दोष भी।

साख से मिलनेवाले लाभों पर 'साख के महत्व' शीर्षक के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है। यहां साख के दोषों पर प्रकाश डालेंगे।

(१) साख के द्वारा मनुष्य फिजूलखर्च करने लगता है। मनोविज्ञान से यह बात सत्य है कि मनुष्य अपने परिश्रम से पैदा की हुई सम्पत्ति को बड़ी योग्यतापूर्वक तथा बड़े सोच-विचार के पश्चात् व्यय करता है। परन्तु दूसरे की सम्पत्ति का उसकी दृष्टि में उतना महत्व नहीं होता। अतः वह साख पर ली हुई राशि को निर्दयता के साथ व्यय करता जाता है जिससे थोड़े समय के बाद ही वह फिजूलखर्च बन जाता है।

(२) ठीक यही बात उत्पादन के विषय में भी लागू होती है। व्यापारी लोग साख पर राशि लेकर व्यापार करते रहते हैं। धीरे-धीरे वह उधार बढ़ाते जाते हैं और फिर आवश्यकता से अधिक पूंजी व्यापार में लगा देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पूंजी के अनुपात में व्यापार से मिलनेवाला लाभ कम हो जाता है और व्यापार को बन्द करने तक की नौबत आ जाती है। इससे केवल उसी व्यापारी को हानि नहीं होती वरन् व्यापार के अन्य क्षेत्रों में भी इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। उसका व्यापार समाप्त होने से साख स्वीकृत करनेवालों की राशि डूब जाती है तथा साख का लेन-देन कम हो जाता है।

(३) बहुत से अयोग्य और चालाक लोग उधार राशि लेकर व्यापार करते हैं और थोड़े समय तक चलाने के बाद फिर रुपया खा जाते हैं और व्यापार बन्द कर देते हैं। इससे उनको तो कोई हानि नहीं होती परन्तु दूसरे लोगों की राशि डूब जाती है तथा व्यापार भी सकट-ग्रस्त बन जाता है; आपस की साख कम होने लगती है और उत्पादन का क्रम बिगड़ जाता है।

(४) साख पर ली हुई राशि से सट्टेबाजी बढ़ जाती है। अधिक सट्टेबाजी बढ़ने से व्यापार और उद्योगों को हानि होने की सम्भावना बढ़ जाती है। कभी-कभी तो इसके कारण बड़े-बड़े व्यापार नष्ट हो जाते हैं।

(५) कभी-कभी देश में साख-मुद्रा की मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि अन्य मुद्राओं की अपेक्षा उसकी मात्रा अधिक हो जाती है। इससे लोगों का

विश्वास टूटने का भय रहता है। यदि किसी समय देश का केन्द्रीय बैंक आवश्यकता से अधिक नोट चला दे तो मुद्रा का मूल्य कम हो जाने का भय रहता है। उस समय फिर मुद्रा-संकुचन करने की आवश्यकता पड़ जाती है। मुद्रा-संकुचन करने से व्यापार तथा उद्योगों को और भी अधिक हानि होने का भय रहता है।

(६) साख-व्यवस्था के कारण ही देश की अधिकांश सम्पत्ति कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में इकट्ठी हो जाती है। ये लोग पूंजीपति बन बैठते हैं। ये पूंजीपति अन्य साधनहीन लोगों का शोषण करने लगते हैं तथा वस्तुओं के भाव जैसा चाहें घटा-बढ़ा देते हैं। इससे जन-साधारण को संकट पैदा हो सकता है।

(७) जब सरकार को साख पर जनता से जन-ऋण के रूप में अधिक राशि मिलने लगती है तो सरकार भी फिजूलखर्च करके रुपया नष्ट करने लगती है।

साख और साख के लेन-देन के दोषों को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि देश की केन्द्रीय सरकार देश की साख-व्यवस्था पर पूरा-पूरा नियन्त्रण रक्खे। साख पर नियन्त्रण करने का काम देश के केन्द्रीय बैंक को सौंप देना चाहिए। साख का उचित नियन्त्रण होने से ही देश को लाभ मिल सकते हैं।

साख मुद्रा के भेद

(Types of Credit Instruments)

बैंक मूलतः चेक द्वारा राशि निकालने के लिए अपने जमाकर्ता को अधिकार देता है। चेक एक ऐसा लिखित अनिर्बन्ध आदेश-पत्र होता है जिसमें बैंक का जमाकर्त्ता अपने बैंक को चेक द्वारा मांग करने पर लिखित राशि भुगतान करने का आदेश देता है। नेगोशिएबिल इन्स्ट्रूमेन्ट्स एक्ट के अनुसार चेक बैंक पर लिखा गया ऐसा विनिमय-पत्र है जिसका भुगतान

माँग होने पर किया जाता है। चेक की मूल शर्तें ये हैं—(१) चेक लिखित आदेश होना चाहिए, केवल मौखिक आदेश से चेक नहीं माना जा सकता; (२) यह आदेश अनिर्बन्ध हो अर्थात् इसके भुगतान के विषय में किसी प्रकार की शर्त न लगाई जाय; (३) यह आदेश किसी निश्चित बैंक पर हो और इस बात का बोध होता हो कि अमुक बैंक की किस शाखा पर चेक का भुगतान होगा; (४) चेक का भुगतान माँग करने पर हो; (५) चेक लिखनेवाले व्यक्ति के चेक पर हस्ताक्षर अवश्य हों; (६) जिस राशि का भुगतान हो वह राशि अंकों में और शब्दों में स्पष्ट रूप से लिखी जाय; (७) जिस व्यक्ति को भुगतान आदेशित किया जाय उसका नाम चेक में स्पष्ट रूप से लिखा हो।

चेक का प्रारूप

Date 4/8/67	No. 256 $\frac{02}{156}$ ..4/8..1967
	THE PUNJAB NATIONAL BANK Ltd.
Pay to Self	NAGPUR.
Rs 324057/-	*Pay to* Self .... *or order*
	Rupees 324057/- .... *only.*
	Rs. 324057/-
Signature.	Signature of the Drawer.

चेक लिखते समय चेक लिखनेवाले को निम्न बातों का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। यदि इन बातों में से किसी भी विषय में अनिश्चितता रही तो बैंक चेक का अनादरण कर देता है।

(१) तिथि—जिस तिथि को चेक लिखा जाय वह तिथि चेक पर अवश्य होनी चाहिए अन्यथा बैंक उसे 'तिथिविहीन' चेक कहकर अनादरण कर देगा। चेक पूर्व-तिथीय (Ante-dated) तथा उत्तर-तिथीय (Post-dated) होते हैं। पूर्व-तिथीय चेक वे होते हैं जिन पर जिस दिन वे भुगतान के लिए प्रस्तुत किए जायं उससे पहले की तिथि होती है। ऐसे चेक का भुगतान बैंक अवश्य करता है। पर यदि चेक ६ महीने पूर्व लिखा गया हो और उस पर ६ महीने पूर्व की तिथि हो तो बैंक उसका भुगतान नहीं करेगा। ऐसे चेक को वीत-कालीन (Stale) चेक कहते हैं। उत्तर-तिथीय चेक उसे कहते हैं जिस पर जिस दिन वह भुगतान को प्रस्तुत किया जाय उससे आगे की तिथि अंकित होती है। ऐसे चेक का भुगतान निर्दिष्ट तिथि से पहले नहीं किया जाता।

(२) राशि—चेक पर राशि के लिए प्रायः दो स्थान होते हैं जिनमें से एक पर अङ्कों में तथा दूसरे स्थान पर शब्दों में राशि लिखी जाती है। राशि लिखते समय विशेष ध्यान रखना चाहिए कि वे दोनों ठीक-ठीक मिलती-जुलती हों और इस प्रकार लिखी हों कि कोई भी अन्य व्यक्ति उनमें फेर-बदल न कर सके और यदि करे भी तो वह स्पष्ट ज्ञात हो जाय।

(३) लेखक के हस्ताक्षर—चेक लिखनेवाले को अपने हस्ताक्षर ठीक उसी प्रकार लिखने चाहिए जिस प्रकार उसने अपने हस्ताक्षर बैंक को खाता खोलते समय निदर्शन रूप में दिए थे। हस्ताक्षर की मुहर लगा देने से हस्ताक्षर बैंक को मान्य नहीं होते। अनपढ़ व्यक्ति अपने हाथ के अंगूठे का चिह्न लगाकर चेक बैंक को भुगतान के लिए भेज सकता है परन्तु इस चिह्न के लिए किसी अन्य साक्षी के हस्ताक्षर बैंक करवा लेते हैं। यदि कोई ग्राहक बीमार है और वह अपने हस्ताक्षर ठीक नहीं कर सकता तो उस स्थिति में उसके हस्ताक्षर उसके डाक्टर के हस्ताक्षर से प्रमाणित किए जाते हैं।

(४) भुगतान पानेवाले का नाम—जिस व्यक्ति के नाम चेक दिया जाय उसका नाम चेक में यथास्थान स्पष्ट लिखा होना चाहिए। उस नाम के आगे-पीछे किसी प्रकार की उपाधियाँ लिखने की आवश्यकता नहीं होती।

चेक सामान्यतः दो प्रकार के होते हैं—(१) आदेश-चेक, (२) वाहक चेक। आदेश-चेक का भुगतान चेक में अङ्कित व्यक्ति को अथवा उस व्यक्ति के द्वारा आदेशित किसी अन्य व्यक्ति को ही मिल सकता है। परन्तु आदेशित व्यक्ति को भुगतान तभी मिलेगा जब चेक में अङ्कित मूल व्यक्ति आदेशित व्यक्ति के नाम चेक पर पृष्ठांकन करके हस्तान्तरण कर देगा। वाहक चेक की राशि का भुगतान किसी भी व्यक्ति को जिसके पास वह चेक हो और वह बैंक पर नियमित रीति से प्रस्तुत करे, मिल सकता है। बैंक चेक का भुगतान करते समय भुगतान लेनेवाले व्यक्ति के हस्ताक्षर चेक पर कराके 'वसूल पाया' लिखा लेता है।

एक दूसरे वर्गीकरण के अनुसार भी चेक दो प्रकार के होते हैं—(१) खुला चेक, (२) रेखांकित चेक। खुला चेक उसे कहते हैं जिसका भुगतान बैंक के कार्यालय में जाकर प्राप्त किया जा सकता है। यदि चेक वाहक-चेक है तो कोई भी व्यक्ति जिसके पास वह चेक हो बैंक से उसकी राशि प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार आदेश-चेक पर भी चेक में लिखित मूल व्यक्ति अथवा पृष्ठांकित व्यक्ति के जाली हस्ताक्षर बनाकर बैंक से उसका भुगतान प्राप्त किया जा सकता है। अतः यातायात के लिए खुला चेक असुविधाजनक होता है, क्योंकि उसमें कपट की सम्भावना रहती है। रेखांकित चेक वे होते हैं जिन पर दो आड़ी समानान्तर रेखाएं खींच दी जाती हैं, और जिनका भुगतान बैंक के कार्यालय से व्यक्तिगत रूप से नहीं वरन् किसी अन्य बैंक के माध्यम से प्रस्तुत होने पर ही मिल सकता है।

चेकों का रेखांकन—चेक दो प्रकार से रेखांकित किया जाता है—(१) सामान्य रेखांकन, (२) विशेष रेखांकन। सामान्य रेखांकन में केवल दो समानान्तर रेखाएं खींच दी जाती हैं। कभी-कभी इन दो रेखाओं के बीच मे & Co. शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है। इस रेखांकन का आशय यह होता है कि उस चेक का भुगतान किसी भी अन्य बैंक के माध्यम द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। ऐसे रेखांकन में आड़ी रेखाओं के बीच में Not

Negotiable अर्थात् अपरिक्राम्य शब्द भी लिख दिए जाते हैं। इसका तात्पर्य यह होता है कि उस चेक का हस्तान्तरक हस्तान्तरिती को अपनी उपाधि से अच्छी उपाधि नहीं दे सकता अर्थात् चेक का हस्तान्तरण तो हो सकता है किन्तु उसमें परिक्राम्यता नहीं रहती; उदाहरणार्थ—यदि किसी हस्तान्तरक ने चेक चुराया और किसी माल के भुगतान में हस्तान्तरिती को दे दिया तो हस्तान्तरिती उसको मूल्य के बदले में एवं सद्भावना से लेते हुए भी अच्छे अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। इस कपट का ज्ञान होने पर उस चेक की राशि चेक के वास्तविक अधिकारी को लौटानी होगी। इसलिए इस प्रकार के रेखांकित चेक केवल परिचित व्यक्तियों में ही हस्तान्तरित हो सकते हैं। विशेष रेखांकन में चेक पर समानान्तर रेखाओं के बीच किसी बैंक-विशेष का नाम लिख दिया जाता है। इसका तात्पर्य यह होता है कि उस चेक का भुगतान केवल उस बैंक-विशेष के माध्यम द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। कभी-कभी इन रेखाओं के बीच Account payee only लिख दिया जाता है। इसका अर्थ यह है कि उस चेक की राशि चेक में लिखित व्यक्ति के लेखे में जमा होनी है और उसकी नकद राशि उसको नहीं मिल सकती।

चेक का रेखांकन चेक का लेखक कर सकता है तथा चेक पानेवाला कोई भी अन्य व्यक्ति भी कर सकता है। यदि कोई चेक सामान्य रेखित है तो चेक में लिखित व्यक्ति अथवा अन्य कोई पृष्ठांकक उसका विशेष रेखांकन कर सकता है। विशेष रेखांकित चेक का कोई भी पृष्ठांकक उस को अपरिक्राम्य रेखांकन में बदल सकता है। विशेष रेखांकित चेक को कोई भी बैंक किसी दूसरे बैंक के नाम, जो उसका संग्रह एजेन्ट हो, पुनः विशेष रेखांकित कर सकता है। रेखांकित चेक उन्हीं व्यक्तियों को स्वीकार करने चाहिए जिनके अपने लेखे किसी बैंक में हों अन्यथा उनका भुगतान लेने में बड़ी कठिनाई होती है। तब उस चेक का भुगतान ऐसे व्यक्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है जिसका किसी बैंक में लेखा हो।

चेक रेखांकन की विविध रीतियाँ
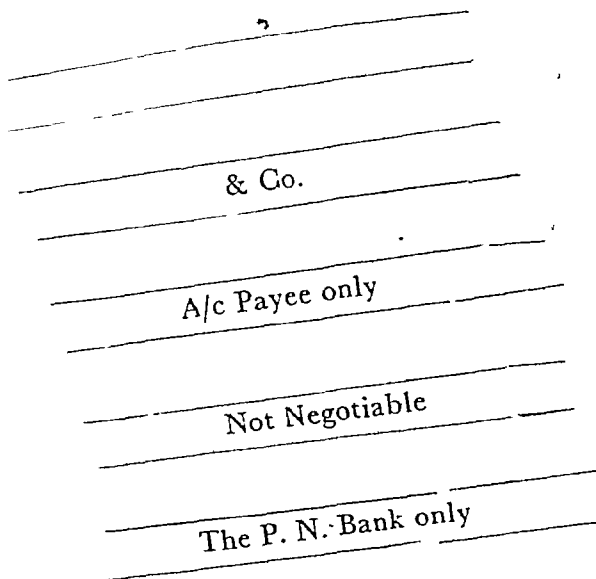
चेकों की पृष्ठांकना—जब कोई व्यक्ति चेक के पृष्ठ पर अपने हस्ताक्षर करके उस चेक का हस्तानान्तरण किसी अन्य व्यक्ति को करे तो उसे चेक की पृष्ठांकना कहते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि पृष्ठांकन करनेवाला व्यक्ति उस चेक का वास्तविक और वैधानिक अधिकारी है और उस चेक की सम्पत्ति का अधिकार अन्य व्यक्ति को सौंप रहा है। पृष्ठांकना से चेक को लेनेवाला व्यक्ति उसका वैधानिक अधिकारी बन जाता है। चेक की सम्पत्ति का वैधा-

निक अधिकार हस्तान्तरिती को चेक के केवल हस्तान्तरण मात्र से ही नहीं मिलता, उसके लिए पृष्ठांकना करना भी आवश्यक है। पृष्ठांकना करनेवाले व्यक्ति को पृष्ठांकक और जिसके नाम पृष्ठांकना की जाती है उसे पृष्ठांकिकी कहते हैं।

पृष्ठांकना निम्न प्रकार की होती है :—

(१) सामान्य पृष्ठांकना—इसमें पृष्ठांकक केवल अपने हस्ताक्षर कर देता है। 'आदेश-चेक' पर सामान्य पृष्ठांकना करने से वह चेक वाहक-चेक बन जाता है।

(२) विशिष्ट पृष्ठांकना—इसमें पृष्ठांकक अपने हस्ताक्षर करने के अतिरिक्त पृष्ठांकिकी का नाम जिसको वह चेक की सम्पत्ति का वैधानिक अधिकार सौंपना चाहता है, लिख देता है। जैसे—

रामकिशन अथवा उनके आदेश पर भुगतान हो।

देवप्रकाश
५.५.'५३

इसका अर्थ यह है कि उस चेक का भुगतान यदि रामकिशन लेना चाहें तो उन्हें भुगतान होते समय अपने हस्ताक्षर करने पड़ेंगे। यदि वे उस चेक की सम्पत्ति का वैधानिक अधिकार किसी अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरण करना चाहें तो उन्हें भी उस चेक की पृष्ठांकना करनी होगी।

(३) सीमित पृष्ठांकना—यदि पृष्ठांकक किसी व्यक्ति विशेष के नाम उस चेक की सम्पत्ति का वैधानिक अधिकार सीमित रखना चाहे तो उस व्यक्ति के नाम के पहले 'केवल' शब्द का प्रयोग करके अपने हस्ताक्षर द्वारा पृष्ठांकना करनी चाहिए। जैसे—

केवल रामकिशन को ही भुगतान हो।

देवप्रकाश
५.५.'५३

(४) दायित्वहीन पृष्ठांकना—जब पृष्ठाकक चेक के अनादरण से होने वाला दायित्व अपने ऊपर नहीं लेना चाहता तो उस समय वह 'दायित्वहीन' शब्द लिखकर अपने हस्ताक्षर करके पृष्ठाकना करता है। इस प्रकार के पृष्ठाकन में पृष्ठाकक चेक का अनादरण हो जाने पर किसी प्रकार से उत्तरदायी नहीं होता। किन्तु इसके पूर्व के सब पृष्ठाकक उत्तरदायी बने रहते हैं। जैसे—

दायित्वहीन।

देवप्रकाश
५.५.५३

(५) ऐच्छिक पृष्ठांकना—इस पृष्ठांकना में पृष्ठाकक "अनादरण की सूचना अनावश्यक" शब्द लिखकर अपने हस्ताक्षर कर देता है। इसका अर्थ यह है कि उस पृष्ठाकक को उस चेक का अनादर होने पर उसके अनादरण की सूचना देना आवश्यक नहीं है। वैसे तो नियमानुसार चेक के सब पक्षकारों को चेक के अनादरण की सूचना दी जाती है पर इस प्रकार की पृष्ठाकना करने वाले को अनादरण की सूचना देना आवश्यक नहीं होता। इस प्रकार की पृष्ठाकना आजकल विशेष चलन में नहीं है। पृष्ठाकक को अनादरण की सूचना न देने का अर्थ यह नहीं है कि उस पृष्ठाकक का कोई दायित्व ही न हो। सूचना न मिलने पर भी उसका दायित्व अवश्य होता है।

चेक की पृष्ठाकना करते समय पृष्ठाकक को बड़ी सावधानी बर्तनी चाहिये। निम्न बातों पर विशेष रूप से सावधान होना चाहिए—पृष्ठाकक का नाम जिस प्रकार चेक के अन्तर्गत लिखा हो उसी प्रकार वह अपने हस्ताक्षर करे। यदि वह चाहे तो उसके नीचे अपने सही हस्ताक्षर भी कर दे। पृष्ठांकना चेक के पृष्ठ पर लिखकर की जाय। यदि पृष्ठ पर स्थान शेष न रहे तो एक कागज की नई पर्ची लगा दे। इस पर्ची को Allonge कहते हैं। यदि चेक सामूहिक नामों पर लिखा गया है तो पृष्ठांकना करते समय सब व्यक्तियों के हस्ताक्षर होने चाहिए। यदि चेक किसी कम्पनी या अन्य संस्था के नाम पर लिखा गया हो तो उसकी पृष्ठाकना करते समय कम्पनी के नाम के साथ

'के लिए' लिखकर कम्पनी के उच्च पदाधिकारी को जिसे चेक लेन-देन का अधिकार प्राप्त हो, अपने हस्ताक्षर करने चाहिए, जैसे—

पी० आई० सी० के लिए

देवप्रकाश
व्यवस्थापक
५.५.'५३

यदि चेक में किसी ऐसी स्त्री का नाम हो जो चेक प्राप्त करते समय अविवाहित थी और अब विवाहित है तो उसे अपने हस्ताक्षर विवाहित नाम से करने चाहिए और साथ में अपना पूर्व नाम भी लिख देना चाहिए। पृष्ठांकना के समय पृष्ठांकक को अपनी उपाधिया नहीं लिखनी चाहिए। विवाहिता स्त्री को पृष्ठांकना करते समय अपने नाम से हस्ताक्षर करने चाहिए और फिर अपने नाम के पीछे इस बात का उल्लेख भी कर देना चाहिए कि वह किसकी पत्नी है।

महत्वपूर्ण परिवर्तन—चेक में भी इस प्रकार का परिवर्तन करने पर लेखक को उस स्थान पर अपने हस्ताक्षर करना आवश्यक होता है। यदि चेक में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन किया गया अर्थात् उसमें अंकित राशि, भुगतान के स्थान आदि विषय में कोई परिवर्तन किया गया तो उस प्रकार चेक का स्वरूप ही बदल जाता है और तब बैंक उसका भुगतान नहीं करता। महत्वपूर्ण परिवर्तन उसे कहते हैं जिससे चेक की मूल वैधानिक भाषा में परिवर्तन हो जाय अथवा जिससे पक्षकारों के दायित्व में फेर-बदल आ जाय—चाहे ऐसा परिवर्तन लेखक की दृष्टि से हानिकारक हो अथवा नहीं। महत्वपूर्ण परिवर्तन सामान्यतः ये हैं—(१) राशि का परिवर्तन, (२) तिथि का परिवर्तन, (३) स्थान का परिवर्तन, (४) भुगतान पानेवाले के नाम में परिवर्तन, (५) यदि चेक विशेषरूपेण रेखांकित है तो उसे सामान्य रेखांकित बनाना, (६) आदेश-चेक को वाहक-चेक बनाना। इस प्रकार के महत्वपूर्ण परिवर्तन चेक के सब पक्षकारों की सम्मति से किये जा सकते हैं और उन परिवर्तनों पर लेखक के हस्ताक्षर होने अनिवार्य हैं। भुगतान करने से पहले बैंक को सूक्ष्म

अवलोकन करके यह देख लेना चाहिए कि चेक में उक्त प्रकार से कोई परिवर्तन तो नहीं किया गया है। यदि किया गया हो तो लेखक के हस्ताक्षर का सूक्ष्म निरीक्षण करके यह ज्ञात कर लेना चाहिए कि वे परिवर्तन लेखक ने ही किये हैं।

अंकित चेक—अंकित चेक वह चेक होता है जिस पर बैंक, जिसके ऊपर वह चेक लिखा गया है, अपने हस्ताक्षर करके यह बात प्रमाणित करता है कि जिस दिन वे हस्ताक्षर किए गए थे उस दिन चेक-लेखक के लेखे में चेक का भुगतान करने के लिए यथेष्ट राशि जमा थी। कभी-कभी इस प्रकार चेक अंकित करते समय बैंक यह बात भी स्पष्ट कर देता है कि यदि वह चेक निर्धारित तिथि तक प्रस्तुत किया गया तो उसका भुगतान हो सकेगा। ऐसी स्थिति में चेक उक्त तिथि तक ही प्रस्तुत किया जाना चाहिए अन्यथा चेक का अनादरण होने पर चेक के अंकन के लिए बैंक उत्तरदायी नहीं होता। चेक का अंकन तीन परिस्थितियों में होता है :—

(१) चेक-धारक के आवेदन पर—जब चेक को पानेवाला कोई व्यक्ति बैंक से आवेदन करे तो बैंक उस चेक का अंकन कर देता है। इसका तात्पर्य यह होता है कि उस तिथि को चेक-लेखक के लेखे में पर्याप्त राशि जमा थी।

(२) चेक-लेखक के आवेदन पर—जब बैंक चेक का अंकन कर देता है तो उस दशा में चेक का लिखनेवाला ऐसे अंकित चेक का भुगतान रोक नहीं सकता और यदि किसी कारणवश रोकता भी है तो इस प्रकार भुगतान रोक देने के कारण बैंक को जो हानि होगी उसके लिए चेक-लेखक उत्तरदायी होता है।

(३) संग्राहक बैंक के आवेदन पर—बैंक जब किसी चेक का अंकन करता है तो उसका तात्पर्य चेक के लगभग भुगतान के समान ही माना जाता है क्योंकि ऐसे चेकों का भुगतान रोकने का अधिकार चेक के लेखक के पास नहीं होता। चेक के लेखक तथा संग्राहक बैंक के आवेदन पर चेक का जो अंकन किया जाता है उसका भुगतान चेक-लेखक नहीं रोक सकता

किन्तु चेक-धारक के आवेदन पर अंकित चेक अधिक समय तक चलन में रह सकता है और बैंक उसका भुगतान तभी करेगा जब कि वह समुचित समय में प्रस्तुत किया जाय।

समुचित समय का अर्थ भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। मूलतः यह तीन बातों पर निर्भर होता है—(१) चेक लेखक, चेक धारक और बैंक के स्थान-भेद; (२) चेक के लेने-देने की सामान्य पद्धति, तथा (३) चेक का स्वरूप। यदि चेक-लेखक, चेक-धारक और बैंक तीनों अलग-अलग स्थानों पर रहते हों तो ऐसी स्थिति में चेक के आने-जाने के सामान्य समय की व्यवस्था करने के पश्चात् ही समुचित समय ज्ञात हो सकता है। देश में प्रचलित सामान्य पद्धति पर चेक-प्रस्तुत करने का समुचित समय निर्भर होगा। इसी प्रकार यदि किसी चेक का स्वरूप ऐसा हो कि उसके अधिक समय तक चलन में रहने से कपट की सम्भावना हो तो ऐसे चेक को शीघ्रातिशीघ्र प्रस्तुत करना चाहिए। सामान्यतः चेक उस समय प्रस्तुत करना चाहिए जब कि बैंक का कार्यकाल हो और छुट्टी न हो।

विकृत चेक—यदि कोई चेक किसी आकस्मिक कारण से फट गया हो तो उसे 'विकृत चेक' कहते हैं। विकृत चेक का भुगतान बैंक नहीं करता। चेक-लेखक को चाहिए कि ऐसे विकृत और चिपकाए हुए चेक पर विकृत लिखकर अपने हस्ताक्षर कर दे। यदि कोई चेक संग्राहक बैंक द्वारा अथवा *अन्य किसी धारक द्वारा फट जाय तो बैंक उसका भुगतान तभी कर सकता* है जब कि संग्राहक बैंक उस पर अपनी गारंटी करे। यदि कोई चेक किसी अन्य प्रकार से विकृत हो जाय जिससे उस पर लिखी हुई राशि, तिथि या अन्य कोई महत्वपूर्ण बात मिट जाय या स्पष्ट दिखाई न पड़े तो बैंक उसका भुगतान तब तक नहीं करेगा जब तक कि चेक-लेखक अपने हस्ताक्षर करके उसका स्पष्टीकरण न कर दे।

कूट चेक—'कूट' चेक उसे कहते हैं जिस पर किसी अन्य व्यक्ति ने जालसाजी करके उस व्यक्ति के हस्ताक्षर बना दिए हों जिसके लेखे पर वह चेक लिखा जा रहा है। ऐसी स्थिति में यदि बैंक पूर्ण सावधानी के साथ कार्य

करते हुए भी उस चेक का भुगतान कर दे तो उसके लिए वह उत्तरदायी नहीं होगा। यदि बैंक यह सिद्ध कर दे कि पूर्ण सद्भावना के साथ उसने चेक लेखक के हस्ताक्षर देखकर भुगतान किया है तो वह उसके लिए उत्तर-दायी नहीं होगा। पर यदि बैंक ने चेक-लेखक के हस्ताक्षर मिलाने में असावधानी की और उसका भुगतान कर दिया तो उसके लिए बैंक उत्तरदायी होगा। कूट पृष्ठांकन की स्थिति में यदि बैंक पूर्ण सावधानी के साथ कार्य करते हुए चेक का भुगतान कर दे तो उस गलत भुगतान का दायित्व बैंक पर नहीं होता।

चेक ग्राहक के लेखे में जमा राशि के आधार पर लिखा जाता है। चेक का भुगतान बैंक तभी करता है जब कि चेक-लेखक के लेखे में चेक का भुगतान करने के लिए पर्याप्त राशि हो, चेक समुचित रूप में नियमपूर्वक प्रस्तुत किया जाय। यदि इन तीन बातों में से कोई भी एक नियम पूरा न हुआ तो बैंक चेक का भुगतान करने के लिए बाध्य नहीं होगा। चेक का भुगतान करने से पहले बैंक को निम्न बातें भली प्रकार देख लेनी चाहिए :—

(१) चेक रेखांकित है अथवा सामान्य, चेक का सामान्य रेखांकन किया गया है अथवा विशेष. (२) चेक-लेखक के लेखे में पर्याप्त राशि जमा है अथवा नहीं. (३) चेक नियमित रूप से लिखा गया है या नहीं; (४) चेक-लेखक के हस्ताक्षर वास्तविक हैं या नहीं; (५) चेक विकृत, कूट, उत्तरतिथीय, तथा बीतकालीन तो नहीं है; (६) यदि चेक में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं तो उन पर चेक-लेखक के हस्ताक्षर हैं या नहीं; (७) यदि चेक की पृष्ठांकना की गई है तो वह पृष्ठांकना नियमित है या नहीं।

यदि बैंक ने भुगतान करते समय पूर्ण सावधानी और सद्भावना के साथ उक्त बातों को न देखा और उसका भुगतान कर दिया तो इसका दायित्व बैंक पर होता है और तब बैंक चेक-लेखक के लेखे में वह राशि नाम नहीं लिख सकता।

निम्न परिस्थितियों में बैंक अपने ऊपर किसी प्रकार का दायित्व लिए बिना चेक का भुगतान नकार सकता है :—

(१) जब उसे भुगतान न करने के लिए अपने ग्राहक का आदेश मिला हो; (२) जब चेक-लेखक की मृत्यु हो गई हो, ग्राहक दिवालिया हो गया हो अथवा पागल हो गया हो; (३) जब न्यायालय ने ग्राहक के लेखे में से राशि भुगतान न करने का आदेश दे दिया हो; (४) जब बैंक को ज्ञान हो जाय कि चेक प्रस्तुत करनेवाला व्यक्ति उसका वास्तविक अधिकारी नहीं है; (५) जब चेक नियमित रूप से न लिखा गया हो और समुचित समय में प्रस्तुत न किया गया हो।

चेक के प्रयोग से लाभ—वर्तमान आर्थिक क्षेत्र में चेक द्वारा भुगतान लेने-देने की प्रथा बहुत प्रचलित हो गई है। चेक द्वारा भुगतान लेने-देने से समाज को कई लाभ मिलते हैं—(१) बैंको में राशि जमा रहने के कारण वह धन सुरक्षित रहता है, उसमें किसी प्रकार का अवक्षयण नहीं होता; (२) बड़ी से बड़ी राशि का भुगतान लेन-देन में सुविधा रहती है; (३) राशि के लेन-देन में एक दूसरे को रसीद लेने-देने की आवश्यकता नहीं रहती; (४) यदि चेक पुस्तक खो भी जाय तो बैंक को तत्सम्बन्धी सूचना देकर राशि सुरक्षित रखी जा सकती है; (५) भुगतान में सुविधा मिलने के कारण व्यापार और उद्योगों को प्रगति मिलती है; (६) बैंक में राशि जमा करनेवाले का हिसाब-किताब बैंक स्वयं रख लेता है, उसे स्वयं को हिसाब-किताब रखने की आवश्यकता नहीं; (७) चेको के उपयोग से धातु-मुद्रा या पत्र-मुद्रा की उतनी आवश्यकता नही रहती जिससे सोने-चादी की मितव्ययिता होती है।

इन लाभों के होते हुए भी हमारे देश में चेकों का बहुत अधिक प्रयोग नहीं है। इसका मूल कारण यह है कि हमारे देश में बैंकों का अभाव है जनता अशिक्षित है और लोगों में बैंकों के प्रति पूर्ण विश्वास

नहीं है। चेक का प्रयोग बढ़ाने के लिए बैंकों की संख्या बढ़नी चाहिए, जनता को बैंकों में राशि जमा करने के लिए विशेष सुविधाएं देकर उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए तथा लोगों को शिक्षित बनाकर चेक लिखने में हिन्दी भाषा या प्रांतीय भाषाओं का प्रयोग होना चाहिए।

विनिमय-बिल
(Bill of Exchange)

विनिमय-बिल एक ऐसा लिखित अनिर्बन्ध आदेश-पत्र होता है जिसमें उसका लेखक किसी अन्य व्यक्ति को, जिसका नाम उसमें लिखा जाय, यह आदेश देता है कि वह बिल में अंकित राशि, बिल में लिखित व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार; किसी अन्य व्यक्ति को भुगतान कर दे। इस प्रकार विनिमय-बिल किसी निश्चित व्यक्ति के नाम लिखित और अनिर्बन्ध आदेश होता है जिसमें भुगतान के लिए राशि का उल्लेख रहता है। बिल की मूल बातें ये हैं—(१) लिखित आदेश हो, (२) वह आदेश अनिर्बन्ध हो, (३) आदेशक के उसमें हस्ताक्षर हों, (४) आदेश किसी निश्चित व्यक्ति के नाम हो, (५) भुगतान की जानेवाली राशि का उसमें उल्लेख हो, (६) जिस व्यक्ति को भुगतान होना हो उसका उसमें नाम हो, (७) भुगतान का समय निश्चित हो।

विनिमय-बिल में तीन पक्षकार होते हैं—(१) बिल का लेखक, जो आहर्ता (Drawer) कहलाता है; (२) आहार्यी (Drawee) अर्थात् वह व्यक्ति जिसको बिल में लिखित राशि का भुगतान करना होता है, (३) आदाता अर्थात् वह व्यक्ति जिसके पक्ष में बिल लिखा जाता है।

बिल का प्रारूप

Rs. 2000/-

Kanpur,
16th June, 1955.

Stamp

Sixty days after sight pay to the order Messrs. A. B. & Co., the sum of Rs 2000/- (Two thousand) value received.

J. K. & Co.

To

M/s. Rajesh, Ramesh & Bros.
55, Dharampeth,
Nagpur.

बिलों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। स्थान की दृष्टि से बिल दो प्रकार के होते हैं—(१) देशी-बिल, (२) विदेशी बिल। देशी विनिमय-बिल वे कहे जाते हैं जो भारत में लिखे गये हों एवं जिनका भुगतान भारत में ही हो। इन बिलों को छोड़ जिन बिलों का लेन-देन एक देश से दूसरे देश में होता हो उन्हें विदेशी विनिमय-बिल कहते हैं। विदेशी विनिमय-बिल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रयोग किये जाते हैं। दूसरे वर्गीकरण के अनुसार, बिल दो प्रकार के होते हैं—(१) वाहक बिल, (२) आदेश बिल। वाहक बिल की राशि किसी भी व्यक्ति को, जो उस बिल का संधारक हो, प्राप्त करने का अधिकार होता है। आदेश बिल की राशि पृष्ठांकना

एवं हस्तान्तरण द्वारा किसी व्यक्ति के नाम, पराक्रमण के बिना प्राप्त नहीं हो सकती। अवधि के वर्गीकरण के अनुसार भी बिल दो प्रकार के होते हैं—(१) दर्शनी बिल अथवा अभियाचन बिल, (२) सामयिक बिल। दर्शनी बिल का भुगतान बिल की उपस्थिति पर करना आवश्यक होता है तथा सामयिक बिल का भुगतान बिल पर अंकित अवधि के पश्चात् किया जाता है। व्यवहार की दृष्टि से भी बिल दो प्रकार के होते हैं—(१) व्यापार बिल, (२) अनुग्रह बिल। व्यापार बिलों का प्रयोग केवल व्यापार आदि की सुविधा के लिये किया जाता है। अनुग्रह बिल वे होते हैं जो किसी परिचित व्यक्ति की आर्थिक सहायता द्वारा उसे अनुग्रहित करने के लिये प्रयोग किये जाते हैं।

विदेशी विनिमय-बिल तीन प्रतियों में लिखे जाते हैं जिसकी प्रत्येक प्रति डाक द्वारा प्रेषित की जाती है ताकि उनके खोने की सम्भावना न रहे और वे निश्चित रूप से निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जायें। इन तीन प्रतियों में से भुगतान केवल एक ही प्रति का होता है और दो प्रतियां रद्द मानी जाती हैं।

बिल-लेखक को बिल लिखने के पश्चात् उसे आहार्यी (Drawee) से स्वीकृत कराना पड़ता है। आहार्यी उस समय तक उत्तरदायी नहीं होता जब तक कि वह बिल पर अपनी लिखित स्वीकृति नहीं दे देता। अभियाचन अथवा दर्शनी बिलों को आहार्यी से स्वीकृति कराने की आवश्यकता नहीं होती। बिल की स्वीकृति दो प्रकार की होती है—(१) सामान्य स्वीकृति—जिसमें बिना किसी शर्त के बिल स्वीकार किया जाता है, (२) विशेष स्वीकृति—जिसमें आहार्यी बिल स्वीकृति करने से पूर्व स्थान, राशि, समय आदि के बारे में कुछ शर्त लगाकर अपनी स्वीकृति देता है।

सामयिक बिलों की जो भुगतान-तिथि होती है उस को बिल की परिपक्व तिथि कहा जाता है। इन बिलों में परिपक्व तिथि के पश्चात् भी दिन और दिए जाते हैं जिन्हें अनुग्रह दिवस कहते हैं।

भारतीय मुद्रांक-विधान (Indian Stamp Act) के अनुसार सामयिक बिलों पर उनकी राशि के अनुसार भिन्न-भिन्न मूल्य के टिकट लगाने पड़ते हैं। विदेशी बिलों पर आहर्ता और आहार्यी दोनो के देशों के टिकट लगाना आवश्यक होता है। दर्शनी बिलों पर टिकट लगाने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

भुगतान के लिए बिल को आहार्यी के पास उसके स्थान पर उसके व्यापारिक कार्य-काल में प्रस्तुत करना आवश्यक होता है। यदि इस प्रकार उचित रीति से समय पर बिल प्रस्तुत करने पर आहार्यी ने उस पर भुगतान न किया तो उसका दायित्व आहार्यी पर माना जाता है। बिल का इस प्रकार अनादरण होने पर उसकी सूचना बिल सम्बन्धित सब पक्षकारों को देनी अनिवार्य होती है अन्यथा उनका कोई उत्तरदायित्व नहीं रहता। बिल का अनादरण होने पर नोटेरी पब्लिक द्वारा उसके अनादरण का वैधानिक प्रमाणन करा लेना आवश्यक होता है नोटेरी पब्लिक इसके लिए कुछ फीस वसूल करता है जिसका भुगतान आहार्यी पर थोपा जाता है।

बिलों की राशि का संग्रह बैंकों द्वारा कराया जा सकता है। बैंक को अपने ग्राहक के लिए किसी बिल का संग्रहण करने से पूर्व यह देख लेना चाहिए कि उस बिल का स्वत्व अथवा उपाधि निर्दोष है अथवा नहीं। बिल का अनादरण होने पर बैंक को उसकी सूचना तुरन्त ही अपने ग्राहक के पास भेज देनी चाहिए।

बिल का संधारक यदि चाहे तो अवधि से पूर्व उसकी किसी बैंक से कटौती कराके राशि प्राप्त कर सकता है। बैंक बिल की अवधि का ब्याज काटकर शेष राशि संधारक को दे देता है और बिल को अवधि समाप्त होने तक अपने पास रख लेता है। अवधि समाप्त होने पर वह उसका भुगतान आहार्यी से प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार बिलों की कटौती कराने से बैंक तथा संधारक—दोनों को ही लाभ होता है। बैंक इस प्रकार जो राशि भुगतान करता है वह बिलकुल सुरक्षित रहती है—इसमें विनियोग की हुई राशि बैंक इन बिलों को बेचकर अथवा केन्द्रीय बैंक से पुनः कटौती

करके किसी भी समय प्राप्त कर सकता है। दूसरे, बैंक को कमीशन का लाभ मिलता है जिसे अपहार (Discount) कहते हैं। तीसरे, इनके मूल्य में किसी प्रकार की कमी-वेशी नहीं होने पाती।

विनिमय बिलों के प्रयोग से लाभ—विनिमय बिलों का प्रयोग देशी तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बहुत सुविधाजनक होता है क्योंकि इनके द्वारा निर्यातकों को माल निर्यात करते ही बिल की राशि उसकी कटौती कराते ही प्राप्त हो जाती है। साथ ही आयातकों को उस बिल का भुगतान करने के लिए कुछ समय मिल जाता है जिसमे वे उस अवधि में अपना माल वेचकर राशि का भुगतान कर सकते हैं। बिलों में भुगतान की विधि निश्चित दी हुई होने के कारण देनदार व लेनदार को भुगतान की निश्चित तिथि ज्ञात रहती है। बिलों की कटौती कराने से तत्काल राशि प्राप्त हो सकती है। इनके प्रयोग से देश-विदेश में राशि भेजने-मगाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इससे लेन-देन सुगम बन जाता है।

बिलों की पृष्ठांकना ठीक उसी प्रकार होती है जैसे चेकों की की जाती है।

हुण्डी

(Hundis)

हुण्डियों का प्रयोग भारत में बहुत प्राचीन काल से होता आया है। आज भी देश के विभिन्न भागों में व्यापारिक लेन-देन में हुण्डियों का प्रयोग होता है। हुण्डियां प्रांत-प्रांत की स्थानीय पद्धतियों के अनुसार चलाई जाती हैं। इनके भुगतान एवं चलन की पद्धति स्थानीय व्यापारिक व्यवहारों पर निर्भर होती है। अवधि के अनुसार हुण्डियां दो प्रकार की होती हैं—(१) दर्शनी हुण्डी—जिनका भुगतान हुण्डी को देखते ही करना होता है; (२) मिती अथवा मुद्दती हुन्डी—जिनका भुगतान निश्चित अवधि के पश्चात्, जो हुन्डी में लिखी होती है, करना होता है।

बिलों की भांति हुन्डी में भी तीन पक्षकार होते हैं—(१) आहर्ता, (२) आहार्यी, एवं (३) आदाता। भुगतान की दृष्टि से हुन्डी चार प्रकार की होती हैं—(१) धनीजोग हुन्डी—जिसका भुगतान उसी व्यक्ति को मिलता है जिसका नाम हुन्डी में अंकित होता है; (२) शाहजोग हुन्डी—जिसका भुगतान केवल उस शाह अर्थात् धनी-मानी व्यक्ति को मिलता है जिसका नाम हुन्डी में दिया होता है; (३) फरमान जोग हुन्डी—इसका भुगतान हुन्डी में लिखित व्यक्ति को अथवा उसके अदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को हो सकता है; (४) देखनहार जोग हुन्डी—इसका भुगतान उसी व्यक्ति को हो सकता है जो भी उसे भुगतान के लिए उपस्थित करे।

दर्शनी हुण्डी का प्रारूप

सिद्ध श्री कानपुर शुभ स्थाने श्री पत्री भाई रामचन्द्र जोग नागपुर से सेट जयप्रकाश की जय गोपाल बंचना। अपरञ्च हुन्डी किता नग १ एक आपके ऊपर करी। रुपया ५०० अकेन रुपया पांच सौ नीमे रुपया २५० के दूने यहां रक्खे भाई रामकिशोर मिती जेठ सुदी आठें। तुरन्त शाहजोग रुपया चलन बाजार ठिकाना लगाय चोकस कर दाम देना। हुन्डी लिखी मिती जेठ सुदी आठें सम्वत् २०११ वि०।

द० जय प्रकाश

मुद्दती हुण्डी का प्रारूप

सिद्ध श्री कानपुर शुभस्थाने श्री पत्री भाई रामलाल जोग लिखी कानपुर से जयगोपाल की जय श्रीकृष्ण बंचना। अपरञ्च आपके ऊपर करी हुन्डी १ ५००) रु० अक्षरे पांच सौ, जिसके आधे २५० के दूने पूरे यहां रखे, श्री मूलचन्द्र के पास। मिती फागुन सुदी पंचमी से दिन पटिनामें शाहजोग हुन्डी चलन कलदार दीजो।

मिती फागुन सुदी पंचमी संवत् २०१० ।

हः जयगोपाल

प्राचीनकाल में हमारे यहाँ जोखिम हुन्डी का भी चलन था पर अब इस प्रकार की हुन्डियाँ चलन में नहीं हैं।

प्रण-पत्र (Promissory Notes)—प्रण पत्र वह लिखित पत्र है जिसमें उसका लेखक अपने हस्ताक्षर करके यह प्रण करता है कि वह उसमें लिखित राशि बिना किसी शर्त के पत्र में लिखित व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को अथवा किसी अन्य पत्र-वाहक को अवश्य दे देगा। प्रण-पत्रों पर राशि के अनुसार मुद्रांक-कर लगता है। प्रण-पत्र में दो पक्षकार होते हैं—(१) पत्र लिखनेवाला, (२) जिसको प्रतिज्ञा दी जाती है। यदि कभी प्रण-पत्र खो जाय तो संधारक दूसरी प्रति प्राप्त कर सकता है पर उस स्थिति में उसे क्षति-पूर्ति का दायित्व अपने ऊपर लेना होगा।

प्रण पत्र का प्रारूप

रुपया ५००|-

नागपुर

१० जून १९५५
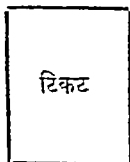
टिकट

आज की तारीख के तीन माह पश्चात् मैं केवल ५०० रुपए जिनका मूल्य प्राप्त हो चुका है, श्री रामकिशन शर्मा को देने का प्रण करता हूँ।

ह० रामकिशोर

श्री रामकिशन शर्मा
कानपुर

प्रण-पत्र तीन प्रकार के होते हैं—(१) वैयक्तिक प्रण-पत्र—जिसमें केवल एक ही लेखक होता है और भुगतान का दायित्व उसी का होता है।

(२) सामूहिक प्रण-पत्र—इसमें प्रतिज्ञा करने वाले कई व्यक्ति होते हैं और वे भुगतान का सामूहिक रूप से दायित्व अपने ऊपर लेते हैं। इस स्थिति में यदि प्रण-पत्र का भुगतान न हो तो संधारक को प्रत्येक व्यक्ति के विरुद्ध सामूहिक रूप से वैधानिक कार्यवाही करनी आवश्यक होती है। (३) सामूहिक एवं वैयक्तिक प्रण-पत्र—इसमें लेखक भुगतान का दायित्व सामूहिक एवं व्यक्तिगत रूप से स्वीकार करते हैं। अतः इसका अनादरण होने पर इसका संधारक प्रत्येक व्यक्ति के विरुद्ध अलग-अलग वैधानिक कार्यवाही कर सकता है।

आइ० ओ० यू० (I. O. U.)—इसका शाब्दिक अर्थ है "मैं ऋण को स्वीकार करता हूँ।" इस प्रकार का पत्र देनदार अपने लेनदार को लिखकर देता है जिससे देनदारी प्रमाणित होती है। छोटे-छोटे लेन-देन में इस प्रकार के पत्रों का प्रयोग होता है। बैंकिंग व्यवसाय में इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

साख पत्र (Letter of Credit)—साख-पत्र उसे कहते हैं जिसमें एक बैंक किसी विदेशस्थित बैंक को अथवा विदेशस्थित अपने किसी एजेन्ट को लिखकर यह आदेश करता है अथवा प्रार्थना करता है कि वह पत्र में लिखित राशि पत्र में लिखित व्यक्ति को भुगतान कर दे। ऐसे पत्र प्रायः विदेश जाने वालों को दिए जाते हैं ताकि वे विदेशों में जाकर राशि प्राप्त कर सकें। विदेश जाने वाला कोई भी व्यक्ति अपने देश में किसी बैंक में राशि जमा करके उसके बदले में ऐसा साख-पत्र प्राप्त कर सकता है। ये साख-पत्र हस्तान्तरित नहीं किए जा सकते और न, इनका परिक्राम्य ही हो सकता है। इस प्रकार के पत्र जो यात्रियों की सुविधा के लिए दिए जाते हैं 'अभियात्री साख-पत्र' भी कहे जाते हैं।

राशि के दृष्टिकोण से साख-पत्र दो प्रकार के होते हैं—(१) स्थायी साख-पत्र—जिसमें एक स्थायी राशि भुगतान किए जाने की व्यवस्था होती है। (२) गतिशील साख-पत्र—जिसमें एक निश्चित अवधि के लिए निश्चित राशि भुगतान किए जाने की व्यवस्था होती है पर वह निश्चित

राशि शनैः शनैः समय-समय पर प्राप्त की जा सकती है। जब उसी अवधि में वह राशि भुगतान हो जाती है तो पुनः उतनी ही राशि का भुगतान फिर मिल सकता है।

दूसरे वर्गीकरण के अनुसार साख-पत्र तीन प्रकार के होते हैं—

(१) सीमित साख-पत्र—ये साख-पत्र किन्हीं विशेष बैंकों तथा एजेन्टों के नाम लिखे जाते हैं और उनका भुगतान उन्हीं से प्राप्त किया जा सकता है, अन्य किसी बैंक से नहीं। इन पत्रों पर संधारक का नाम, उसके हस्ताक्षर, साख की राशि आदि लिखी जाती है।

(२) परिसाख पत्र—ये पत्र किसी बैंक विशेष पर नहीं लिखे जाते वरन् किसी भी बैंक से इनका भुगतान प्राप्त हो सकता है। इसके लिए साख-पत्र देने वाला बैंक सधारक को एक निर्देशन-पत्र देता है जिसमें साख की राशि तथा संधारक के हस्ताक्षर लिखे जाते हैं। जो भी बैंक राशि भुगतान करता है वह उक्त राशि इस निर्देशन-पत्र पर लिख देता है। निर्देशन-पत्र संधारक के पास रहता है और जब तक साख की पूर्ण राशि वह प्राप्त नहीं कर लेता वह उसको अपने पास ही रखता है। जब वह साख की पूर्ण राशि प्राप्त कर लेता है तो निर्देशन-पत्र अन्तिम राशिदाता को दे दिया जाता है।

(३) अभियात्री साख-पत्र—ये पत्र बैंक विशेष के नाम लिखे जाते हैं। ये पत्र उन व्यापारियों को दिए जाते हैं जो माल खरीदने के लिए यात्रा करते हों। आजकल ये पत्र देशाटकों को भी दिए जाने लगे हैं।

बैंक-ड्राफ्ट (Bank Draft)—बैंक ड्राफ्ट बैंक द्वारा अपनी किसी शाखा पर अथवा अन्य किसी बैंक पर लिखे जाते हैं। लिखने वाला बैंक-ड्राफ्ट में लिखित बैंक को आदेश करता है कि वह ड्राफ्ट में लिखित व्यक्ति को अंकित राशि भुगतान कर दे। कोई भी व्यक्ति बैंक में राशि जमा करके उतनी राशि का ड्राफ्ट बैंक से प्राप्त कर सकता है। बैंक-ड्राफ्ट देश के एक स्थान से दूसरे स्थान पर राशि भेजने के काम आते हैं।

Form of an Inland Bank-Draft

PUNJAB NATIONAL BANK Ltd.

No. 256 — Nagpur,
Rs. 5000/- — June 16, 1955.

On Demand pay to Sri R. S. Gupta or order Rupees five thousand only, value received.

For P. N. Bank Ltd.

To
P. N. Bank Ltd.
Calcutta.

Agent

Accountant.

वित्त-बिल (Finance Bills)—ये बिल भविष्य में उत्पादन होने वाली अथवा निर्माण होने वाली वस्तुओं के आधार पर लिखे जाते हैं और उन्हीं के आधार पर इनका भुगतान होता है। इन बिलों को अग्र-बिल भी कहा जाता है। ये बिल विशेषतः कृषि-उत्पादन में वित्तीय सहायता देने के लिए लिखे जाते हैं। इनका उद्देश्य उत्पादकों तथा निर्माणकों को उनके उत्पादन-कार्य में वित्तीय सहायता करना होता है।

सारांश

(१) साख वह विश्वास है जिसके बल पर आज का लिया मूल्य भविष्य में चुकाया जाय। साख के लेन-देन में आज के लिये हुए मूल्य का भुगतान भविष्य को स्थगित कर दिया जाता है। अतः साख का अर्थ 'भुगतान स्थगित' करना भी हो सकता है। साख का लेन-देन उन व्यक्तियों के बीच में हो सकता है जिनको आपस में एक-दूसरे का विश्वास हो। कोई

भी दो अपरिचित व्यक्ति साख का लेन-देन नहीं कर सकते। साख स्वीकृत करने से पहले यह देखना आवश्यक होता है कि जिस व्यक्ति को साख स्वीकृत की जा रही है वह भविष्य में मूल्य चुकाने के योग्य है भी या नहीं, और भुगतान करने की उसकी नीयत है या नहीं? अतः साख के लेन-देन में तीन बातें निहित होती हैं—(१) विश्वास, (२) समय, और (३) मूल्य का अवधि के पश्चात् भुगतान। साख का लेन-देन दो प्रकार का हो सकता है—एक, वस्तुओं और सेवाओं का क्रय-विक्रय, जिनका मूल्य भविष्य में चुकाया जाय। दूसरा, राशि का लेन-लेन जो निश्चित समय के पश्चात् चुकाई जाय। साख पर वस्तुएं लेने वाले को भविष्य में निश्चित तिथि पर उनका मूल्य चुकाने का वचन देना पड़ता है। यह वचन दो प्रकार से दिया जा सकता है—(१) मौखिक, (२) लिखित। लिखित वचनों को नियमानुसार विनिमय-बिल, चैक, प्रतिज्ञापत्र एवं बैंक-ड्राफ्ट कहते हैं। इन लिखित पत्रों को सिक्कों और नोटों की भांति मुद्रा नहीं कहा जा सकता। पर उन्हें 'साख-मुद्रा' कहना कोई अनुचित न होगा क्योंकि वे मुद्रा का काम केवल उन्हीं व्यक्तियों के बीच करते हैं जिनमें पारस्परिक विश्वास हो। साख-मुद्रा कई प्रकार की हो सकती हैं जैसे चेक, विनिमय-बिल, बैंक-ड्राफ्ट, हुण्डी तथा साख-पत्र आदि। साख-मुद्राओं का लेन-देन साख-संस्थाओं के द्वारा होता है। साख-संस्थाओं में बैंक, इन्श्योरेंस कम्पनियाँ, और समाशोधनगृह मुख्य हैं।

(२) वर्तमान समाज में साख का बहुत महत्व है। कृषि, उद्योग, व्यापार एवं उपभोग—सभी क्षेत्रों में साख का लेन-देन अनिवार्य बनता जा रहा है। साख वाणिज्य का जीवन और आधुनिक व्यापार का मूल आधार समझा जाता है। साख के बिना आधुनिक विशाल उत्पादन सम्भव नहीं हो सकता था। साख द्वारा ही बड़ी-बड़ी कम्पनियां अपने अंश बेचकर वृहद् व्यापार चलाती हैं। साख-संस्थाओं से देशवासी बचत करके पूंजी का निर्माण करते हैं। साख द्वारा मूल्य-स्तरों के चढ़ाव-उतार संतुलित होकर स्थिर होते हैं और स्थायी बने रहते हैं। संक्षेप में साख वर्तमान सभ्यता का

प्रतीक है। साख से समाज को कुछ दोष भी मिले हैं—साख से मनुष्य फिजूलखर्च बनता है, साख पर काम करने वाले व्यापारी कभी-कभी नष्टप्राय हो जाते हैं। साख से सट्टेबाजी बढ़ती है और मूल्यों में उच्चावचन होते हैं।

(३) बैंक मूलतः चेक द्वारा राशि निकालने के लिए अपने जमाकर्त्ता को अधिकार देता है। चेक दो प्रकार के होते हैं—(१) आदेश चेक, (२) वाहक चेक। चेक रेखांकित भी किया जाता है जिसका अर्थ होता है कि उसका भुगतान किसी बैंक के माध्यम द्वारा किया जायगा। रेखांकन दो प्रकार का होता है। (१) सामान्य, (२) विशेष। चेक की पृष्ठांकना करके उसे किसी व्यक्ति के नाम हस्तान्तरित भी किया जा सकता है। पृष्ठांकना पांच प्रकार की होती है – (१) सामान्य, (२) विशिष्ट, (३) सीमित, (४) दायित्व-हीन, (५) ऐच्छिक। चेक लिखने में लेखक को सावधानी से काम लेना चाहिए। यदि उसमें कोई भी त्रुटि रह गई तो बैंक उसका भुगतान नहीं करता। फटा हुआ चेक 'विकृत चेक' कहलाता है। 'कूट चेक' का अर्थ है कि किसी व्यक्ति ने जालसाजी करके उसमें कोई फेर-बदल की हो। चेक के प्रयोग से राशि का लेन-देन सुगम, सरल और सुविधाजनक बन जाता है।

(४) विनिमय-बिल एक ऐसा अनिर्बन्ध आदेश-पत्र होता है जिसमें उसका लेखक किसी अन्य व्यक्ति को आदेश देता है कि वह बिल में अंकित राशि, बिल में लिखित व्यक्ति को भुगतान कर दे। बिल दो प्रकार के होते हैं—(१) देशी, (२) विदेशी। व्यापारिक दृष्टि से भी बिल दो प्रकार के होते हैं—(१) व्यापारिक-बिल, (२) अनुग्रह-बिल। बिलों पर मुद्रांक कर लिया जाता है।

(५) हुन्डी विनिमय-बिल की भांति एक साख-पत्र होता है। हुन्डियां कई प्रकार की होती हैं—(१) धनी जोग, (२) शाह जोग, (३) फरमान जोग (४) देखनहार जोग, (५) जोखिमी। हमारे देश में हुन्डियों का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आया है। आज भी प्रान्त-प्रान्त में इनका प्रयोग होता है।

(६) अन्य साख-पत्रों में प्रण-पत्र, आई० ओ० यू० साख-पत्र, बैंक-ड्राफ्ट तथा विन-बिल मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त पोस्टल सर्टीफिकेट तथा बैंक नोट भी साख पत्र माने जाने लगे हैं।

प्रश्न

१—साख की उन्नति किन बातों पर निर्भर है ? समझाकर लिखिए।
(यू० पी० १९५४)

२—"साख" की परिभाषा दीजिए और आधुनिक काल में उसका महत्व बताइए। साख और पूंजी में क्या अन्तर है ?
(यू० पी० १९५३, १९४९, १९४८, १९४७; राज० १९५०, १९४८)

३—साख पत्र किसे कहते हैं ? किन्हीं भी दो ऐसे साख पत्रों के रूप दीजिए जिनका प्रयोग भारत में होता है। (यू० पी० १९५२, १९५१)

४—चेक क्या है ? चेक को किन-किन प्रकारों से रेखांकित किया जाता है और उनमें से प्रत्येक का तात्पर्य बताइए।
(यू० पी० १९५३, १९५०; म० भा० १९५२)

५—दर्शनी हुन्डी क्या है ? एक दर्शनी हुण्डी ठीक प्रकार से बनाइए। (यू० पी० १९५३)

६—चेक के प्रयोग से क्या लाभ हैं ? क्या चेक को हम मुद्रा कह सकते हैं ? सकारण उत्तर दीजिए। (यू० पी० १९५२)

७—भारत में प्रचलित विभिन्न प्रकार के साख-पत्रों का वर्णन कीजिए।
(यू० पी० १९५२)

८—हुण्डी क्या होती है ? यह कितनी प्रकार की होती है ? क्या हुण्डी को भारतीय 'बिल-ऑफ एक्सचेंज' कह सकते हैं ? (यू० पी० १९५२)

अध्याय १३

विदेशी विनिमय के सिद्धान्त

(Principles of Foreign Exchange)

प्रत्येक देश की मुद्राएं उन देशों की भौगोलिक एवं राजनीतिक सीमाओं के अन्तर्गत वस्तुओं और सेवाओं के लेन-देन में तथा ऋण-शोधन में काम आती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में एक देश की मुद्रा दूसरे देश में काम नहीं आ सकती। उदाहरणार्थ, भारत का रुपया इंगलैण्ड में, इंगलैंड का पौण्ड अमरीका में, अमरीका का डालर रूस में, रूस का रूबल इटली में, इटली का लीरा जापान में, जापान का येन अरब में, अरब का दीनार अफगानिस्तान में, अफगानिस्तान का राइल भारत में काम नहीं आ सकते। अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में तो भुगतान करनेवाले को अपनी मुद्रा को उस देश की मुद्रा में बदलना पड़ता है जिस देश को भुगतान दिया जा रहा है। अतः एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्राओं में बदलने की क्रिया को 'विदेशी विनिमय' कहते हैं।

'विदेशी विनिमय' से भांति-भांति के अर्थ लगाए जाते हैं। कभी-कभी लोग कहते हैं कि विदेशी विनिमय बैंक विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करते हैं। उस समय विदेशी विनिमय से हमारा अर्थ होता है 'विदेशी विनिमय बिल'। कभी-कभी हम कहते हैं कि विदेशी विनिमय पक्ष में नहीं है अथवा अनुकूल नहीं है—उस समय हमारा अर्थ विदेशी विनिमय-दर से होता है। वास्तव में तो विदेशी विनिमय वह कार्य-प्रणाली है जिससे व्यापारी राष्ट्र अपने पारस्परिक ऋण का भुगतान लेते-देते हैं। यह वह पद्धति है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय ऋण लिए-दिए जाते और चुकाए जाते हैं। विदेशी

विनिमय मुद्रा-शास्त्र की एक ऐसी पद्धति है जिसके अनुसार एक देश के निवासी दूसरे देशवासियों को अपने ऋण चुकाते हैं। हार्टले विदर्स लिखता है कि "विदेशी विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-परिवर्तन का विज्ञान एवं कला है।" जिस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वस्तुओं और सेवाओं का क्रय-विक्रय होता है ठीक उसी प्रकार विदेशी विनिमय के अन्तर्गत विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय किया जाता है। सारांश यह है कि 'विदेशी विनिमय' के अध्ययन में निम्नलिखित विषय आते हैं:—

(१) विदेशी विनिमय बिल—जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय ऋण लिए दिए जाते एवं अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान चुकाए जाते हैं।

(२) विदेशी विनिमय दर—वह दर जिस पर एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा से बदली जाती है।

(३) विदेशी विनिमय चोक—जिनसे विदेशी बिल खरीदे और बेचे जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान चुकाने के ढङ्ग

जहां तक देश के आन्तरिक व्यापारिक लेन-देन का प्रश्न है, उस देश में भुगतान देशी मुद्रा द्वारा किया जाता है क्योंकि वही उस देश की कानूनी मुद्रा होती है। किन्तु विदेशी भुगतान के लिए हमें ऐसी वस्तुएं देनी पड़ेगी जो उस देश में, जहां भुगतान किया जा रहा है, स्वीकृत हों। ऐसी वस्तुएं सामान्यतः तीन हो सकती हैं—(१) उस देश की मुद्राएं, (२) उस देश में स्वीकृत किए जानेवाला माल, (३) सोना। यहां हम इन तीनों उपायों पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

(१) सोना देकर भुगतान चुकाना—आयात की हुई वस्तुओं और सेवाओं के बदले में सोना देना तथा निर्यात् के बदले में सोना लेना बहुत खर्चीला, खतरनाक एवं असुविधाजनक है। एक देश का दूसरे के साथ अनेकों व्यक्तियों से लेन-देन होता है। ऐसी स्थिति में यदि प्रत्येक व्यक्ति

सोने का आयात-निर्यात करे तो बड़ी कठिनाई और असुविधा की बात रहेगी। किन्तु यदि एक देश की कुल लेनदारी और देनदारी का शेष निकाला जाय तो बहुत कम मात्रा में सोने का आयात या निर्यात करना होगा। अतः सोने के लेन-देन से होनेवाली असुविधाओं से बचने तथा सोने के प्रयोग में मितव्ययिता लाने की दृष्टि से यह ढङ्ग काम में नहीं लाया जाता। आजकल तो प्रत्येक देश की सरकार ने सोने के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध ही लगा रक्खे हैं। इस शताब्दी के तीसा तक सोने का आयात-निर्यात हो सकता था परन्तु उसके पश्चात् से आज तक अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में सोने का प्रयोग बिल्कुल निषिद्ध कर दिया गया है। सरकार की स्वीकृति के बिना कोई व्यक्ति सोने का आयात-निर्यात नहीं कर सकता। दूसरे, आज संसार के सभी देशों के पास सोना है भी नहीं, और जितना है भी उसको वे अपने से अलग करना नहीं चाहते। आजकल यह ढङ्ग कहीं भी काम में नहीं लाया जाता।

आयात के बदले मे निर्यात करना (Export for Import)—अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान करने की दूसरी विधि यह है कि जितना माल किसी देश से आयात किया जाय उसके बदले में उतने ही मूल्य का माल निर्यात करके उस देश में भेज दिया जाय। परन्तु दो देशों के बीच यह बात सदैव सम्भव नहीं जान पड़ती क्योंकि एक देश दूसरे देश को उसकी आवश्यकता की सभी वस्तुएं पर्याप्त मात्रा में नहीं दे सकता और यह भी सम्भव है कि उन वस्तुओं की उस देश में उपज ही न होती हो।

हां, 'आयात के बदले निर्यात' का सिद्धान्त विस्तृत दृष्टिकोण से सही है। कोई देश केवल एक देश से ही आयात नहीं करता वरन् अनेक देशों से करता है। इसी प्रकार वह केवल एक देश को ही निर्यात नहीं करता वरन् अनेक देशों को करता है। ऐसी स्थिति में वह सब देशों से मिलाकर कुल जितना आयात करता है उतने मूल्य का निर्यात वह कुल देशों को करके अपने कुल आयात का मूल्य निर्यात द्वारा भुगता देता है। कोई भी देश दीर्घकाल तक या स्थायी रूप से अपने निर्यात से अधिक आयात नहीं कर सकता और न वह आयात से अधिक निर्यात

ही कर सकता है। अगर एक देश ने किसी देश से कुछ माल आयात किया है तो उतने ही मूल्य का माल अन्य देशों को (यह आवश्यक नहीं है कि उन्हीं देशों को जिनसे आयात किया गया है) निर्यात करना ही पड़ेगा। कहने का अर्थ यह है कि किसी देश के आयात और निर्यात का मूल्य अन्त में जाकर संतुलन में होगा ही। यह आवश्यक नहीं है कि जिस देश से माल आयात किया जाय उसी को निर्यात किया जाय। आयात करनेवाला देश किसी भी देश को निर्यात करके अपने आयात का मूल्य चुका सकता है। इसी प्रकार यह आवश्यक नहीं है कि दृश्य-माल आयात के बदले में दृश्य-माल ही निर्यात किया जाय। दृश्य-माल आयात करके अदृश्य-माल अर्थात् सेवाएं निर्यात करके आयात का मूल्य चुकाया जा सकता है। हो सकता है कि आयात और निर्यात का संतुलन एक सप्ताह में, एक माह में या एक वर्ष में भी पूरा न हो पावे। इसके लिए कोई निश्चित अवधि नहीं होती। हां, अन्त में चलकर आयात के मूल्य का भुगतान निर्यात द्वारा अवश्यमेव हो ही जाता है। अतः सिद्धान्त यह बनता है कि "अन्त में चलकर कुल आयात के मूल्य का भुगतान विदेशों को किए हुए कुल दृश्य तथा अदृश्य निर्यात द्वारा अवश्य चुक जाता है। भुगतान-संतुलन अनिवार्य रूप से संतुलित हो ही जाता है।"

मान लीजिए किसी भारतवासी ने इंगलैण्ड से एक मोटरकार खरीदी। कार का मूल्य चुकाने के लिए भारतवासी को रुपये देकर पौण्ड खरीदने पड़ेंगे और तब वह कार का मूल्य इंगलैण्ड के व्यापारी को चुका सकेगा। मान लीजिए कुछ समय के लिए इंगलैण्ड के व्यापारी ने रुपया लेना ही स्वीकार कर लिया। परन्तु वह हमारे रुपयों का करेगा क्या? वह हर समय इस तलाश में रहेगा कि कोई ऐसा अंगरेज मिले जो भारत से माल मंगाकर पौण्ड दे और बदले में रुपये खरीदना चाहे। पौण्ड देकर खरीदनेवाला वही व्यक्ति होगा जो भारत से माल मंगायेगा। यदि अन्त में चलकर इंगलैण्ड के कार-विक्रेता को ऐसा व्यक्ति मिल गया तो वह रुपये बेचकर पौण्ड ले लेगा। इंगलैण्ड के कार-विक्रेता को कार के बदले में पौण्ड मिल जायंगे और भारत

के निर्यातकर्त्ता को रुपये मिल जायंगे। इस प्रकार अन्त में भारत के आयात और निर्यात का मूल्य संतुलित हो जायगा।

ऐसा भी हो सकता है कि भारतवासी इंगलैण्ड से कार का आयात करे, परन्तु इङ्गलैण्ड को कुछ भी निर्यात न करके अमरीका को उतने ही मूल्य का माल भेज दे। इङ्गलैण्ड का व्यापारी अमरीका से माल मंगा ले। इस प्रकार भारत, अमरीका और इङ्गलैण्ड—तीनों देशों के आयात और निर्यात अलग-अलग बराबर होकर संतुलित हो जायंगे।

इस विषय में गाइड ने लिखा है कि जिस प्रकार महासागर का ज्वार-भाटा एक ही दिशा में न होकर उतरता-चढ़ता रहता है उसी प्रकार विदेशी व्यापार में भी निर्यात और आयात दोनों ही होते रहते हैं—केवल आयात ही आयात या निर्यात ही निर्यात नहीं होते। जिस प्रकार इञ्जन में लगा हुआ रेग्यूलेटर इञ्जन की चाल को समस्थिति में बनाए रखता है उसी प्रकार लेखे-सन्तुलन में एक ऐसी क्रिया होती है जिसमें दृश्य और अदृश्य आयात-निर्यात द्वारा लेखे संतुलित होते रहते हैं।

(३) विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय करना—विदेशी भुगतान चुकाने का तीसरा ढंग है देशी मुद्रा के बदले में उस देश की मुद्रा खरीदकर भुगतान करना। विदेशी मुद्राओं का खरीदना विदेशी विनिमय ड्राफ्टों में निहित होता है और ये ड्राफ्ट विदेशी विनिमय बैंकों से खरीदे जाते हैं। आयात करने वाला व्यापारी अपने देश में स्थित किसी विनिमय बैंक को अपनी मुद्रा देकर बदले में बैंक से विनिमय ड्राफ्ट खरीद लेता है। वह इस ड्राफ्ट को अपने लेनदार के पास विदेश में भेज देता है। वहां वह व्यापारी इस ड्राफ्ट को दिखाकर उस बैंक की शाखा से अपनी मुद्रा में भुगतान चुका लेता है। इस प्रकार आयात का भुगतान विदेशी मुद्रा में कर दिया जाता है। इस विधि में न सोना भेजने की आवश्यकता होती है और न आयात के बदले में आयातकर्त्ता को माल भेजने की आवश्यकता होती है। आजकल यह विधि बहुत प्रचलित है और प्रायः इसी के अनुसार विदेशी भुगतान चुकाए जाते हैं। इस विधि के अन्तर्गत भुगतान चुकाने के दो मुख्य साधन

है—(१) विनिमय ड्राफ्ट द्वारा; (२) विनिमय बिल द्वारा। विनिमय ड्राफ्ट का संक्षिप्त वर्णन अभी किया जा चुका है। अब हम विदेशी विनिमय-बिलों की कार्यप्रणाली की व्याख्या करेंगे।

विदेशी विनिमय-बिलों की कार्य-प्रणाली

विनिमय-बिलों का राष्ट्रों के पारस्परिक ऋणों के भुगतान में एक बहुत बड़ा भाग है। विनिमय-बिल एक ऐसा शर्तरहित आज्ञापत्र है जिसके द्वारा इसका लेखक किसी दूसरे व्यक्ति को, जिसका नाम इसमें लिखा रहता है, यह आदेश देता है कि वह इसमें लिखे हुए तीसरे व्यक्ति के आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति या संस्था को उसके मांगने पर अथवा उस पर लिखी हुई तिथि से निश्चित अवधि के पश्चात् उसमें लिखी हुई राशि भुगतान कर दे। बिल दर्शनी अथवा मुद्दती होते हैं। दर्शनी बिल का भुगतान बिल को दिखाते ही करना पड़ता है तथा मुद्दती बिल का भुगतान बिल में लिखी हुई अवधि बीत जाने पर करना होता है। बिल प्रायः इस प्रकार लिखा जाता है :—

नई दिल्ली, १५ जनवरी १९५४

रु० १०,०००

दर्शन तिथि के साठ दिन के पश्चात् श्री सी० पी० हैनकॉक या उनके आदेशित किसी व्यक्ति को १०,००० रुपये की राशि भुगतान कीजिए। इसका मूल्य प्राप्त हो चुका है।

शरद् गुप्ता

जेम्स एण्ड कम्पनी, लन्दन।

इस बिल में शरद् गुप्ता बिल के लेखक हैं, जेम्स एण्ड कम्पनी पर बिल लिखा गया है अर्थात् ये भुगतान करने वाले हैं, तथा सी० पी० हैनकॉक को भुगतान मिलने वाला है। इसकी कार्य-प्रणाली समझने के लिए हमें एक उदाहरण लेना पड़ेगा।

मान लीजिए, भारत के एक व्यापारी रामलाल ने इङ्गलैंड के एक व्यापारी जेम्स से १००० पौंड का कुछ माल मंगाया और भारत के दूसरे व्यापारी श्यामलाल ने इङ्गलैंड के दूसरे व्यापारी टेम्स को १३,३३३ रु० अर्थात् १००० पौंड का कुछ माल भेजा। इस परिस्थिति में लेन-देन का क्रम इस प्रकार होगा—

	भारत	स्वीकृति	इङ्गलैण्ड	
बिल / भुगतान	श्यामलाल (निर्यातकर्त्ता एवं लेनदार)	माल →	टेम्स (आयातकर्त्ता एवं देनदार)	बिल / भुगतान
	रामलाल (आयातकर्त्ता एवं देनदार)	बिल → ← माल	जेम्स (निर्यातकर्त्ता एवं लेनदार)	

इस प्रकार टेम्स को श्यामलाल को १००० पौण्ड तथा रामलाल को जेम्स को १००० पोण्ड देना है। यहां यदि सोने के द्वारा भुगतान किए जायं तो दोनों देनदारों को अलग-अलग सोना भेजना पड़ेगा। परन्तु यदि विनिमय बिल से भुगतान किए जायं तो केवल एक ही बिल से काम चल जायगा। श्यामलाल टेम्स पर १००० पोण्ड का बिल लिखकर टेम्स को भेजेगा। टेम्स उसको स्वीकार करके और उस पर स्वीकृति सूचक-हस्ताक्षर करके श्यामलाल को ही लौटा देगा। भारत में श्यामलाल उस बिल को रामलाल को बेचकर १३,३३३ रुपया (१००० पौण्ड) प्राप्त कर लेगा। रामलाल इस बिल को जेम्स के पास भेज देगा और जेम्स उसका भुगतान टेम्स से पौण्डों में ले लेगा। इस प्रकार एक विनिमय-बिल के द्वारा श्यामलाल और जेम्स दोनों अपने-अपने देश की मुद्राओं में भुगतान चुका लेंगे।

इस उदाहरण में हमने दोनों की एक ही राशि (अर्थात् १००० पौंड) मान ली है परन्तु व्यवहार में ऐसा बहुत कम होता है। व्यवहार में तो भारत में लाखों रुपये के बिल इंगलैण्ड पर लिखे जाते हैं इंगलैंड में भी लाखों पौण्डों के बिल भारत के नाम लिखे जाते हैं। यदि किसी देश का

पावना उसकी देनदारी से अधिक होता है तो शेष राशि लेनदार देश के नाम से देनदार देश की सरकार या केन्द्रीय बैंक में जमा रहती है, और फिर भविष्य में इसी प्रकार भुगतान चुकाने के काम में आती रहती है। आजकल सोने का आयात-निर्यात नहीं होता।

हमने अपने उदाहरण में केवल दो ही देशों का आयात-निर्यात लिया है। किन्तु व्यवहार में तो अनेक देशों के बीच एक साथ लेन देन होता है। ऐसी परिस्थिति में एक देश की कुल देनदारी और लेनदारी का अन्तर निकाल लिया जाता है। उस अन्तर की राशि से एक देश दूसरे का ऋणी रहता है और भविष्य में आयात-निर्यात द्वारा यह ऋण चुक जाता है।

विनिमय बिल द्वारा भुगतान लेने-देने की एक विधि और है। मान लीजिए रामलाल ने जेम्स का आदेश पाकर २०,००० रुपये के मूल्य का माल इगलैंड को निर्यात किया। ऐसी परिस्थिति में रामलाल माल का बीमा आदि कराके जहाज में रवाना कर देगा और बदले में जहाज के मालिक से जहाजी रसीद प्राप्त कर लेगा। रामलाल इतना करने के पश्चात् जेम्स पर एक बिल लिखेगा। बिल दो प्रकार का लिखा जा सकता है—(१) भुगतान-बिल D/P, (२) स्वीकृति-बिल D/A। इस बिल के साथ रामलाल बीमा-रसीद तथा जहाजी रसीद को लगाकर किसी विनिमय-बैंक को दे देगा। वह बैंक उस लेख-बिल (Documentary Bill) को लन्दन में अपनी शाखा के पास भेज देगा। बैंक की यह शाखा उस बिल को जेम्स के पास भेजेगी। यदि बिल स्वीकृति बिल हुआ तो जेम्स उसे देखकर अपनी स्वीकृति देगा और तब जहाजी रसीद कागजात उसे मिल जायेंगे जिनको दिखाकर वह जहाजी कम्पनी से माल छुड़ा लेगा। बिल की अवधि समाप्त होने पर जेम्स बैंक को बिल का भुगतान कर देगा। तभी भारत-स्थित बैंक भारत में रामलाल को भुगतान दे देगी। यदि बिल भुगतान-बिल हुआ तो जेम्स को बिल देखते ही भुगतान करना होगा और तभी उसे जहाजी रसीद

आदि पत्र मिलेंगे। भुगतान करते ही भारत-स्थित बैंक भी रामलाल को भुगतान दे देगा। इस विधि में भुगतान लेन-देन का सारा काम बैंक के द्वारा होगा।
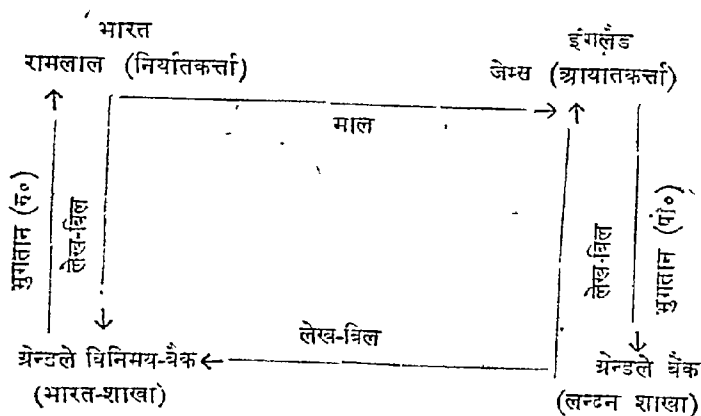
इस प्रकार हमने देखा कि बड़ी-बड़ी राशि के भुगतान विनिमय बैंकों की सहायता से विनिमय-बिलों के द्वारा चुक जाते हैं। इनकी सहायता से भुगतान करने में न तो एक देश का सोना-चांदी दूसरे देश में भेजना पड़ता है और न व्यापारियों को भुगतान लेने के लिए इधर-उधर आने-जाने की ही आवश्यकता होती है। घर बैठे अपनी मुद्रा में भुगतान कर दिया जाता है और घर बैठे अपनी मुद्रा में भुगतान मिल जाता है। विदेशों में भुगतान भेजने की आवश्यकता नहीं होती, केवल अपनी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा में बदलने की आवश्यकता होती है। लोग प्रायः समझते हैं कि विनिमय-बिल अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान लेने-देने के सुगम साधन हैं परन्तु एक मुद्राशास्त्री का तो कहना है कि "विनिमय-बिलों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सुगम तो क्या अनावश्यक ही हो जाते हैं।"

विनिमय दर

विनिमय-दर दो देशों की मुद्राओं के पारस्परिक विनिमय का अनुपात है जिस पर एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा से बदली जाती है। दूसरे शब्दों में विनिमय दर वह अर्घ है जिस पर विदेशी मुद्रा का देशी मुद्रा के साथ क्रय विक्रय होता है। ईशर नामक मुद्राशास्त्री ने लिखा है कि "जिस अनुपात में एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा के साथ व्यक्त की जावे उसे 'विनिमय-दर' कहते हैं।" भारतीय रुपये और इङ्गलैंड के पौंड का पारस्परिक विनिमय-अनुपात १ रुपया = १ शि० ६ पैं० है, तो हम कहेंगे कि इङ्गलैंड की मुद्रा में रुपये की विनिमय-दर १ शि० ६ पैं० है। इसी प्रकार अमरीका की मुद्रा के साथ हमारे रुपये की विनिमय-दर २१ सेंट है। सामान्यतः विनिमय-दर दो प्रकार से व्यक्त की जाती है—

(१) देशी मुद्रा की इकाइयों में, जैसे—१ पौंड = १३ रु० ५ आ० ४ पा०

(२) विदेशी मुद्रा की इकाइयों में, जैसे—१ रु० = १ शि० ६ पैं०
१ पौंड = २.८० डालर

विनिमय-दर विदेशी विनिमय-बिलों की माग और प्रदाय पर निर्भर होती है। यदि किसी समय विदेशी बिलों की माग और प्रदाय समानता में हो तो विनिमय-दर में समता होगी। यदि कभी विदेशी बिलों की माग अधिक हो और प्रदाय कम तो विनिमय-दर बढ़ेगी अर्थात् विदेशी मुद्रा को खरीदने के लिए पहिले की अपेक्षा अधिक देशी मुद्राएं देनी पड़ेंगी। इसी प्रकार यदि विदेशी बिलों की प्रदाय अधिक हो और माग कम तो विनिमय-दर गिरेगी अर्थात् विदेशी मुद्रा खरीदने के लिये पहिले की अपेक्षा कम देशी मुद्राएं देनी पड़ेंगी। विदेशी बिलों की माग करने वाले वे व्यक्ति होते हैं जो विदेशों से माल आयात करना चाहते हों, विदेशी सेवाओं का भुगतान करना चाहते हों अथवा विदेशों में अपनी पूंजी भेजना चाहते हों। इसी प्रकार विदेशी बिलों का प्रदाय करने वाले वे लोग होते हैं जो विदेशी मुद्रा

को किसी न किसी कारण से प्राप्त करना चाहते हों। मांग और प्रदाय के अनुसार विनिमय-दर अपनी समता से घटती-बढ़ती रहती है। परन्तु फिर भी कुछ ऐसे ढङ्ग हैं जिनके द्वारा विनिमय-दर निश्चित की जाती है।

विनिमय-दर निश्चित करने के ढंग

भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्रा-पद्धतियां मानी जाती हैं। इन्हीं मुद्रा-पद्धतियों के अनुसार विनिमय-दर भी भिन्न-भिन्न प्रकार से निश्चित की जाती है :—

(१) जब दोनों देश स्वर्ण-प्रमाप को मानते हैं—जब दो देश स्वर्ण-प्रमाप पद्धति को मानते हों और उन देशों की प्रामाणिक मुद्राएं सोने की हों तो उनकी विनिमय-दर उन मुद्राओं में लगी हुई सोने की वैधानिक मात्रा के आधार पर निश्चित की जाती है। दोनों देशों की प्रामाणिक मुद्राओं में लगे हुए सोने की वैधानिक मात्रा की तुलना करके उनकी पारस्परिक विनिमय-दर निश्चित कर दी जाती है। इस प्रकार जो दर निश्चित की जाती है उसे 'विनिमय की टंक-समता' (Mint Par of Exchange or Mint Parity) कहते हैं और इस विधि को 'टंक-समता का सिद्धान्त' (Mint Par Theory of Exchange) कहते हैं। टंक-समता दो स्वर्ण-प्रमापी देशों की प्रामाणिक मुद्राओं के पारस्परिक मूल्य का एक सैद्धान्तिक माप है। टंक-समता दोनों देशों की प्रामाणिक मुद्राओं में लगे हुए सोने की वैधानिक मात्रा के अनुपात में विधान से निश्चित की जाती है। इसलिए यदि उन प्रामाणिक मुद्राओं के सोने की मात्रा में या सोने के गुण में समय के साथ-साथ स्वयं ही कोई घटा-बढ़ी हो तो टंक-समता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि जैसा कि अभी बताया गया है टंक-समता तो मुद्राओं में लगी हुई सोने की वैधानिक मात्रा के आधार पर निश्चित होती है। टंक-समता में कोई फेर-बदल केवल विधान के द्वारा ही हो सकती है। चाहे उन दोनों स्वर्ण-प्रमापी देशों में सोने की मुद्राएँ न मिलें और चाहे सोने का आयात-निर्यात भी न होता हो परन्तु यदि उनके टंकण नियमों में

कोई परिवर्तन नहीं किया गया है तो टंक-समता में कोई भी परिवर्तन नहीं हो सकता क्योंकि यह तो विधान द्वारा ही निश्चित होती है। टॉमस नामक मुद्राशास्त्री का कथन है कि "एक ही धातु-पद्धति को मानने वाले देशों की प्रामाणिक मुद्राओं में विधान के द्वारा निश्चित करके लगाई हुई धातु की वैधानिक मात्रा और शुद्धता की तुलना द्वारा जो वास्तविक अनुपात मिले उसे टंक-समता कहते हैं।" दूसरे शब्दों में "टंक-समता वह अनुपात है जो एक ही धातु पद्धति को माननेवाले देशों की प्रामाणिक मुद्राओं की वैधानिक धातु मात्रा की तुलना करने से व्यक्त हो।" कुछ मुद्राशास्त्रियों ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि टंक-समता प्रामाणिक सिक्के या उसमें लगे हुए वास्तविक सोने पर निर्भर नहीं होती अपितु उस सिक्के की वैधानिक व्याख्या पर अर्थात् सिक्के की वैधानिकता पर निर्भर होती है। जब तक विधान में ही कोई परिवर्तन न किया जाय तब तक टंक-समता में भी कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

जब दो देश रजत प्रमाप पद्धति को मानते हों तो भी टंक-समता इसी प्रकार निर्धारित की जायगी।

(२) जब एक देश स्वर्ण-प्रमाप तथा दूसरा देश रजत-प्रमाप को मानता हो—जब एक देश की प्रामाणिक मुद्रा सोने की हो तथा दूसरे देश की प्रामाणिक मुद्रा चांदी की हो तो उस परिस्थिति में यह मालूम किया जायगा कि दोनों देशों की मुद्राओं में कितना सोना अथवा चांदी है। चांदी का स्वर्ण-मूल्य ज्ञात कर लिया जायगा (यह मूल्य सरकार द्वारा निर्धारित होता है)। इसके पश्चात् दोनों मुद्राओं का जो स्वर्ण-मूल्य हुआ उसकी तुलना करके अनुपात स्थापित किया जायगा। दोनों मुद्राओं का जो स्वर्ण-अनुपात होगा वही इन दोनों मुद्राओं की पारस्परिक विनिमय टंक-समता की दर होगी। गत शताब्दी के अन्त तक भारत और इंगलैंड की विनिमय-दर इसी प्रकार निर्धारित की गई थी। सन् १८३५ ई० के एक्ट के अनुसार भारतीय रुपये में (जो १८० ग्रेन की तौल का था) १६५ ग्रेन शुद्ध चांदी थी—इसका स्वर्ण मूल्य उस समय ७·५३३४४ ग्राम था। इंगलैंड के प्रामा-

णिक सिक्के में ११३·००१६ ग्राम सोना था। अतः इंगलैंड का १ पौन्ड ११३·००१६÷७·५३३४४ अर्थात् १५ रुपये के बराबर था। उस समय भारत और इंगलैंड की विनिमय-दर १ रु० = १ शि० ४ पेंस अथवा १ पौन्ड = १५ रुपये के बराबर थी।

(३) **जब एक देश स्वर्ण प्रमाप तथा दूसरा देश अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा प्रमाप मानता हो**—जब एक देश की प्रामाणिक मुद्रा सोने की तथा दूसरे देश की प्रामाणिक मुद्रा कागज की हो तो उनकी विनिमय-दर की समता इस बात पर निर्भर करती है कि दोनो देशो की मुद्राएँ कितना सोना खरीद सकती हैं। जो देश स्वर्ण-प्रमाप पर होता है उसकी मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य तो निश्चित होता ही है किन्तु अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य और ज्ञात कर लिया जाता है (यह मूल्य स्वर्ण-मन्डी से ज्ञात हो सकता है)। इन दोनो मुद्राओ के स्वर्ण-मूल्यों का अनुपात ज्ञात कर लिया जाता है और यही अनुपात इन मुद्राओं के पारस्परिक विनिमय-दर की समता होती है।

(४) **जब दोनों देश अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा प्रमाप को मानते हों**—जब दोनो देश अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पद्धति को माननेवाले हो तो उनकी विनिमय-दर विदेशी विनिमय-बिलों की माग एवं प्रदाय पर निर्भर होती है। किन्तु फिर भी यह दर निश्चित करना कठिन होता है क्योंकि ये पत्र-मुद्राएं किसी भी अन्य धातु से सम्बन्धित नहीं होतीं तथा उन देशो मे मुद्रा-स्फीति के कारण तथा अन्य आर्थिक कारणो से मुद्रा की क्रय-शक्ति बदलती रहती है। ऐसी स्थिति में एक देश की मुद्रा के मूल्य की दूसरे देश की मुद्रा के मूल्य के साथ तुलना करने के लिए दोनो मुद्राओं की क्रय शक्ति का उपयोग किया जाता है अर्थात् अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पर आधारित देशों की विनिमय-दर क्रय-शक्ति समता के सिद्धान्त पर निर्भर होती है। उदाहरणार्थ मान लीजिये कि भारत मे १ रुपये देकर हम 'अ' वस्तुएं खरीद सकते हैं तथा उतनी ही वस्तुएं खरीदने के लिए इंगलैंड में १ शि० ६ पे० देने पड़ते हैं। अतः इस परिस्थिति में भारत और इंगलैंड के बीच की विनिमय दर क्रय-शक्ति समता से निश्चित की जायगी और यह दर १ रुपया = १ शि०

६ पें० होगी। इस प्रकार से विनिमय-दर निश्चित करने की विधि को 'क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त' कहते हैं। इसका विस्तृत वर्णन अगले पृष्ठों में किया जायगा।

स्वर्ण-बिन्दु

(Gold Points)

जब दो देश स्वर्ण-प्रमाण पद्धति को माननेवाले हों तो उन देशो में सोने का आयात-निर्यात सिद्धान्ततः स्वतंत्र होता है। दोनों देशों के व्यापारी एक देश से माल मगाकर उसका भुगतान सोना भेजकर चुका सकते हैं। ऐसी स्थिति में इन देशों की विनिमय-दर सामान्यतः टंक-समदर के लगभग आसपास ही रहती है। टङ्क-समदर इन देशों में चलनेवाली प्रामाणिक मुद्राओं मे लगी हुई सोने की वैधानिक मात्रा की तुलना करके विधान द्वारा निश्चित होती है परन्तु सोने के आयात-निर्यात की स्वतन्त्रता होते हुए भी व्यापारी लोग अपनी-अपनी देनदारी का भुगतान प्राय. विदेशी विनिमय-बिला द्वारा ही चुकाना पसन्द करते हैं। विदेशी बिल विनिमय मन्डी में विदेशी विनियम बैंकों से खरीदे जा सकते हैं। व्यवहार में विदेशी बिलों के क्रय-विक्रय करने की दर टंक-समदर के ठीक बराबर कभी नहीं होती, वरन् टंक-समदर के आस-पास दो निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत घटती-बढ़ती रहती है। इन दोनों सीमाओ को ही 'स्वर्ण-बिन्दु' कहते हैं। ये सीमाएं, एक देश से दूसरे देश में सोना भेजने मे जो व्यय होता है, उसको टंक-समदर मे जोडकर व घटाकर ज्ञात की जाती है। टङ्क-समदर में व्यय जोड़ने से 'उच्च-स्वर्ण-बिन्दु' (Upper Gold Point or Upper Specie Point) तथा टङ्क-समदर में से व्यय घटाकर 'निम्न-स्वर्ण-बिन्दु' (Lower Gold Point or Lower Specie Point) ज्ञात होता है। इन बिन्दुओं को क्रमशः 'स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु' (Gold Export Point) तथा 'स्वर्ण-आयात-बिन्दु' (Gold Import Point) भी कहते हैं।

यह बताया जा चुका है कि विदेशी बिलों की मांग एवं प्रदाय के अनुसार मण्डी में बिलो का मूल्य टंक-समदर से घटता तथा बढ़ता रहता है। यह घटत-बढ़त स्वर्ण-बिन्दुओं के अन्तर्गत ही सीमित रहती है। किसी भी समय टंक-समदर में सोना भेजने का व्यय जोड़कर बिलों का उच्चतम मूल्य अर्थात् 'स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु' ज्ञात हो सकता है। इसी प्रकार टंक-समदर में से सोना भेजने का व्यय घटा-कर बिलों का निम्नतम मूल्य अर्थात् 'स्वर्ण-आयात बिन्दु' ज्ञात हो सकता है। बिलो के उतार-चढ़ाव की उच्चतम एवं निम्नतम सीमाएं सोना भेजने में जो खर्च होता है, उस पर निर्भर रहती हैं।

मान लो, भारत और इंगलैंड दोनों स्वर्ण-प्रमाप को मानते हैं और दोनों के बीच टंक-समदर १ रुपया = १·५ शि० है एवं सोना भेजने या मंगाने में ·३ शि० व्यय होते हैं। जब भारतीय रुपये मे दर बढ़ेगी तो यह दर अधिक से अधिक प्रति रुपया १·८ (१·५ + ·३) शि० हो सकती है क्योंकि यदि दर इससे अधिक बढ़ेगी तो इंगलैंड के व्यापारियों को बिलों के द्वारा भुगतान करने की अपेक्षा सोना भेजना सस्ता पड़ेगा। किसी भी समय भारत और इंगलैंड के बीच की दर १ रु० = १·८ शि० से अधिक नहीं चढ़ सकती। इस उच्चतम सीमा को स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु कहेंगे। इंगलैंड की दृष्टि से यह स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु है क्योंकि इससे अधिक दर बढ़ने पर इंगलैंड से सोने का निर्यात होने लगेगा। भारत की दृष्टि से यह स्वर्ण-आयात-बिन्दु होगा क्योंकि इससे दर बढ़ने पर भारत मे सोना आना आरम्भ होगा।

यदि किसी समय इंगलैंड के बिलों के लिए प्रदाय की अपेक्षा मांग कम हो तो दर गिरने लगेगी। ऐसी स्थिति मे दर गिरने की निम्नतम सीमा टंक-समदर में से स्वर्ण-आयात-व्यय घटाकर ज्ञात हो सकेगी। यदि सोना भेजने में ·३ शि० व्यय हो तो इंगलैंड के व्यापारी अपने बिलों की दर (१·५—·३) १·२ शि० प्रति रुपये से नीचे नहीं उतरने देंगे और यदि ऐसा हुआ तो वे बिलों में भुगतान लेने की अपेक्षा सोने में ही अपना भुगतान लेंगे। इस सीमा को स्वर्ण-आयात-बिन्दु कहेंगे। भारत की दृष्टि से यह स्वर्ण

निर्यात-बिन्दु होगा क्योंकि इससे नीची विनिमय-दर होने पर भारतीय व्यापारियों को सोना भेजना ही लाभदायक रहेगा।

स्वर्ण निर्यात-बिन्दु एवं स्वर्ण-आयात-बिन्दु स्वर्ण-प्रमापी देशों की विनिमय-दर के उतार चढ़ाव की उच्चतम एवं निम्नतम सीमाएं हैं। सामान्यत: विनिमय दर में उतार-चढ़ाव इन मर्यादाओं से सीमित रहता है। किन्तु असाधारण परिस्थिति में जब आयात-निर्यात के लिए सोना पर्याप्त मात्रा मे नहीं मिल पाता तो उस समय विनिमय-दर इन सीमाओं का उल्लङ्घन भी कर जाती है। यहां एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि ये स्वर्ण-बिन्दु स्थायी नहीं होते वरन परिवर्तनशील होते हैं क्योंकि सोने को भेजने-मगाने का व्यय, जैसे वाहन व्यय, बीमा व्यय आदि समय-समय पर बदलते रहते हैं।

स्वर्ण-बिन्दु निकालने के सिद्धान्त—स्वर्ण-बिन्दु निकालने के लिए निम्न सिद्धान्तों का प्रयोग उपयोगी हो सकता है :—

(१) टंक समदर में स्वर्ण-वाहन-व्यय जोड़कर स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु निकालना तथा टंक-समदर में से स्वर्ण-वाहन-व्यय घटाकर स्वर्ण-आयात-बिन्दु निकालना।

(२) जब विनिमय-दर विदेशी मुद्रा में व्यक्त की जाय तो स्वर्ण-निर्यात बिन्दु निकालने के लिए टंक-समदर मे से स्वर्ण-वाहन-व्यय घटाना चाहिए तथा स्वर्ण-आयात-बिन्दु निकालने के लिए टंक-समदर में वाहन-व्यय जोड़ना चाहिए। उदाहरणार्थ—यदि भारतीय रुपये की दर इंगलैंड की मुद्रा १·५ शि० के बराबर व्यक्त की जाय तो भारत की दृष्टि से स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु (१·५ – ·३) = १·२ शि० होगा तथा स्वर्ण-आयात-बिन्दु (१·५ + ·३) = १·८ शि० होगा।

(३) जब विनिमय दर देशी मुद्रा मे व्यक्त की जाय तो स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु निकालने के लिए टंक-समदर में स्वर्ण-वाहन-व्यय जोड़ना चाहिए तथा स्वर्ण-आयात-बिन्दु निकालने के लिए व्यय घटाना चाहिए।

(४) अपने देश मे सोना खरीदकर विदेश में बेचने से जो दर आए

वह स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु होगा और विदेश में सोना खरीदकर अपने देश में बेचने से जो दर आए वह स्वर्ण-आयत-बिन्दु समझना चाहिए।

क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त
(Purchasing Power Parity Theory)

यह बताया जा चुका है कि स्वर्ण-प्रमाप को माननेवाले देशों की विनिमय-दर उन देशों में चलनेवाली स्वर्ण-मुद्राओं में लगे हुए सोने की मात्रा के अनुपात से निश्चित होती है इस विनिमय-दर में होनेवाले उतार-चढ़ाव स्वर्ण-बिन्दुओं द्वारा सीमित रहते हैं। अब प्रश्न यह है कि अगर कुछ देश स्वर्ण-प्रमाप को न मानकर अपरिवर्तनीय-पत्र-मुद्रा प्रमाप को मानें तो उनकी विनिमय-दर किस प्रकार निश्चित होगी? इसके लिए स्वीडन के एक विख्यात अर्थशास्त्री गॅस्टव केसल ने एक सिद्धान्त की खोज की जिसे 'क्रय-शक्ति-समता' का सिद्धान्त कहते हैं। प्रो० केसल का कथन है कि अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा प्रमाप को माननेवाले देशों की पत्र-मुद्राओं का सम्बन्ध किसी धातु से न होने के कारण उनकी विनिमय-दर स्वर्ण-प्रमापी देशों की भांति स्थापित नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में एक देश की मुद्राओं की दूसरे देश की मुद्राओं के साथ तुलना करने के लिए विभिन्न मुद्राओं की क्रय-शक्ति का उपयोग करना चाहिए अर्थात् अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा प्रमाप को माननेवाले देशों की विनिमय-दर क्रय-शक्ति-समता पर निर्भर होती है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए भारत और इंगलैंड दोनों अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा प्रमाप पर आधारित हैं। भारत में १ रुपया देकर हम 'क' वस्तुएं खरीद सकते हैं और इतनी वस्तुएं खरीदने के लिए इंगलैंड में हमें १८ पेंस देने पड़ते हैं। अतः इस परिस्थिति में भारत और इंगलैंड के बीच की विनिमय-दर क्रय-शक्ति समता से निश्चित की जायगी और यह दर १ रु० = १८ पे० होगी। इस प्रकार दर निर्धारित करने की विधि को 'क्रय-शक्ति समता का सिद्धांत' कहते हैं। कोल नामक मुद्राशास्त्री ने लिखा है कि जो देश स्वर्ण-प्रमाप पद्धति को

नहीं मानते उसकी विनिमय दर दीर्घ काल में, उनकी मुद्राओं की क्रय-शक्ति द्वारा निश्चित होती है। इस विनिमय-दर में यद्यपि उतार-चढ़ाव होते रहते हैं परन्तु इसकी प्रवृत्ति उसी बिन्दु पर स्थिर होने की होती है जहां दोनों देशों की मुद्राओं की क्रय शक्ति समान हो—इस बिन्दु को क्रय-शक्ति-समता कहते हैं। कहने का अर्थ यह है कि दो देशों में जब धातु-मुद्रा की जगह अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का प्रयोग होता हो तो उस समय विनिमय-दर टंक-समता से निश्चित न होकर क्रय-शक्ति-समता से निर्धारित होती है। मुद्रा की क्रय-शक्ति वस्तुओं के सामान्य मूल्य-स्तर से जानी जाती है।

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा-पद्धति में मुद्रा-प्रसार का अधिक और निरन्तर भय रहता है जिससे मूल्य-स्तर बदलते रहते हैं। मूल्य-स्तर में होनेवाले उतार-चढ़ावों को निर्देशांकों द्वारा मापा जा सकता है। इन निर्देशांकों की सहायता से ही हम विभिन्न मुद्राओं की क्रय-शक्ति जान सकते हैं। जैसे-जैसे मूल्य-स्तर में परिवर्तन होते जाते हैं अर्थात् विभिन्न मुद्राओं की क्रय-शक्ति बदलती जाती है वैसे ही वैसे मुद्राओं की विनिमय-दर में भी फेर-बदल होती रहती है क्योंकि विनिमय-दर क्रय-शक्ति पर निर्भर होती है। यह बात निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी।

मान लो, भारत और इंगलैंड दोनों अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पर आधारित हैं। दोनों में वस्तुओं का आयात-निर्यात स्वतन्त्र है तथा विनिमय-क्रियाओं पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। भारत में १ रुपया 'क' वस्तुएं खरीदता है और इतनी ही वस्तुएं इंगलैंड में १८ पें० में मिलती हैं। अतः दोनों के मूल्य-स्तर १ रु० = १८ पें० की विनिमय-दर पर समता में हैं। मान लो इस मूल्य-स्तर पर दोनों देशों के निर्देशांक अलग-अलग १०० के बराबर हैं। अगर इंगलैंड में मुद्रा-प्रसार होने के कारण वहां के मूल्य-स्तर बढ़ जायं और वहां का निर्देशांक १०० से बढ़कर १५० हो जाय तो विनिमय दर बदल जायगी—दर इस प्रकार होगी—

$$\frac{\text{१८ पें० × १५०}}{\text{१००}} = \text{२७ पें०}$$

अब १ रु० २७ पें० के बराबर होगा क्योंकि इंगलैंड में मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो गई है। यदि किसी समय भारत के मूल्य-स्तर बढ़ जायं और यहा का निर्देशाक २०० हो जाय तथा इंगलैंड का १५० ही रहे तो दर इस प्रकार होगी—

$$\frac{१८ \text{ पें०} \times १५०}{२००} = १३\frac{१}{२} \text{ पें०}$$

अब १ रुपया १३½ पें० के बराबर होगा क्योंकि भारतीय मुद्रा की क्रय-शक्ति इंगलैंड की मुद्रा की क्रय-शक्ति की अपेक्षा अधिक कम हो गई है। २७ पें० दर भारत के पक्ष में कही जायगी तथा १३½ पें० दर इंगलैंड के पक्ष में होगी।

इस प्रकार क्रय-शक्ति-समता के आधार पर विनिमय-दर ज्ञात करने की विधि यह है—"जब अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा प्रमापी दो देशो में मुद्रा-प्रसार के कारण मूल्य-स्तर बढ़ रहे हो और मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो रही हो तो क्रय-शक्ति समता के सिद्धांत पर विनिमय-दर निकालने के लिए पुरानी विनिमय-दर को दोनों देशो की मुद्रा-स्फीति के अनुपात से गुणा करना चाहिए।"

प्रो० केसल का कथन है कि क्रय-शक्ति-समता के आधार पर जो विनिमय-दर निश्चित होती है उसमें भी परिवर्तन होते रहते हैं और कभी-कभी संक्रान्तिकाल मे तो ये परिवर्तन बड़े भारी-भारी होते हैं परन्तु क्रय-शक्ति के आधार पर निकाली हुई दर सच्ची और वास्तविक होती है। प्रो० केसल ने इस सिद्धान्त की खोज प्रथम महायुद्ध के पश्चात् की थी। बात यह थी कि युद्ध-काल में अनेक देशों में भयंकर मुद्रा-स्फीति हुई जिसके परिणाम स्वरूप वहां के मूल्य स्तर बहुत बढ गए। इसके अतिरिक्त युद्ध-काल में लगभग सभी देशो ने धातु-प्रमाप तोड कर पत्र-मुद्रा-प्रमाप अपना लिया और असंख्य मात्रा में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्राएं चलाईं। अतः युद्ध-काल में लगभग सभी देशों की विनिमय दरों में उथल-पुथल मच गई। युद्ध के पश्चात् विनिमय-दर निर्धारित करने की एक बड़ी भारी समस्या संसार के सामने थी। इस समस्या को दूर करने के लिए प्रोफेसर साहब ने इस सिद्धान्त की शोध की और संसार के राष्ट्रों को

(४) निर्देशांक समय-समय पर बदलते रहते हैं। अतः उनके द्वारा निकाली हुई क्रय-शक्ति-समता भी स्थिर नहीं रहती वरन् बदलती रहती है। दूसरे, टंक-समदर की भांति इस सिद्धान्त में विनिमय-दर का समायोजन स्वयंपूर्ण कार्यशील नहीं है।

(५) इस सिद्धान्त में 'मूल्य-स्तर' पर बहुत जोर दिया गया है। परन्तु वास्तविक मूल्य-स्तर का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। मूल्य-स्तर केवल आन्तरिक मांग और पूर्ति के कारण ही नहीं बदलते अपितु राजनीतिक परिस्थिति तथा व्यापार के आयात-निर्यात सम्बन्धी प्रतिबन्धो के कारण भी बदलते हैं। अतः मूल्य-स्तर का वास्तविक ज्ञान होना कठिन है। कभी-कभी ऐसा होता है कि विनिमय-दर बदल जाती है परन्तु आन्तरिक मूल्य-स्तर में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, उसी प्रकार आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाकर विनिमय-दर को स्थायी बनाया जाता है। इस कारण इस सिद्धान्त के लिए वास्तविक क्रय-शक्ति का पता लगाना सम्भव नहीं है।

(६) कुछ लोगों का आरोप है कि यह सिद्धान्त 'संक्रांति-काल' में होने वाले विनिमय-दर के उतार-चढावों के कारणो का ठीक-ठीक विश्लेषण नहीं कर सकता और न ऐसे समय में क्रय-शक्ति समता ही जानने में उपयोगी हो सकती है। उनका कहना है कि यह सिद्धान्त केवल दीर्घकालीन अवधि में क्रय-शक्ति-समता जानने की एक साधारण विधि है।

इन त्रुटियो के होते हुए भी इस सिद्धान्त की उपयोगिता भुलाई नहीं नहीं जा सकती। दीर्घकाल में विनिमय-दर स्थापित करने का यह एक सुगम साधन है।

विनिमय-दर की 'ऊँच-नीच'—जब अपनी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्राओं में व्यक्त किया जाय और विदेशी मुद्राओं का अपमूल्यन हो जाय अर्थात् अपनी मुद्रा के बदले में पहिले की अपेक्षा अब अधिक मात्रा में विदेशी मुद्रा मिलने लगे तो कहेंगे कि विनिमय-दर ऊँची हो गई है। जब विदेशी मुद्रा का मूल्य हमारी मुद्रा मे व्यक्त किया जाय और हमारी मुद्रा का अपमूल्यन होकर विदेशी मुद्रा के बदले में पहिले की अपेक्षा अधिक दी

जाय तो भी कहेंगे कि दर 'ऊँची' है। जैसे, १ रुपये के बदले में १६ मार्क* की जगह अब २० मार्क मिलने लगें या १ येन† के बदले में १० आने की जगह ११ आने दिए जायें तो दोनों ही परिस्थितियों में दर 'ऊँची' समझी जायगी।

इसके विपरीत यदि हमारी मुद्रा के अनुपात में विदेशी मुद्राओं का अधिमूल्यन होकर पहिले की अपेक्षा कम मिलने लगें अथवा हमारी मुद्रा का अधिमूल्यन होने के कारण विदेशी मुद्रा के बदले में कम दी जायें तो दोनों ही परिस्थितियों में दर 'नीची' समझी जायगी। जैसे, १ रुपये के बदले में १६ मार्क की जगह १८ मार्क मिलने लगे या १ येन के बदले में १० आने के स्थान पर ६ आने दिए जायं तो दोनों ही परिस्थितियों में दर 'नीची' समझी जायगी।

कभी-कभी 'ऊँच' और 'नीच' शब्द दर के लिए प्रयोग में न आकर मुद्रा के विनिमय-मूल्य के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं जैसे, पौंड का मूल्य 'ऊँचा' हो गया, रुपये का मूल्य 'नीचा' गिर गया आदि। ऐसी परिस्थिति में इन शब्दों का अर्थ बिलकुल भिन्न होता है। यदि १ रुपये में १६ मार्क की जगह १८ मार्क मिलने लगे तो कहा जायगा कि दर 'नीची' हो गई और मार्क का मूल्य 'ऊँचा' हो गया। इसके विपरीत यदि २० मार्क मिलने लगें तो कहेंगे कि दर 'ऊँची' हो गई परन्तु मार्क का मूल्य 'नीचा' हो गया। मुद्रा की विनिमय-दर में होने वाली घटा-बढ़ी के लिए 'नीच', 'ऊँच' शब्द प्रयोग करने चाहिए और मुद्रा के विनिमय-मूल्य में कमी-बेशी को व्यक्त करने के लिए 'अपमूल्यन' तथा 'अधिमूल्यन' शब्दों का प्रयोग ठीक होगा।

विनिमय-दर 'निर्बल' और 'सबल'—कभी-कभी विनिमय-दर के लिए 'निर्बल' और 'सबल' शब्दों का प्रयोग होता है जैसे, रुपया 'निर्बल' है और पौंड 'सबल' है। इसका अर्थ यह है कि रुपये का विनिमय-मूल्य

---

* मार्क—जर्मनी की मुद्रा।

† येन—जापान की मुद्रा।

गिरावट की ओर है और पौंड की मांग अधिक होने के कारण उसका मूल्य उठ रहा है।

'अनुकूल' तथा 'प्रतिकूल' विनिमय-दर—जब विनिमय-दर अपनी मुद्रा में व्यक्त की जाय तब 'नीची' विनिमय-दर हमारे अनुकूल होगी क्योंकि विदेशी मुद्रा के बदले में पहिले की अपेक्षा अब हमें अपनी कम मुद्राएं देनी पड़ेंगी। जब विनिमय-दर विदेशी मुद्रा में व्यक्त की जाय तो 'ऊंची' विनिमय दर हमारे अनुकूल होगी क्योंकि पहिले की अपेक्षा अब अधिक विदेशी मुद्राएं मिलेंगी। उदाहरणार्थ, यदि १ रुपया = १६ पेंस हो और फिर यह दर ऊंची होकर १ रुपया = १८ पेंस हो जाय तो नई दर हमारे अनुकूल होगी और इंगलैंड के प्रतिकूल। दूसरे शब्दों में यदि १५ रु० = १ पौण्ड हो और फिर यह दर नीची होकर १३ रु० ५ आ० ४ पाई = १ पौण्ड हो जाय तो यह नई दर हमारे अनुकूल होगी और इंगलैंड के प्रतिकूल। दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिस दर पर सोना हमारे देश से निर्यात हो वह दर हमारे लिए अनुकूल होगी। अपने अनुकूल विनिमय-दर को अपने 'पक्ष' की दर तथा प्रतिकूल दर को अपने 'विपक्ष' की दर भी कहते हैं।

विनिमय-दर अनुकूल होने से आयातकर्त्ताओं तथा उपभोक्ताओं को लाभ होता है तथा निर्यातकर्त्ताओं और उत्पादकों को हानि रहती है क्योंकि विदेशों में हमारा माल जाना कम हो जाता है, देश में बेकारी बढ़ने लगती है। प्रतिकूल विनिमय दर के परिणाम इसके विपरीत होते हैं। आयातकों को हानि तथा निर्यातकों को लाभ रहता है, देश का उत्पादन बढ़ने लगता है तथा रोजगार भी बढ़ जाता है। अतः देश के आर्थिक विकास के लिए प्रतिकूल दर अधिक उपयोगी है।

जब विनिमय-दर विदेशी मुद्रा में व्यक्त की जाय तो यह सिद्धान्त याद रखना चाहिए कि—

ऊंची दर पक्ष में, नीची दर विपक्ष में

(High rates for us, Low rates against us)

यदि दर विदेशी मुद्रा में व्यक्त हो और हम विदेशी मुद्राएं खरीदना

चाहें तो ऊंची दर हमारे अनुकूल होती है। ऐसे समय में देनदारों को अपने विदेशी ऋणों का भुगतान करना लाभकर होता है क्योंकि तब उन्हें ऋण-शोधन में अपनी देशी मुद्राएं कम देनी पड़ती हैं। इसके विपरीत जब दर नीची होती है तो हमारी मुद्रा के बदले विदेशी मुद्राएं कम मिलती हैं इसलिए ऐसे समय अधिक देशी मुद्रा कमाने के लिए लेनदारों को अपने भुगतान लेना लाभदायक होता है।

ऊंची दर खरीदो, नीची दर बेचो

(Buy High, Sell Low)

विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय में यह सिद्धान्त बहुत उपयोगी है। जब दर विदेशी मुद्रा में व्यक्त हो तो ऊंची दर हमारे अनुकूल होती है। उस समय विदेशी मुद्राएं खरीदना लाभकर होता है क्योंकि विदेशी मुद्राओं के बदले में देशी मुद्राएं कम देनी पड़ेंगी। ऐसी स्थिति में हमको विदेशी ऋण चुकाने में भी लाभ रहता है क्योंकि ऋणशोधन में देशी मुद्राएं कम देनी पड़ती हैं। इसी प्रकार जब दर नीची हो तो विदेशी मुद्रा बेचना अच्छा होता है क्योंकि तब विदेशी मुद्राओं के बदले में देशी मुद्राएं अधिक मिलती हैं। ऐसी स्थिति में ऋणों का भुगतान लेना भी हितकर होता है क्योंकि तब विदेशी मुद्राएं अधिक मिलती हैं। जब विनिमय-दर अपनी मुद्रा में व्यक्त की जाय तो उपर्युक्त दोनों सिद्धान्त बदल जायेंगे। उस समय यह कहना ठीक होगा:—

नीची दर पक्ष में, ऊंची दर विपक्ष में
(Low rates for us, High rates against us)
ऊंची दर बेचो, नीची दर खरीदो
(Sell High, Buy Low)

विनिमय-दर में उच्चावचन होने के कारण

देश-देश की मुद्राओं की पारस्परिक विनिमय-दर उनकी (मुद्राओं

की) मांग और प्रदाय में घटा-बढ़ी होने के कारण समय-समय पर बदलती रहती है। विनिमय-दरो में उतार-चढ़ाव होने के मूलतः दो कारण होते हैं—

एक तो ऐसे कारण होते हैं जो अल्पकाल में ही मुद्राओं की मांग और प्रदाय को प्रभावित करते रहते हैं जिससे उनकी विनिमय-दर प्रायः प्रतिदिन और प्रतिघंटा बदलती रहती है।

दूसरे ऐसे कारण होते हैं जिनके द्वारा दीर्घकाल में मुद्राओ की विनिमय-दर में फेर-बदल होती है।

इन दोनों ही परिस्थितियों मे मुद्राओ की विनिमय-दर विदेशी बिलों की मांग और प्रदाय पर निर्भर होती है। यदि विदेशी बिलो की मांग उनकी प्रदाय की अपेक्षा बढ़ती है तो विनिमय-दर प्रतिकूल हो जाती है और यदि उनकी प्रदाय बढ़ती है तो विनिमय-दर अनुकूल हो जाती है। अतः हमें यह देखना चाहिए कि विदेशी बिलो की मांग और प्रदाय में घटा-बढ़ी होने के क्या कारण हैं। विदेशी बिलो की मांग और प्रदाय सामान्यतः तीन कारणों से प्रभावित होती है :—

(१) व्यापारिक परिस्थितिया,
(२) बैंकिंग परिस्थितिया,
(३) स्टॉक-एक्सचेंज की परिस्थितिया।

(१) व्यापारिक परिस्थितियां—व्यापारिक परिस्थितियों में एक देश से दूसरे देश में होनेवाले आयात और निर्यात सम्मिलित हैं जिनके कारण विदेशी मुद्रा की माग और प्रदाय घटती-बढ़ती रहती है। यदि किसी समय निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक होता है तो विदेशी मुद्रा की माग उसकी प्रदाय की अपेक्षा बढ जाती है और विनिमय-दर हमारे प्रतिकूल होने लगती है। इसके विपरीत यदि आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक हो तो विदेशी मुद्रा की प्रदाय उसकी मांग की अपेक्षा अधिक होने के कारण दर हमारे पक्ष में हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तुओं के आयात-निर्यात के कारण विदेशी मुद्रा की मांग और प्रदाय पर प्रभाव पड़ता है और विनिमय-

दर में भी उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। वस्तुओं के आयात-निर्यात को दृश्य आयात-निर्यात कहते हैं।

वस्तुओं के आयात-निर्यात के अतिरिक्त सेवाओं का आयात-निर्यात भी होता है जिसे अदृश्य आयात-निर्यात कहते हैं। आयात-निर्यात में एक देश दूसरे देश को कुछ सेवाएं भी देता है—जैसे, अपने जहाज में माल ले जाना, अपनी बीमा कम्पनियों में माल का बीमा कराना, अपने एजेन्टों द्वारा माल निर्यात करने का प्रबन्ध कराना, आदि-आदि। इन सेवाओं का भुगतान आयातक देश को चुकाना पड़ता है तथा यह भुगतान ठीक उसी प्रकार किया जाता है जैसे दृश्य आयात का। अतः सेवाओं के भुगतान लेने-देने में विनिमय-दर ठीक उसी प्रकार प्रभावित होती है जैसे माल का भुगतान लेने-देने में। सेवाओं का भुगतान करने में दर पर ठीक वही प्रभाव पड़ता है जो आयात किये हुए माल का भुगतान करने में होता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक देश दूसरे देश को माल निर्यात कर दे और दूसरा देश पहिले को अपनी सेवाएं दे दे, जैसे अपने जहाजों में उसका माल ले जाय, अपने बैंकों तथा बीमा कम्पनियों द्वारा उसके व्यापार में सहायता कर दे या अपने देशवासियों से उसकी ओर कोई सेवा करा दे। ऐसी स्थिति में दोनों देश अपने-अपने लेखे सन्तुलित कर लेते हैं और यह ज्ञात कर लिया जाता है कि लेन-देन की काट-छांट करके अन्त में किसको कितना देना है अर्थात् ऋण-शेष ज्ञात कर लिया जाता है। यह ऋण-शेष जिस देश के पक्ष में होता है विनिमय-दर उसी के अनुकूल हो जाती है और जिसके विपक्ष में होता है उसके प्रतिकूल हो जाती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि दृश्य आयात-निर्यात का शेष किसी देश के पक्ष में हो और अदृश्य व्यापार का शेष उसके विपक्ष में हो। ऐसी स्थिति में यह देखा जाता है कि दृश्य और अदृश्य दोनों प्रकार का शेष उसके पक्ष में है या विपक्ष में। यदि यह शेष पक्ष में हुआ तो दर अनुकूल होगी और यदि विपक्ष में हुआ तो प्रतिकूल। अन्त में निष्कर्ष यह है कि विनिमय-दर दृश्य और अदृश्य दोनों प्रकार के लेन-देन के कारण बदलती रहती है।

(२) बैंकिंग परिस्थितियाँ—देशी तथा विदेशी बैंकों द्वारा विदेशी मुद्राओं के जो लेन-देन होते हैं उनसे भी विनिमय-दर में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। इन लेन-देनों में जो बातें सम्मिलित होती हैं वे इस प्रकार हैं—*(१) साख-पत्रों तथा यात्री-चेकों का क्रय-विक्रय*, (२) *बैंकों की ब्याज-दर तथा* कटौती-दर, (३) बैंकों द्वारा दिए गए दीर्घकालीन ऋण, (४) लाभार्जन क्रियाएं (Arbitrage Operations)।

जिस समय देशवासी विदेशों में व्यापारिक या किसी व्यक्तिगत काम से यात्रा के लिए जाते हैं तो वे देशी बैंकों से साख-पत्र खरीदते हैं। इन साख-पत्रों के बदले में उन्हें विदेशों में आवश्यक विदेशी मुद्राएं मिल जाती हैं। साख-पत्र बेचते समय बैंक देशी मुद्राएं लेते हैं और विदेशी मुद्राएं देने का प्रबन्ध करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि साख-पत्र बेचते समय देशी मुद्रा की प्रदाय तथा विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ती है जिससे विनिमय-दर गिरने लगती है। इसके विपरीत जब हमारे देश में आनेवाले विदेशी यात्री अपने देश में साख-पत्र खरीदते हैं तो उनकी मुद्रा की प्रदाय बढ़ती और हमारी मुद्रा की मांग बढ़ती है जिससे विनिमय-दर हमारे पक्ष में बदलने लगती है। इस प्रकार विदेशों में जानेवाले यात्रियों को साख-पत्र बेचने से विनिमय-दर पर तत्काल ही हमारे प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है अर्थात् दर हमारे प्रतिकूल बदलती है और हमारे देश मे भुगतान के लिए बेचे गए विदेशी साख-पत्रों द्वारा दर हमारे अनुकूल बदलती है।

बैंकों की ब्याज दर का भी विनिमय-दर पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि किसी देश में बैंक-दर अन्य देशों की बैंक-दरों की अपेक्षा बढ़ा दी जाय तो अन्य देशवासियों को उस देश में अपनी पूंजी जमा करना लाभकर होगा। परिणामस्वरूप विदेशों में उस देश की मुद्रा की मांग बढ़ जायगी जिससे विनिमय-दर में फेर-बदल होने लगेंगे। इसके विपरीत यदि अन्य देशों की तुलना में अपने देश की बैंक-दर कम कर दी जाय तो अपने देश से पूंजी विदेशों में जाने लगेगी। परिणामस्वरूप अपनी मुद्रा की प्रदाय बढ़ेगी

और दर गिरने लगेगी। इस प्रकार पूंजी के आयात निर्यात से विनिमय-दर में उच्चावचन होते रहेंगे।

एक देश के बैंक दूसरे देशों को जो ऋण देते हैं उनका प्रभाव भी विनिमय-दर पर पड़ता है। ऋण देने से दर पर जो प्रभाव पड़ता है वह ऋण देने की विधि और ऋण के उपयोग पर निर्भर करता है। यदि उस ऋण का उपयोग ऋण स्वीकृत करनेवाले देश में माल खरीदने के लिए किया जाय तो उस समय विनिमय दर पर कोई प्रभाव नहीं होगा। किन्तु उसी ऋण से यदि दूसरे देशों से माल खरीदा जाय तो ऋण स्वीकृत करने वाले देश की मुद्रा की प्रदाय बढ़ेगी और विनिमय-दर गिरने लगेगी अर्थात् विनिमय-दर ऋणदाता देश के प्रतिकूल होने लगेगी। ऋण की अवधि समाप्त होने पर जब ऋणी देश ऋण की राशि चुकाने लगेगा तो उसकी मुद्रा की प्रदाय बढ़ेगी और दर उसके प्रतिकूल होने लगेगी। ऋणी देश जब-जब ऋण पर ब्याज चुकायेगा तभी-तभी विनिमय-दर भी प्रभावित होगी। कहने का अर्थ यह है कि ऋण देते समय, ब्याज चुकाते समय तथा ऋण का भुगतान चुकाते समय विनिमय-दर पर प्रभाव होता रहेगा।

बहुत से लोग विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय केवल लाभ कमाने के लिए ही करते हैं। ये लोग एक स्थान पर विदेशी मुद्रा खरीद लेते हैं और अवसर आने पर उसी या अन्य स्थानों पर उन्हें बेच देते हैं—इस प्रकार क्रय-विक्रय की दरों में जो अन्तर होता है उससे लाभ कमा लेते हैं। इन क्रियाओं को अन्तर्देशीय लाभार्जन क्रियाएं कहते हैं। ये क्रियाएं दो प्रकार की होती हैं—(१) साधारण, (२) जटिल। साधारण व्यवहारों में दो देशों की मुद्राओं का क्रय-विक्रय दो स्थानों पर किया जाता है और दोनों केन्द्रों की दरों में जो अन्तर होता है वह लाभ होता है। उदाहरणार्थ, बम्बई में विनिमय-दर १ रु० = १८ पेंस हो और लंदन में उसी समय १६ पेंस प्रति रुपया हो तो इन दोनों दरों के अन्तर से १ पेंस प्रति रुपया लाभ कमाया जा सकता है। अतः कोई भी व्यक्ति तार द्वारा इंगलैंड से १६ पेंस प्रति रुपया की दर से स्टर्लिंग खरीद ले और उन्हें भारत में १८ पेंस प्रति रुपया की दर से

बेच दे तो उसे १ पैस प्रति रुपये का लाभ हो सकता है। इस क्रिया को साधारण क्रिया कहेंगे। जटिल क्रियाओं में भिन्न-भिन्न स्थानों पर अनेक मुद्राओं का क्रय-विक्रय किया जाता है और उनमें जो अन्तर होता है उससे लाभ कमाया जाता है। जटिल लेन-देन या तो विदेशी विनिमय-बैंक करते हैं या वे लोग करते हैं जिन्हें इस विषय में पूरी जानकारी होती है और जो विभिन्न विनिमय-मंडियो के सम्पर्क में रहते हैं। इन क्रियाओं का विनिमय-दरों पर काफी प्रभाव पड़ता है। ये क्रियाएं सदैव चलती रहती हैं जिससे इनके द्वारा विनिमय-दर के भारी-भारी उतार-चढ़ाव 'घिसकर' समतल होते रहते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे लाभकारी रहते हैं।

(३) **स्टॉक-एक्सचेंज की परिस्थितियां**—स्टॉक-एक्सचेंज के लेन-देन जिनसे विनिमय दर में फेर-बदल होते हैं, ये हैं—(१) विनियोग (Investment), (२) लाभांश (Dividend) तथा ब्याज का भुगतान एवं ऋण-शोधन, (३) दीर्घकालीन ऋण, (४) अंशों में सट्टेबाजी।

विनियोग-पत्रो के क्रय-विक्रय का विनिमय-दर पर प्रभाव पड़ता है। आजकल लोग देश-विदेशों में स्थित कम्पनियों के अंश खरीदकर अपनी पूंजी का विनियोग करने लगे हैं। जब विदेशी सिक्यूरिटिया खरीदी जाती हैं तो विदेशी मुद्रा में भुगतान चुकाया जाता है, जिससे देश में विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ती है और देशी मुद्रा की दर विदेश की मुद्रा में घट जाती है। इसके विपरीत जब विदेशी लोग हमारी कम्पनियों की सिक्यूरिटिया खरीदते हैं तो हमारी मुद्रा की दर हमारे अनुकूल हो जाती है। पूंजी विनियोग करनेवाले विदेशी सिक्यूरिटियाँ खरीदकर पूंजी विदेशों में भेज देते हैं और बदले में विनियोग-पत्र मगा लेते हैं। अतः सिक्यूरिटियों के क्रय-विक्रय का विनिमय-दर पर वही प्रभाव पड़ता है जो माल के आयात-निर्यात का होता है।

विदेशों में पूंजी विनियोग करने के पश्चात् विनियोगी को अपनी पूंजी पर लाभांश या ब्याज मिलता है। जब लाभांश या ब्याज मिलता है तो विदेशी मुद्राओं की प्रदाय बढ़ती और विनिमय-दर हमारे पक्ष में हो जाती है। इसके विपरीत जब हम दूसरे देशों को ब्याज और लाभांश का

ऐसा करते हैं। इस प्रकार की सट्टेबाजी से विनिमय-दर में बहुत भारी-भारी उतार-चढ़ाव होते हैं। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि इसके द्वारा विनिमय-मण्डी का क्रम ही बिगड़ जाता है। हाट्रे नामक मुद्राशास्त्री ने लिखा है कि "अंशों और स्कंधों में होनेवाले सट्टे से देश की साख-व्यवस्था को बहुत खतरा रहता है।"

विनिमय-दर को प्रभावित करनेवाले अन्य कारण

(१) **अन्तर्सरकारी लेन-देन**—पिछले कुछ वर्षों से देखा गया है कि कुछ देशों की सरकारें दूसरी सरकारों को युद्धजनित ऋण तथा युद्ध के हर्जाने की रकम चुकाने के लिए विदेशी मुद्रा की मांग करने लगी हैं जिससे विनिमय-दर में परिवर्तन होते रहते हैं। प्रथम महायुद्ध से पहले विनिमय-दर अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन तथा ऋण सम्बन्धी स्थिति का सच्चा और विश्वसनीय *मापदंड होती थी अर्थात् विनिमय-दर में परिवर्तन होने का कारण केवल* लेन-देन होता था जिसमें सरकार का कोई हाथ नहीं होता था। परन्तु आजकल सरकारी लेन-देन तथा अन्य सरकारी क्रियाओं ने विनिमय-दरों को तथा उनमें होने वाले परिवर्तनों को अस्वाभाविक और अविश्वसनीय बना दिया है। ये सरकारी क्रियाएँ इतनी अधिक और महत्त्वपूर्ण होती जा रही हैं कि विनिमय के प्रबन्ध और नियंत्रण का काम अब प्रायः सरकारों के अधिकार में ही पहुँचता चला जा रहा है। आज यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि "विनिमय भण्डार की कुञ्जी अब संसार की मुद्रा-मण्डियों में नहीं वरन् सरकारी दफ्तरों में है।" यदि वास्तव में देखा जाय तो विनिमय का प्रबन्ध मुद्रा-मंडियों की स्वाभाविक परिस्थितियों पर अवलम्बित होना चाहिए परन्तु अब तो यह सरकारी प्रबन्ध में पहुँचकर सरकार के कारनामों पर आश्रित होती जा रही है।

(२) **मौद्रिक परिस्थितियाँ**—मौद्रिक परिस्थितियों में मुद्रा-स्फीति, मुद्रा-संकोच, अवमूल्यन आदि ऐसे विषय हैं जिनके कारण विनिमय-दर में परिवर्तन होते हैं। यदि किसी देश में मुद्रा-स्फीति की संभावना हो तो उस-

देश के निवासी अपनी पूंजी को बाह्य देशों में विनियोग करना हितकर समझते हैं क्योंकि उनके देश में मुद्रा-स्फीति के कारण उनकी पूंजी की क्रय-शक्ति कम हो जाती है। पूंजी बाहर भेजने का परिणाम यह होता है कि विनिमय-दर उस देश के प्रतिकूल होने लगती है और विदेशी मुद्रा में उस देश की मुद्रा का मूल्य गिर जाता है। इसके विपरीत यदि कभी किन्हीं कारणों से मुद्रा का अवमूल्यन होने लगे तो उस समय लाभ के लिए विदेशी लोग उस मुद्रा को खरीदने लगते हैं जिससे विदेशी मुद्रा में इस देश की मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है और विनिमय-दर अनुकूल हो जाती है।

(३) राजनीतिक परिस्थितियाँ—व्यापारिक संधियों, सरकार की व्यापारिक नीति, युद्ध, हड़ताल आदि राजनीतिक परिस्थितियों के कारण भी विनिमय दर पर प्रभाव पड़ता है। यदि किसी देश में किसी भी प्रकार से व्यापार में रुकावट डाली जायेगी तो उनका परोक्ष परिणाम विनिमय-दर पर पड़ेगा। इसी प्रकार युद्ध आदि अन्य संकट-काल में मुद्रा की क्रय-शक्ति प्रायः कम हो जाती है जिसकी वजह से विनिमय-दर भी उस देश के प्रतिकूल हो जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी भी प्रकार की राजनीतिक परिस्थिति से देश की मौद्रिक नीति में परिवर्तन होता है और फिर उसका प्रभाव विनिमय-दर पर पड़ता है।

(४) विनिमय-नियन्त्रण—यदि सरकार विनिमय सम्बन्धी क्रियाओं पर, विदेशी मुद्राओं के लेन-देन पर या आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाए तो विनिमय-दर पर परोक्ष-रूप से प्रभाव पड़ता है। आयात पर प्रतिबन्ध लगाने से दर अनुकूल होती है तथा निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने से दर प्रतिकूल होती है। (इसका विस्तृत वर्णन आगे पढ़िए।)

विनिमय-दर में उच्चावचन होने के कारण

विदेशी बिलों की माँग एवं प्रदाय

- व्यापारिक परिस्थितियाँ
  - दृश्य आयात-निर्यात
  - अदृश्य आयात-निर्यात
- बैंकिंग परिस्थितियाँ
  - साख-पत्रों का क्रय-विक्रय
  - बैंक-दर
  - दीर्घकालीन ऋण
  - अन्तर्देशीय लाभार्जन क्रियाएं (Arbitrage Operations)
- स्टॉक-एक्सचेंज क्रियाएं
  - विनियोग-पत्रों (सिक्यूरिटीज) का क्रय-विक्रय
  - लाभांश तथा ब्याज का लेन-देन तथा ऋण-शोधन
  - सट्टा (Speculation in Shares & Stocks)
- अन्य परिस्थितियाँ
  - अन्तर्सरकारी लेन-देन
  - मौद्रिक परिस्थितियाँ
  - राजनैतिक परिस्थितियाँ
  - विनिमय-नियंत्रण
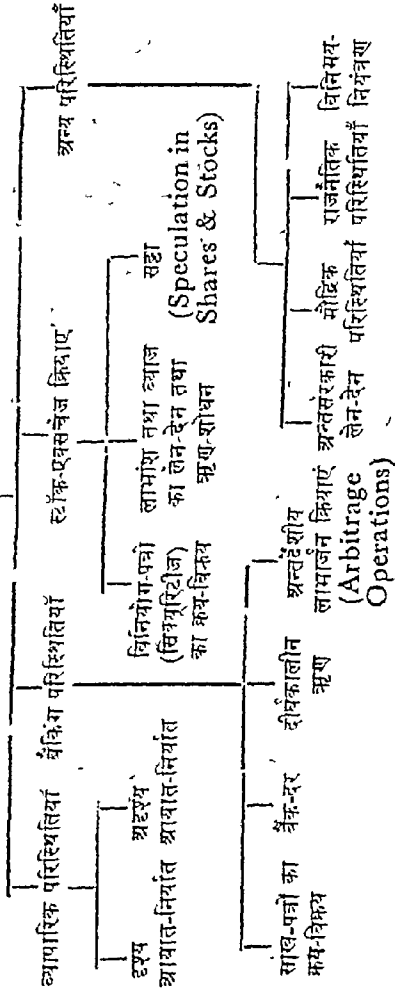
विदेशी विनिमय नियन्त्रण
(Control of Foreign Exchange)

'विनिमय-नियन्त्रण' का अर्थ है विदेशी मुद्राओं की माग और प्रदाय को घटा-बढ़ाकर अपनी मुद्रा की विदेशी विनिमय दर मे आवश्यक तथा इच्छानुसार फेर-बदल करना। यदि कभी सरकार माग और प्रदाय के द्वारा निर्धारित की हुई स्वतत्र विनिमय-दर को अपने देश के हित में समझे तो उसे देश में विनिमय-नियंत्रण की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु यदि इस दर को सरकार देश के हित मे उचित न समझे तो वह विदेशी मुद्रा की माग और प्रदाय में आवश्यक सशोधन करके दर को अपने अनुकूल बना सकती है।

विनिमय-नियन्त्रण के उद्देश्य

(१) बहुमूल्यन—सरकार अपनी मुद्रा की दर ऊँची करने के लिए विनिमय-नियन्त्रण कर सकती है।

(२) अवमूल्यन—सरकार अपनी मुद्रा की दर नीची करने के लिए विदेशी मुद्राओं के क्रय विक्रय पर नियत्रण लगा सकती है।

(३) उतार-चढ़ावों को रोकने के लिए—यदि कभी विनिमय-दर में भारी-भारी और जल्दी-जल्दी उतार-चढ़ाव हो रहे हों तो सरकार इन उच्चावचनों को रोकने के लिए विनिमय-नियंत्रण लगा सकती है।

(१) बहुमूल्यन क्यों ?—(क) जब कभी किसी कारण से देश के विदेशी व्यापारिक लेन-देन मे विषमता आ जाती है और अपनी मुद्रा की प्रदाय की अपेक्षा उसकी माग बढ़ने लगती है तो सरकार विनिमय-नियंत्रण करके मुद्रा का बहुमूल्यन कर देती है।

(ख) कभी-कभी युद्धकाल में कच्चे व पक्के माल का आयात बढ़ाने के लिए भी देशी मुद्रा का बहुमूल्यन कर दिया जाता है। देशी मुद्रा का बहुमूल्यन करने से आयात सस्ते हो जाते हैं और बढ़ने लगते हैं। परन्तु ऐसा

करते समय सरकार को विदेशी मुद्रा की माग पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने पड़ते हैं अन्यथा विदेशी मुद्रा की माग बहुत बढ़ जाने से अपनी मुद्रा की दर गिर जाने का भय रहता है।

(ग) युद्ध समाप्त हो जाने के पश्चात् जब देश का आर्थिक विकास एवं पुनरुद्धार करना होता है तो विदेशों से कच्चे व पूंजीगत माल के आयात की आवश्यकता होती है। इस आयात को प्रोत्साहन देने के लिए भी मुद्रा का बहुमूल्यन किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब किसी देश को विदेशों से माल खरीदकर लाने की आवश्यकता हो तो उसके लिए अपनी मुद्रा का बहुमूल्यन हितकर होता है।

(घ) जब देनदार-देश को लेनदार-देश में लेनदार-देश की ही मुद्रा में ऋण भुगतान करना हो तो ऋण का भार कम करने के लिए देनदार-देश अपनी मुद्रा का बहुमूल्यन कर देता है। इससे देनदार को ऋण चुकाने में अपनी मुद्रा की कम राशि देनी पड़ती है और इस प्रकार ऋण का भार कम हो जाता है।

(ङ) अगर किसी देश में स्थानीय कारणों से वस्तुओं के भाव ऊँचे हो रहे हों और वहां के आर्थिक क्रम में आयात-निर्यात का अधिक महत्व हो तो ऐसी स्थिति में किसी भी कारण से मुद्रा की दर गिरने से आयात मंहगे होने का तथा निर्यात बढ़ने का भय रहता है। इन दोनों ही कारणों से वस्तुओं के भाव और ऊचे होने की सम्भावना रहती है। इस परिस्थिति को टालने के लिए सरकार अपनी मुद्रा का बहुमूल्यन कर देती है जिससे आयात महंगे होने का तथा इस कारण से मूल्य स्तर बढ़ने का भय नहीं रहता।

इन परिस्थितियों मे मुद्रा का बहुमूल्यन करना हितकर होता है परन्तु इससे एक बड़ा भारी अहित भी होता है। जब किसी देश की मुद्रा का अन्य देश की मुद्रा के साथ बहुमूल्यन कर दिया जाता है अर्थात् जब उसकी विनिमय-दर उसकी वास्तविक सम-दर से अधिक निर्धारित कर दी जाती है तो उस देश के मूल्य-स्तर अन्य देशों के मूल्य स्तरों की अपेक्षाकृत स्वभावतः ऊंचे हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उस देश के निर्यात बिल्कुल

ठप्प होने लगते हैं और आयात घट जाते हैं। निर्यात ठप्प होने से देश का आर्थिक क्रम बिगड़ जाता है और देश को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है। निर्यात ठप्प होने से देश के व्यापार एवं उद्योग सुप्त से हो जाते हैं। यह कहना बहुत कठिन है कि मुद्रा का अद्मूल्यन किस परिस्थिति में हितकर और किसमें अहितकर होता है। इसके लिए एक सामान्य सिद्धान्त यह हो सकता है कि "युद्ध एवं दुर्लभता के काल में अद्मूल्यन करना चाहिए तथा मंदी एवं अवसाद के काल में मुद्रा का अवमूल्यन करना चाहिए।" परन्तु यह सिद्धान्त भी सभी परिस्थितियों में लागू नहीं हो सकता। अतः मुद्रा का अद्मूल्यन या अवमूल्यन करना सरकारी नीति पर ही निर्भर करता है। जब सरकार चाहे तभी देश के हित में मुद्रा का अद्मूल्यन अथवा अवमूल्यन करे।

(२) अवमूल्यन क्यों ?—(क) मुद्रा का अवमूल्यन करने से आयात निर्यात की हुई वस्तुओं के मूल्यों से देश के सामान्य मूल्य स्तर पर प्रभाव पड़ता है। अतः जिस देश के आर्थिक क्रम में विदेशी व्यापार का अधिक हाथ होता है उस देश में अवमूल्यन से सामान्य मूल्य-स्तर पर शीघ्र ही प्रभाव पड़ता है और जिसमें विदेशी व्यापार का लेन-देन कम होता है वहां अवमूल्यन के द्वारा सामान्य मूल्य-स्तर पर अपेक्षाकृत देर से प्रभाव पड़ता है। न्यूजीलैंड जैसे छोटे देश में, जहां का विदेशी व्यापार बहुत अधिक नहीं है, अवमूल्यन अधिक हितकर सिद्ध हो सकता है और इसके विपरीत अमरीका में, जहां का विदेशी व्यापार संसार में प्रमुख स्थान रखता है, अवमूल्यन हितकर सिद्ध नहीं हो सकता।

(ख) वह देश, जिसका निर्यात व्यापार मुख्यतः खाद्य पदार्थ एवं कच्चे माल का हो, अवमूल्यन करके लाभ उठा सकता है क्योंकि मंदी के काल में इन वस्तुओं के भाव शीघ्रता से गिरते हैं परन्तु अवमूल्यन के द्वारा स्थिरता एवं संतुलन में बने रह सकते हैं जिससे मूल्य-स्तर गिरने का संकट नहीं भोगना पड़ता। (सितम्बर १९४९ में भारत तथा २४ अन्य देशों ने अवमूल्यन किया था।)

(ग) अगर कोई देनदार देश कच्चा माल उत्पन्न करता हो तो वह मुद्रा का अवमूल्यन करके निर्यात बढ़ाकर लाभ उठा सकता है।

यहां पर भी यह निर्णय करना कठिन है कि किस देश को और किस परिस्थिति में मुद्रा का अवमूल्यन करना चाहिए। यह बात तो सरकारों की आवश्यकता और उनकी ईमानदारी पर निर्भर होती है। अवमूल्यन करना तो एक प्रकार का खेल है जिसको कोई भी खेल सकता है। परन्तु यदि प्रत्येक देश इस खेल को खेलता रहे और इन देशों की मुद्राओं में एक दूसरे को नीचे फेंकने की प्रतियोगिता होती रहे तो यह खेल सब मुद्राओं को निकम्मा कर देगा।

(३) **विनिमय-दर के उतार-चढ़ाव पर रोक क्यों?**—विनिमय-नियन्त्रण का तीसरा उद्देश्य विनिमय-दर के उच्चावचन को रोकना होता है जिससे दर स्थिर बनाकर स्थायी बनाई जा सके। देखने में तो दर का स्थायी बनाना बड़ा भला प्रतीत होता है परन्तु व्यवहार में दर को स्थायी रूप से स्थायी बनाना न सम्भव ही हो सकता है और न हितकर ही। विनिमय-नियन्त्रण द्वारा तो विनिमय-दर में होनेवाले अस्थायी, अनावश्यक तथा भारी-भारी उतार-चढ़ावों को रोकने का प्रयत्न किया जाता है जिससे देश के अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन पर उसका कोई बुरा प्रभाव न पड़ सके। विनिमय-दर में होनेवाले अस्थायी उतार-चढ़ावों का पहिले से ही पता लगाना कोई सरल बात नहीं है परन्तु फिर भी सरकार विनिमय-नियन्त्रण द्वारा इस बात का प्रयत्न करती है कि दर में जल्दी-जल्दी कोई फेर-बदल न हो। इंगलैण्ड की सरकार ने इस प्रकार की नीति १९३२ से लेकर द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने तक अपनाई थी जिसके अन्तर्गत विनिमय-सतुलन-लेखों द्वारा दर में होनेवाले अस्थायी उतार-चढ़ावों को रोकने का प्रयत्न किया जाता था। इन लेखों का उद्देश्य मुद्रा का अवमूल्यन या बहुमूल्यन करना नहीं था वरन् अस्थायी उतार-चढावों को 'घिसकर' संतुलन में लाना होता था। आज भी हमारे सामने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष नामक एक ऐसी संस्था है जो सदस्य-देशों की मुद्राओं की विनिमय-दरों में होनेवाले अस्थायी उतार-चढ़ावों-

को रोकने में सहायता करती है। कोष में व्यवस्था की गई है कि सदस्य-देश कुछ समय तक अस्थायी उतार-चढ़ावों को रोकने के लिए विनिमय-नियन्त्रण लगा सकते हैं परन्तु स्थायी विषमता को दूर करने के लिए उन्हें कोष से मिलकर अपनी मुद्रा की विनिमय-दर में स्थायी परिवर्तन करना ही होगा। इसका प्रमाण भी हमारे सामने आ चुका है। सितम्बर १६४६ में पौंड और डॉलर के बीच में स्थायी विषमता थी जिसे दूर करने के लिए इंगलेंड ने कोष की आज्ञा से पाउण्ड का डॉलर-मूल्य में ३०·५% की कमी करके पौण्ड का अवमूल्यन कर दिया। भारत तथा अन्य अनेक देशों ने भी ऐसा ही किया था।

विनिमय-नियन्त्रण के ढंग

विनिमय नियन्त्रण को सफल बनाने के लिए नियन्त्रण लगानेवाली सरकार को विदेशी विनिमय-मण्डी में मुद्राओं की माग और प्रदाय को प्रभावित करने की आवश्यकता होती है। अगर कभी सरकार देखे कि मांग और प्रदाय के द्वारा निर्धारित की हुई स्वतन्त्र विनिमय-दर उसके अनुकूल नहीं है तो सरकार विनिमय दर को अपने अनुकूल बनाने के लिए दो उपायों में से कोई भी उपाय कर सकती है :—

(अ) या तो सरकार स्वयं विदेशी-विनिमय-मण्डी में जाकर किसी मुद्रा, जिसमें, उसका हित हो, की माग या प्रदाय बढा दे,

(ब) या वह प्रतिबन्ध लगाकर उस मुद्रा की मांग और प्रदाय को मण्डी में आने से रोक दे।

उदाहरणार्थ, यदि भारत सरकार रुपये की विनिमय-दर को ऊंचा करना चाहे तो स्वय विनिमय-मण्डी में जाकर रुपये की मांग बढ़ा सकती है। अन्यथा उसके पास एक और उपाय है। वह उन लोगों पर, जो रुपया देकर विदेशी मुद्रा खरीद रहे हों, प्रतिबन्ध लगाकर रुपये की प्रदाय को कम कर सकती है। इस प्रकार दोनों में से कोई भी उपाय करने से रुपये की मांग उसकी प्रदाय की अपेक्षा बढ़ जायगी जिससे रुपये की विनिमय-दर भी ऊंची

होने लगेगी। इसके विपरीत यदि भारत सरकार रुपये की विनिमय-दर को नीचा करना चाहे तो या तो वह स्वयं विनिमय-मण्डी में जाकर रुपये की प्रदाय बढ़ा सकती है और या रुपये की मांग करनेवाले लोगों पर प्रतिबन्ध लगा सकती है। इन दोनों उपायों में अन्तर यह है कि पहिला उपाय करने से विनिमय-मण्डी में मुद्राओं के क्रय-विक्रय की संख्या बढ़ जाती है और दूसरे उपाय को काम में लाने से मण्डी में मुद्राओं के क्रय-विक्रय की संख्या कम हो जाती है। पहिले उपाय को काम में लाने से मण्डी में विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय की भी स्वतन्त्रता रहती है और साथ-ही-साथ उसमें सरकार का लेन-देन और बढ़ जाता है, परन्तु दूसरे उपाय द्वारा लोगों को मण्डी में स्वतन्त्र क्रय-विक्रय करने से रोक दिया जाता है। पहिले उपाय को 'हस्तक्षेप की नीति' (Policy of Intervention) और दूसरे उपाय को 'प्रतिबन्ध की नीति' (Policy of Restriction) कहते हैं।

हस्तक्षेप की नीति

वैसे तो सरकार विनिमय-नियन्त्रण करते समय अपनी मुद्रा की दर ऊंची करने में या नीची करने में 'हस्तक्षेप की नीति' का पालन कर सकती है, परन्तु ऐसा देखा गया है कि दर ऊंची करने में ही प्रायः इस नीति का पालन किया जाता है। जब 'हस्तक्षेप की नीति' को मुद्रा की विनिमय-दर ऊंची करने के उद्देश्य से काम में लाया जाता है तो कहते हैं कि मुद्रा की विनिमय-दर "ऊंची टांक दी गई है"।* इसी प्रकार यदि इस नीति को विनिमय-दर नीची करने के लिए प्रयोग किया जाये तो कहेंगे कि मुद्रा की विनिमय-दर "नीची अटका दी गई है।*

अगर किसी समय सरकार देशी मुद्रा को स्वतन्त्र बाजार-दर से ऊँची दर 'टांक' कर रखने की कल्पना करे तो इसका अर्थ यह होगा कि उस समय

---

* अंग्रेजी में इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः Pegging up और Pegging down शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

विनिमय-मण्डी में उस मुद्रा की माग की अपेक्षा प्रदाय अधिक है और इसलिए दर ऊँची टाकने के लिए अपनी मुद्रा की माग बढ़ानी चाहिए। तुरन्त ही सरकार अपनी मुद्रा की माग करने लगेगी और बदले में अन्य विदेशी मुद्राएं बेचेगी। इससे माग की जाने वाली देशी मुद्रा की दर ऊँची हो जायगी परन्तु ऐसा करते समय सरकार के पास अपनी मुद्रा लेकर बदले में विदेशी मुद्राएं देने की शक्ति होनी चाहिए। इसी प्रकार यदि सरकार अपनी मुद्रा की दर 'नीची अटकाना' चाहे तो उसे अपनी मुद्रा की प्रदाय बढ़ानी चाहिए और बदले में विदेशी मुद्राओं की माग करनी चाहिए। परन्तु ऐसा करने में सरकार के पास अपनी मुद्राएं देने की शक्ति होनी चाहिए। सिद्धान्त यह है कि जब सरकार 'हस्तक्षेप की नीति' के द्वारा अपनी मुद्रा की विनिमय-दर 'ऊँची टाकना' चाहे तो अपनी मुद्रा की माग बढ़ाकर विदेशी मुद्राएँ देने के लिए उसके पास विदेशी मुद्राओं का भरपूर कोष होना चाहिए; और जब सरकार अपनी मुद्रा की दर 'नीची अटकाना' चाहे तो विदेशी मुद्राए लेकर अपनी मुद्रा देने के लिए उसके पास अपनी मुद्रा की भरपूर मात्रा होनी चाहिए। देशी मुद्रा की विनिमय-दर 'ऊँची टाकने' तथा 'नीची अटकाने' के लिए सरकार के पास क्रमशः विदेशी मुद्रा तथा देशी मुद्रा का कोष इतना भरपूर होना चाहिए कि वह उद्देश्य की पूर्ति के लिए दीर्घ काल तक भी काम आ सके। अगर ऐसा न हुआ तो 'हस्तक्षेप की नीति' का सफल होना दूभर हो जाता है। 'हस्तक्षेप की नीति' का सफल होना सरकार के पास रक्खे हुए देशी तथा विदेशी मुद्राओं के कोष पर निर्भर होता है। दर 'नीची अटकाने' की अपेक्षा 'ऊँची टांकने' में अधिक कठिनाई होती है क्योंकि इसमे सरकार द्वारा बेचने के लिए विदेशी मुद्राओं के कोष की आवश्यकता होती है जो सरलता से प्राप्त नहीं किया जा सकता। विदेशी मुद्राएं विदेशों से ऋण लेकर प्राप्त की जा सकती है परन्तु कोई भी सरकार अनिश्चित काल तक तथा असीमित मात्रा में विदेशों से ऋण नहीं ले सकती। ये ऋण केवल किसी संकटकालीन अस्थायी समय के लिए तथा थोड़ी-बहुत मात्रा में ही लिए जा सकते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि 'हस्तक्षेप

की नीति' के द्वारा अपनी मुद्रा की दर की मात्रा 'ऊँची टाककर' रखना सरकार के पास रक्खी हुई विदेशी मुद्राओं की मात्रा पर निर्भर है।

जब सरकार अपनी मुद्रा की दर 'नीची अटकाकर' रखना चाहे तो उसके पास वेचने के लिए देशी मुद्रा का कोप होना चाहिए। देशी मुद्रा का कोप बढ़ाते रहना इस नीति के द्वारा इतना कठिन काम नहीं है जितना विदेशी मुद्राएं प्राप्त करते रहना। अतः दर 'नीची अटकाने' में सरकार को अधिक सफलता मिल सकती है। सरकार अपनी मुद्रा की मात्रा तीन साधनों से प्राप्त कर सकती है :—

(१) **जनता पर कर लगाकर**—परन्तु जनता पर असीमित मात्रा में कर नहीं लादे जा सकते क्योंकि ऐसा करने से जनता में सरकार के प्रति विद्रोह और असहयोग की भावना पैदा होने लगती है।

(२) **जनता से उधार लेकर**—हां, जनता से ऋण लेकर सरकार अपने पास देशी मुद्रा की मात्रा बढ़ाकर अपनी मुद्रा की दर 'नीची अटकाने' में सफल हो सकती है। परन्तु जनता से ऋण लेने की भी कोई सीमा होती है। अनिश्चित काल तक तथा असीमित मात्रा में जनता से ऋण नहीं लिए जा सकते क्योंकि ऐसा करने से सरकार के सिर पर ऋण का भारी बोझ हो जाता है जिसे भविष्य में सरकार सहन करने में असमर्थ रहती है। जनता भी अनिश्चित काल तक सरकार को ऋण नहीं दे सकती।

(३) **नए नोट छापकर**—सरकार नए नोट छापकर तथा इस प्रकार अपने पास मुद्रा की मात्रा बढ़ाकर मुद्रा की दर 'नीची अटकाने' में प्रयत्न कर सकती है। परन्तु नए नोट छापने का काम भी सरकार अनिश्चत मात्रा में नहीं कर सकती क्योंकि इस प्रकार देश में मुद्रा-स्फीति होने का भय रहता है। हां, थोड़े-बहुत नोट छापने से मुद्रा का मूल्य नीचा हो सकता है और मुद्रा की दर अस्थायी काल के लिए अपने आप नीची हो सकती है। तब 'हस्तक्षेप की नीति' की ही और आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु जब स्थायी-रूप से दर 'नीची अटकाने' के लिए सरकार नए नोट छापती ही रहे तो देश में मुद्रा-स्फीति का भयंकर संकट आ सकता है। अतः स्थायी रूप

से दर 'नीची अटकाने' के लिए नए-नए नोट छापने की नीति उचित नहीं है। हां, अस्थायी रूप से दर 'नीची अटकाने' के लिए थोड़े बहुत नए नोट छापे जा सकते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध काल में स्वीडन की मुद्रा की मांग बहुत बढ़ी। इसकी पूर्ति के लिए स्वीडन की सरकार ने अपनी मुद्रा की दर 'नीचा अटका' दी और अपनी मुद्रा की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए नए नोट छापे। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वीडन को युद्धकाल में तथा इसके पश्चात् भयंकर मुद्रा-स्फीति का सामना करना पड़ा।

कुछ भी हो, दर 'नीचा अटकाने' में 'ऊँची टाकने' की अपेक्षा कम असुविधा और कठिनाई होती है। परन्तु यदि सरकार ने कभी स्थायीकाल के लिए मुद्रा की दर 'नीची अटकाने' की कोशिश की तो सरकार मौद्रिक संकट में पड सकती है। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि 'हस्तक्षेप की नीति' स्थायी काल के लिए ठीक नहीं है वरन् इसको केवल अस्थायी समय के लिए मुद्रा की विनिमय-दर में फेर-बदल करने के लिए काम मे लाया जा सकता है। मुद्रा का बहुमूल्यन करने या अवमूल्यन करने, दोनों ही बातों में 'हस्तक्षेप की नीति' अस्थायी काल के लिए ही सफलता के साथ काम में लाई जा सकती है परन्तु बहुमूल्यन करने की अपेक्षा अवमूल्यन करने में इसका क्षेत्र अधिक सीमित होता है।

जहां तक मुद्रा की विनिमय-दर में होनेवाले उतार-चढ़ावों को रोकने का प्रश्न है 'हस्तक्षेप की नीति' दिन-प्रतिदिन की होनेवाली घटा-बढ़ी तथा अस्थायी उतार-चढ़ावों को रोकने में पूर्ण सफल हो सकती है। यह नीति घटा-बढ़ी तथा दीर्घकालीन विषमताओं को दूर करने में पूर्णतः सहायक नहीं हो सकती। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि विनिमय-नियन्त्रण में 'हस्तक्षेप की नीति' की सफलता सीमित होती है। यह नीति खर्चीली है, अस्थायी है तथा अधिक प्रभावशाली भी नहीं है।

प्रतिबन्ध की नीति

(१) विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर रोक—विनिमय-नियंत्रण

करने के लिए 'प्रतिबन्ध की नीति' को पालन करने में सरकार विनिमय-मण्डी में मुद्रा के लेन-देन पर प्रतिबन्ध लगा देती है। देशी मुद्रा के विक्रेताओं पर रोक लगा दी जाती है जिससे देशी मुद्रा की प्रदाय न बढ़ने पावे और अपेक्षाकृत मांग बढ़ जाय। इस प्रकार 'प्रतिबन्ध की नीति' द्वारा विनिमय-मण्डी में विदेशी विनिमय के लेन-देन की संख्या कम कर दी जाती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार आयात-कर बढ़ा देती है तथा आयात पर रोक भी लगा देती है जिससे आयात कम हो जाय और देशी मुद्रा की प्रदाय घट जाय। इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए सरकार प्रायः तीन उपाय काम में लाती है—

(१) विदेशी विनिमय सम्बन्धी सारा लेन-देन सरकार अपने या अपने किसी एजेंट के हाथ में केन्द्रित कर देती है। (हमारे देश में आयात करने के लायसेंस देना सरकार के हाथ में है तथा विनिमय-सम्बन्धी लेन-देन रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया के अधिकार में है।)

(२) देशी मुद्रा के बदले में विदेशी मुद्रा खरीदने से पहिले सरकारी आज्ञा प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया जाता है।

(३) सरकार की आज्ञा के बिना विदेशी विनिमय का लेन-देन करना अपराध बना दिया जाता है जिसके लिए कड़े दण्ड की व्यवस्था कर दी जाती है।

(२) विदेशी सम्पत्ति की घेरा-बाँधी—सरकार विनिमय-मण्डी में देशी मुद्रा की प्रदाय काटने के लिए देशवासियों को आज्ञा दे देती है कि वे अपनी मुद्रा देकर विदेशी मुद्रा की मांग न करें। ऐसी स्थिति में देशवासी अपनी मुद्रा के बदले में विदेशी मुद्रा की मांग नहीं करते वरन् देश में ही अन्य कामों में लगा देने का प्रयत्न करते हैं। कभी-कभी सरकार विदेशियों पर भी बन्धन लगा देती है कि वे इस देश में लगी हुई अपनी सम्पत्ति देश से निकालकर बाहर नहीं ले जा सकते। ऐसी स्थिति में विदेशियों की सम्पत्ति उस देश में ही घिर जाती है। विदेशियों की ऐसी सम्पत्ति जो सरकार

की इस नीति के कारण अन्य देश में घिर जाय और जिसको निकालकर बाहर ले जाने का अधिकार विदेशियों को न हो 'घिरी हुई सम्पत्ति' (Blocked Assets) कहलाती है। इतना ही नहीं विदेशियों से माल खरीद लिया जाता है और उसका मूल्य न चुकाकर उनकी लेनदारी घेर ली जाती है। विदेशियों को अपनी पूंजी निकालकर ले जाने का भी अधिकार नहीं दिया जाता—यहाँ तक कि उनकी पूंजी पर कमाए हुए व्याज की रकम घेर ली जाती है। १९३१ में केन्द्रीय योरुप के देशों ने इसी प्रकार की 'प्रतिबन्ध की नीति' अपनाई थी। जर्मनी ने तो अपने यहाँ से यहूदियों को निकाल बाहर किया था परन्तु उनकी सम्पत्ति को 'घेर लिया'। उस प्रकार यहूदियों की करोड़ों की सम्पत्ति जर्मनी में थी परन्तु वे लन्दन में भूखे मरते थे क्योंकि अपनी जर्मनी स्थित सम्पत्ति को वे निकालकर इंगलैंड नहीं ले जा सकते थे।

कभी-कभी सरकार विदेशी सम्पत्ति को 'घेरते' समय यह शर्त कर देती है कि सम्पत्ति के विदेशी मालिक यदि चाहें तो उसका उसी देश में उपयोग कर सकते हैं परन्तु निकालकर बाहर नहीं ले जा सकते। ऐसी स्थिति में 'घेरी हुई सम्पत्ति' में काला-बाजार होने लगता है। सम्पत्ति के विदेशी मालिक 'गिरी हुई' सम्पत्ति को कटौती पर वेचने लगते हैं और उसे प्राय वे लोग खरीद लेते हैं जो या तो उसका देश में (जिसमें वह घिरी हुई है) उपयोग करें और या उसे अपने नाम रखें तथा समय आने पर भविष्य में लाभ कमा कर ऊँचे दामों पर वेच सकें। १९४० के आरम्भ में इंगलैंड में ऐसा ही हुआ। इंगलैंड ने विदेशियों की स्टर्लिंग सम्पत्ति 'घेर ली' तथा घोषणा कर दी कि इस सम्पत्ति के मालिक अपनी 'घिरी हुई' सम्पत्ति को अन्य विदेशियों के नाम हस्तारित कर सकते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि 'घिरी हुई' स्टर्लिंग सम्पत्ति न्युयार्क के बाजारों में वास्तविक दर से कोई १०% की कटौती लगाकर बिकने लगी। 'घिरी हुई' सम्पत्ति के मालिक किसी भी दर पर उसे वेचने लगे और जैसे-तैसे उसके बदले में अन्य देशों की मुद्रा प्राप्त करने लगे।

'प्रतिबन्ध की नीति' का प्रयोग सबसे पहले १९३१ में जर्मनी और आस्ट्रिया ने किया था। तभी से लेकर १९३९ तक जर्मनी ने इसको भली प्रकार अपनाया। १९३८ से पहले जर्मनी में यदि कोई 'प्रतिबन्ध की नीति' के लगाए गए प्रतिबन्धों का उल्लंघन करता था, तो उसे मौत की सजा दी जाती थी। युद्ध आरम्भ होने तक 'प्रतिबन्ध की नीति' केन्द्रीय योरप तथा दक्षिणी अमरीका के देशों में अपनाई जाती थी। युद्ध आरम्भ हो जाने पर तो फ्रांस, इंगलैंड तथा इंगलैंड के सभी उपनिवेशों ने इस नीति का प्रयोग करके विनिमय-नियन्त्रण किया। युद्ध समाप्त होने पर आज शायद ही ऐसा देश होगा जहां 'प्रतिबन्ध की नीति' न अपनाई जाती हो। आज भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की अध्यक्षता में अनेक देशों ने विनिमय-नियन्त्रण करने में 'प्रतिबन्ध की नीति' का प्रयोग कर रक्खा है।

विनिमय-नियन्त्रण के परोक्ष ढंग

'हस्तक्षेप' और 'प्रतिबन्ध' की नीतियां विनिमय का नियन्त्रण करने के लिए प्रत्यक्ष रूप से काम में लाई जाती हैं। परन्तु कुछ ऐसे ढंग भी हैं जो किन्हीं अन्य उद्देश्यों से काम में लाए जाते हैं परन्तु विनिमय-दर पर जिनका परोक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है। इन ढङ्गों पर हम यहां विचार करेंगे।

(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नियन्त्रण—सरकार कभी-कभी देश में होनेवाले आयातों पर 'आयात-कर' या 'संरक्षण-कर' बढ़ा देती है या आयात किए जानेवाले माल की मात्रा घटाकर निश्चित कर देती है। इसका परिणाम यह होता है कि आयात का भुगतान चुकाने के लिए विदेशी मुद्रा खरीदने में देशी मुद्रा की कम आवश्यकता पड़ती है जिससे विनिमय-मण्डी में देशी मुद्रा की प्रदाय कम हो जाती है। देशी मुद्रा की प्रदाय कम होने से मुद्रा की विनिमय-दर बढ़ने लगती है। परन्तु सरकार यह उपाय अधिक समय तक नहीं अपना सकती क्योंकि इसमें यह भय रहता है कि अन्य देश भी इस प्रकार 'आयात-कर' अथवा 'संरक्षण-कर' लगाकर अपनी अपनी मुद्रा की दर न बढ़ा दें। यदि ऐसा हुआ तो देशी मुद्रा की दर बढ़ाने

का प्रयत्न निष्फल हो जाता है। अतः यह कहना उचित नहीं होगा कि 'आयात-कर' बढ़ाकर विनिमय-नियन्त्रण अधिक समय तक सफल बनाया जा सकता है। हां इससे हमें एक सिद्धान्त का पता लगता है कि आयात-कर या संरक्षण-कर बढ़ाकर तथा आयात की मात्रा कम करके सरकार पहले की अपेक्षा अपनी मुद्रा की विनिमय-दर को अधिक ऊंचा कर सकती है। इसी प्रकार निर्यात-कर बढ़ाकर देशी मुद्रा की दर नीची गिराई जा सकती है। परन्तु निर्यात कर प्रायः बहुत कम परिस्थितियों में बढाया जाता है। इसके विपरीत सरकार अपने देश के निर्यात पर राजकीय सहायता देकर निर्यात बढ़ा सकती है और निर्यात बढाकर अपनी मुद्रा की दर ऊंची कर सकती है। इसी प्रकार आयात पर राजकीय सहायता देकर आयात बढ़ा सकती है और आयात बढ़ाकर मुद्रा की विनिमय-दर गिरा सकती है। परन्तु ये सब सिद्धान्त की बातें हैं जिन्हें हमें जानना आवश्यक है। व्यवहार में आयात बढने के लिए राजकीय सहायता कभी नहीं दी जाती। इसी प्रकार निर्यात बढाने के लिए भी राजकीय सहायता प्रायः कम ही दी जाती है।

(२) **ब्याज की दर मे घटा-बढ़ी**—विनिमय-नियन्त्रण का दूसरा उपाय ब्याज की दर में घटा-बढी करना भी है। कभी-कभी सरकार अपने देश में ब्याज की दर बढ़ा देती है जिससे विदेशी पूंजी उस देश में आने लगती है। इससे अपनी मुद्रा की माग बढने लगती है और दर ऊंची हो जाती है। जब विनिमय-दर गिरानी होती है तो ब्याज की दर नीची कर दी जाती है। ब्याज की दर नीची होते ही देशी पूंजी बाहर जाने लगती है जिससे देशी मुद्रा की प्रदाय बढ़ने लगती है और दर गिर जाती है। देनदार देश अपनी ब्याज-दर बढ़ाकर अपने औद्योगिक विकास के लिए विदेशों से पूंजी आकर्षित कर सकता है (परन्तु ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब कि अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर पर पूंजी का आदान-प्रदान चालू हो)। जर्मनी ने सन् १९२४ से १९३० तक ऐसा ही किया था।

उपर्युक्त उपाय यदि वास्तव मे देखा जाय तो विनिमय-नियन्त्रण के उद्देश्य से काम मे नहीं लाए जाते। ये उपाय तो देश की आन्तरिक स्थिति

या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूंजी के आदान-प्रदान के दृष्टिकोण से काम में लाए जाते हैं। उदाहरणार्थ निर्यात पर दी गई राजकीय सहायता निर्यात बढ़ाने की दृष्टि से दी जाती है। आयात-कर देशी उद्योगो को संरक्षण देने के उद्देश्य से लगाए जाते हैं तथा ब्याज-दर की घटा-बढ़ी स्थानीय स्थिति को संभालने के लिए की जाती है। परन्तु इन सब उपायो का मुद्रा की विनिमय-दर पर भी काफी प्रभाव पड़ता है।

इन उपायो का विनिमय-दर पर कोई सीधा या प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् ये उपाय विनिमय-मण्डी में कोई हस्तक्षेप नहीं करते वरन् उनका प्रभाव विनिमय-दर पर परोक्ष रूप से पड़ता है।

इन उपायों का क्षेत्र बहुत सीमित और संकुचित होता है जैसे निर्यात-कर असीमित मात्रा में नहीं बढ़ाए जा सकते, राजकीय सहायता भी असीमित मात्रा में नही दी जा सकती और ब्याज-दर भी बार-बार और असीमित मात्रा में नहीं दी जा सकती और क्योंकि ऐसा करने में वैदेशिक व्यापार भंग हो जाने तथा देश की आन्तरिक स्थिति खण्डित हो जाने का भय रहता है। अतः ये उपाय विनिमय-नियन्त्रण के वास्तविक, सच्चे, स्थाई और सफल ढंग नहीं हो सकते।

विनिमय-नियन्त्रण के अन्य ढङ्ग

(१) **विनिमय-समातुलन कोप**—विनिमय-दर में होने वाले अस्थायी उतार-चढ़ावा को 'घिसकर' संतुलन में लाने के लिए सरकार अपनी-अपनी केन्द्रीय बैंकों में देशी और विदेशी मुद्राओं का एक कोष बना लेती है जिसे 'विनिमय-समातुलन कोप' कहते हैं। १९३२ में इंगलैंड ने सबसे पहिले १५ करोड़ पौंड से ऐसे कोप की स्थापना की थी। परन्तु शनैः शनैः इस कोप की मात्रा बढ़ती गई। इंगलैंड में इस कोप का उद्देश्य प्रधानतः स्टर्लिङ्ग की विनिमय-दर में होने वाले अस्थायी उतार-चढ़ावों को रोकना था। जैसा कि पहिले बताया जा चुका है इस कोप में स्टर्लिङ्ग तथा विदेशी मुद्रा या सोना होता था। जब स्टर्लिङ्ग की दर बढ़ानी होती थी तो

इस कोष में से विदेशी मुद्राएं बेचकर बदले में स्टर्लिङ्ग की माग बढ़ा दी जाती थी। और जब स्टर्लिङ्ग की दर गिरानी होती थी तो इस कोष में से स्टर्लिङ्ग बेचकर विदेशी मुद्राओं की माग बढ़ा दी जाती थी। इस कोष के द्वारा विनिमय-दर के उतार-चढावों को दूर किया जाता था। परन्तु इसमें एक बड़ा भारी दोष था कि स्टर्लिङ्ग की दर घटाने-बढ़ाने का काम कोष में रक्खी हुई विदेशी मुद्राओ तथा स्टर्लिङ्ग की मात्रा पर निर्भर रहता था। आगे चलकर ऐसे कोष अमेरिका, फ्रास, स्विटजरलैंड, बेल्जियम, हालैण्ड आदि देशों मे भी स्थापित कर लिए गए थे।

(२) लेखे 'खड़े' रखने के समझौते—कभी-कभी विदेशी सम्पत्ति पर रोक लगाने के बजाय विदेशियो से ऐसे समझौते कर लिए जाते हैं कि वे अपने लेखे एक निश्चित अवधि तक 'खड़े' रखकर देश की विनिमय-दर को ठीक करने में सहायता दे। इस प्रकार देशों के पारस्परिक सहयोग से विनिमय-दर ठीक बना दी जाती है।

कुछ देशो से उनका हिसाब निपटाने के लिए ऐसे समझौते कर लिए जाते हैं कि जिससे विनिमय-दर पर कोई अनुचित प्रभाव न पड़े।

विदेशी विनिमय-नियन्त्रण कानून—१९४७

वर्तमान व्यवस्था - युद्ध-काल में विनिमय-नियन्त्रण का अधिकार भारत सरकार ने भारत-रक्षा कानून के अन्तर्गत ले रखा था। इसकी अवधि ३१ मार्च १९४७ को समाप्त होनी थी। अतः सरकार ने युद्ध के पश्चात् विनिमय-नियन्त्रण करने का अधिकार लेने के लिए "विदेशी विनिमय-नियन्त्रण कानून" (Foreign Exchange Regulation Act) पास किया। यह कानून २५ मार्च १९४७ से लागू कर दिया गया। इस कानून के द्वारा भारत सरकार को विनिमय-नियन्त्रण सम्बन्धी वे सभी अधिकार मिले जो युद्ध काल में भारत-रक्षा-कानून के अन्तर्गत मिले हुए थे। इस कानून के अन्तर्गत भी विनिमय-नियन्त्रण का काम रिज़र्व बैंक को मिला। यह बैंक भारत सरकार के विभाग की हैसियत से अपने विदेशी-विनिमय-विभाग

द्वारा देश में विनिमय का प्रबन्ध करता है। युद्ध-काल में भारत-रक्षा-कानून की विनिमय-नियन्त्रण सम्बन्धी धाराओं के अन्तर्गत भारत से स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र को छोड़ अन्य देशों में राशि भेजने के लिए रिज़र्व बैंक की आज्ञा लेना आवश्यक था। नए कानून के अन्तर्गत भारत से बाहर किसी भी देश को राशि भेजने से पहिले रिज़र्व बैंक की आज्ञा लेना आवश्यक हो गया। अब स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र में भी राशि भेजने से पहिले बैंक की आज्ञा लेना अनिवार्य बना दिया गया परन्तु बार-बार की असुविधा से बचने के लिए रिज़र्व बैंक ने २५ मार्च १९४७ को ही एक विज्ञप्ति निकालकर स्टर्लिंग-क्षेत्र के देशों में राशि भेजने की एक सामान्य आज्ञा दे दी जिससे युद्धकालीन विनिमय-नियन्त्रण तथा वर्तमान विनिमय-नियन्त्रण-व्यवस्था में कोई भेद नहीं रहा।

इस कानून के अन्तर्गत भारत सरकार तथा रिज़र्व बैंक को विदेशी मुद्राओं के लेन-देन पर नियन्त्रण सम्बन्धी तथा सोना-चाँदी, सिक्के, नोट, जेवर, जवाहिरात आदि के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध सम्बन्धी अनेक अधिकार मिले हुए हैं। रिज़र्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की विनिमय-नियन्त्रण सम्बन्धी धाराओं को दृष्टि में रखते हुए देश में विनिमय-नियन्त्रण का प्रबन्ध करता है।

अगस्त १९४७ में देश के विभाजन के फलस्वरूप पाकिस्तान बन जाने से इस कानून में आवश्यक संशोधन कर दिये गये हैं। विनिमय-नियन्त्रण के दृष्टिकोण से पाकिस्तान को विदेशी राष्ट्र मान लिया गया है।

सारांश

(१) विदेशी विनिमय मुद्राशास्त्र की वह पद्धति है जिसके अनुसार एक देश के निवासी दूसरे देश वासियों को अपने ऋण चुकाते हैं। इस पद्धति के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय ऋण लिए-दिए जाते और चुकाये जाते हैं। हार्टले विदर्स के शब्दों में विदेशी विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-परिवर्तन का विज्ञान एवं कला है। इसके अध्ययन में सामान्यतः तीन विषय आते हैं—(१) विदेशी विनिमय-बिल, (२) विदेशी विनिमय-दर, (३) विदेशी विनिमय-बैंक।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान चुकाने की तीन विधियां हो सकती हैं—(१) सोना देकर भुगतान चुकाना, (२) आयात के बदले निर्यात करना, (३) विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय करना। आजकल पहली विधि कहीं भी काम में नहीं लाई जाती क्योंकि सोने के आयात-निर्यात पर सभी देशों ने नियंत्रण ठोक रक्खे हैं। अतः आजकल दूसरी और तीसरी विधि के द्वारा ही भुगतान लिए-दिए जाते हैं। विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय विदेशी विनिमय-बिलों के द्वारा होता है। ये बिल विदेशी बैंकों से लिए जाते हैं।

(३) दो देशों की मुद्राओं के पारस्परिक विनिमय के अनुपात को विनिमय-दर कहते हैं। विनिमय-दर वह अर्घ होती है जिस पर विदेशी मुद्रा का देशी मुद्रा के साथ क्रय-विक्रय होता है। दो देशों की मुद्राओं के बीच दर निश्चित करने के कई ढङ्ग हैं—(१) जब दोनों देश स्वर्ण प्रमाप पद्धति मानते हों तो दर उन देशों की प्रमाणित मुद्राओं में लगे हुए सोने के वैधानिक मात्रा की तुलना करके निर्धारित की जाती है। इसे टंक समदर भी कहते हैं। (२) जब एक देश स्वर्ण प्रमाप तथा दूसरा देश रजत-प्रमाप पर हो तो दोनों मुद्राओं के स्वर्ण मूल्य के आधार पर दर निश्चित कर ली जाती है। पहिले रजत मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य ज्ञात कर लिया जाता है और फिर दोनों मुद्राओं के स्वर्ण-मूल्य की तुलना कर ली जाती है। (३) जब एक देश स्वर्ण-प्रमाप पर और दूसरा देश पत्र-मुद्रा-प्रमाप पर हो तो भी दोनों मुद्राओं के स्वर्ण-मूल्य ज्ञात करके उनकी तुलना के आधार पर दर निश्चित कर ली जाती है। (४) जब दोनों देश पत्र-मुद्रा-प्रमापी हों तो दर क्रय-शक्ति-समता के सिद्धान्त पर निश्चित की जाती है।

(४) स्वर्ण-बिन्दु (स्वर्ण-निर्यात बिन्दु और स्वर्ण-आयात-बिन्दु) स्वर्ण-प्रमापी देशों की विनिमय-दर के चढ़ाव-उतार की उच्चतम एवं निम्नतम सीमाएं होती हैं। टंक समदर में स्वर्ण-वाहन-व्यय जोड़कर स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु तथा घटाकर स्वर्ण-आयात-बिन्दु ज्ञात किया जाता है। सामान्यतः दर इन्हीं सीमाओं से मर्यादित रहती है पर असाधारण परिस्थितियों में इन सीमाओं को पार भी कर जाती है।

(५) अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा-प्रमाप पद्धति को माननेवाले देशों मे मुद्राओं की विनिमय-दर क्रय-शक्ति-समता के आधार पर निश्चित की जाती है। मुद्रा की क्रय-शक्ति निर्देशांक बनाकर ज्ञात की जाती है। इस पद्धति को प्रोफेसर गस्टव केसल ने प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ज्ञात किया था। वैसे तो इस पद्धति द्वारा मुद्राओं की वास्तविक स्थिति का ज्ञान होकर सच्ची विनिमय-दर निर्धारित की जा सकती है पर निर्देशांक बनाने में अनेक कठिनाइयां आती हैं। अतः कभी-कभी वास्तविक क्रय-शक्ति का पता लगाना कठिन हो जाता है। फिर भी अनेक देशों में इस सिद्धान्त का प्रयोग होता रहा है।

(६) विनिमय-दर में उच्चावचन विदेशी बिलों की मांग और प्रदाय के अनुसार होते हैं। बिलों की मांग और प्रदाय घटने-बढ़ने के ये कारण होते हैं—(१) व्यापारिक परिस्थितियां, (२) बैंकिंग परिस्थितियां, (३) स्टॉक एक्सचेंज की परिस्थितियां, (४) अन्तर्सरकारी लेन-देन, (५) राजनीतिक परिस्थितियां, (६) विनिमय-नियंत्रण।

(७) विनिमय-नियंत्रण का अर्थ है विदेशी मुद्राओं की मांग और प्रदाय को घटा-बढ़ाकर अपनी मुद्रा की विदेशी विनिमय-दर में आवश्यक तथा इच्छानुसार फेर-बदल करना। विनिमय-नियंत्रण के तीन उद्देश्य होते हैं—(१) मुद्रा का बहुमूल्यन करना, (२) मुद्रा का अवमूल्यन करना, (३) मुद्रा की दर में होने वाले त्वरित उतार-चढ़ावों को रोकना। मुद्रा का बहुमूल्यन देश के विदेशी व्यापारिक लेन-देन की विषमता को दूर करने के लिए, विदेशों से देश में आयात बढ़ाने के लिए तथा विदेशी ऋणों का भुगतान चुकता करने में सुविधा के लिए किया जाता है। मुद्रा का अवमूल्यन प्रायः विदेशों में निर्यात बढ़ाने के लिए किया जाता है। इसी प्रकार देशी और विदेशी व्यापार में स्थायित्व लाने के लिये मुद्रा की विनिमय-दर में होने वाले त्वरित उतार-चढ़ावों को रोककर थमने की आवश्यकता होती है।

(८) विनिमय-नियंत्रण के दो प्रमुख उपाय होते हैं—(१) सरकार की 'हस्तक्षेप-नीति', (२) सरकार की 'प्रतिबन्ध-नीति'। हस्तक्षेप की नीति में सरकार स्वय विदेशी विनिमय-मण्डी में जाकर किसी मुद्रा की, जिसमें उसका हित हो, माग या प्रदाय बढ़ाती है। प्रतिबन्ध की नीति में सरकार विनिमय के लेन-देन पर प्रतिबन्ध लगाकर उस मुद्रा की मांग और प्रदाय को मण्डी में आने से रोक देती है। हस्तक्षेप की नीति के अनुसार सरकार स्वय मुद्रा का क्रय-विक्रय करती है तथा प्रतिबन्ध की नीति के अन्तर्गत सरकार विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर रोक लगा देती है।

(९) विनिमय-नियत्रण के परोक्ष ढङ्ग भी हैं जैसे, (१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नियन्त्रण, (२) ब्याज की दर में कमी-बेशी। इसके अतिरिक्त विनिमय-नियन्त्रण विनिमय-समानुलन कोषों द्वारा तथा लेखे खड़े रहने के समझौतों द्वारा भी किया जाता है।

प्रश्न

१—विदेशी विनिमय की दर किन बातों पर निर्भर करती है।
(यू० पी० १९५४, १९५०; राज० १९४९)

२—"विदेशी विनिमय की दर का नियंत्रण" किसे कहते हैं; इसकी आवश्यकता क्यों है: इस नियंत्रण के क्या ढंग हैं। (यू० पी० १९५१)

३—विनिमय में उच्चावचन क्यों होते हैं: इससे समाज के विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ता है? (यू० पी० १९४९)

४—'विदेशी विनिमय' से आप क्या समझते हैं: विनिमय-दर में उच्चावचन क्यों होते हैं? (यू० पी० १९४६: राजपूताना १९५३, १९५१)

५—'अनुकूल' एवं 'प्रतिकूल' विनिमय-दर से आप क्या समझते हैं; आपकी राय में आदर्श विनिमय-दर कौन सी होती है? (राज० १९५२)

६—'टंक समता' (Mint Par of Exchange) किसे कहते हैं; यह कैसे जानी जाती है। (राज० १९५०, १९४८: म० भा० १९५२)

७—दो स्वर्ण प्रमापी देशों में विनिमय-दर कैसे निर्धारित होती है; इसकी सीमाएं क्या होती हैं ? (मं० भा० १६५२)

८—पत्र-मुद्रा प्रमाप वाले दो देशों में विनिमय-दर कैसे निर्धारित की जाती है। (मं० भा० १६५१)

६—"क्रय-शक्ति समता" सिद्धान्त क्या है: इसके अनुसार विनिमय-दर किस प्रकार निर्धारित की जाती है ? (मं० भा० १६४६)

अध्याय १४

भारतीय मुद्रा का इतिहास

(History of Indian Currency)

(सन १८०० ई० से सन १९१४ ई० तक)

१८०० से पहले हमारे देश की मौद्रिक प्रणाली इतनी संगठित नहीं थी जितनी आज है। हिन्दू काल में विशेषतः सोने और चाँदी के सिक्कों का प्रयोग होता था। मुगल काल में भी इसी प्रकार दोनों धातुओं के सिक्के चलते रहे थे। परन्तु धीरे-धीरे देश की मुद्रा प्रणाली संगठित बनती गई। देश के भिन्न-भिन्न भागों में टकसालें बनने लगीं और सोने और चाँदी के भिन्न-भिन्न प्रकार के सिक्के काम आने लगे। दक्षिण भारत में विशेषतः सोने के सिक्के चलते थे और उत्तर भारत में सोने और चाँदी—दोनों धातुओं के सिक्के प्रयोग में लाए जाते थे। इस प्रकार देश भर में सोने और चाँदी दोनों ही प्रकार के सिक्कों का चलन था, परन्तु इन दोनों की पारस्परिक विनिमय दर निश्चित नहीं थी। दोनों प्रकार के सिक्के के अदल-बदल की दर दोनों सिक्कों की तौल तथा उनके धातुओं की उत्तमता के आधार पर निर्धारित कर ली जाती थी। परन्तु शनैः-शनैः इसमें कठिनाई अनुभव होने लगी क्योंकि दोनों सिक्के समय-समय पर तौल में बदलते रहते थे तथा सोने-चाँदी का मूल्य भी बाजार में घटता-बढ़ता रहता था। मैक्लियौड ने लिखा है—"एक समय था जब कि सोने और चाँदी के भिन्न-भिन्न रूप-रंग के लगभग ९९४ प्रकार के सिक्के भारत भर में प्रचलित थे और जिनका मूल्य भी दिन-प्रतिदिन बदला रहता था।" इस प्रकार व्यापारिक लेन-देन में तथा मालगुजारी वसूल करने में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बड़ी

कठिनाई होती थी। इस कठिनाई को दूर करने के लिये कम्पनी ने कानून बनाकर सिक्कों की विनिमय-दर निर्धारित करने का प्रयत्न किया। सबसे पहले १८१८ में मद्रास में चांदी और सोने के नए सिक्के चलाए गए। चांदी के रुपये की तौल १८० ग्रेन थी जिसमें १६५ ग्रेन शुद्ध चांदी होती थी। १८२० में बम्बई में भी ऐसा ही किया गया। आगे चल कर इस बात की आवश्यकता हुई कि देश भर में एक सिक्का-प्रणाली स्थापित की जाय। यह काम १९३५ में पूरा कर दिया गया। १८३५ के कानून के अनुसार देश भर में रजत-प्रमाप स्थापित किया गया तथा चांदी का रुपया देश का प्रमुख सिक्का बना दिया गया।

१८३५ का कानून

यह कानून भारत के मौद्रिक इतिहास में विशेष महत्व रखता है। इसी नियम के द्वारा देश भर में पहले पहल एक निश्चित और संगठित सिक्का-प्रणाली निर्धारित की गई। इस कानून की मुख्य बातें ये थीं :—

(१) चादी का रुपया देश भर की कानूनी मुद्रा तथा प्रामाणिक सिक्का बना दिया गया। कानून के अनुसार इसे कितनी ही संख्या में लिया दिया जा सकता था। परन्तु केवल वही रुपया प्रामाणिक सिक्का हो सकता था जो तौल में १८० ग्रेन के बराबर हो तथा जिसमें ११ भाग अर्थात् १६५ ग्रेन शुद्ध चादी हो।

(२) सोने के सिक्के अब कानूनी मुद्रा न रहे परन्तु ये सिक्के धातु के रूप में खरीदे-बेचे जा सकते थे।

(३) सोने की मुहर देश भर में चल सकती थी। एक मुहर १५ रुपये के मूल्य की होती हो परन्तु जनता की आवश्यकता के अनुसार ५, १० और ३० रुपये के मूल्य की मुहरें भी बनाकर चलाई जा सकती थीं।

इस प्रकार १८३५ के कानून के अनुसार देश में रजत-प्रमाप की स्थापना हुई जिसमे चांदी के रुपये को मुख्य स्थान मिला। यद्यपि इस कानून के द्वारा सोने के सिक्के कानूनी मुद्रा न थे परन्तु सोने की मुहरें काम में लाई

जा सकती थीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि अधिकारियों ने सोने के सिक्कों का बिलकुल निषेध नहीं किया था। १३ जनवरी, १८४१ को सरकारी घोषणा की गई कि जनता सरकार को सोने की मुहर देकर भुगतान चुका सकती है तथा सरकारी खजानों पर १५ रुपये में इन मुहरों का अदल बदल किया जाया करेगा। इस घोषणा से सरकार ने एक प्रकार से सोने और चाँदी में १५ : १ का अनुपात स्थापित कर दिया। अब जनता अच्छी तरह १५ रुपये के बदले में १ मुहर तथा १ मुहर के बदले में १५ रुपये लिया दिया करती थी। परन्तु तभी एक नई स्थिति पैदा हो गई। आस्ट्रेलिया और कैलीफोर्निया में सोने की नई खानों का पता लगा जिससे सोने की पूर्ति बढ़ने लगी। पूर्ति बढ़ने से बाजार में सोने का भाव गिर गया और इसके अनुपात में चाँदी की कीमत बढ़ने लगी। जनता ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया। सभी लोग सोने की मुहरों में भुगतान करने लगे तथा सरकारी लगान भुगतान करने में भी सोने की मुहरें काम में आने लगीं। प्रत्येक व्यक्ति सोने की मुहरें सरकारी खजाने में देकर बदले में चाँदी के रुपये लेने लगा क्योंकि चाँदी की अपेक्षा सोने का भाव नीचा था। सरकार ने इस परिस्थिति से बचने के लिए २५ दिसम्बर १८५२ को घोषणा कर दी कि सरकारी खजानों पर सोने के सिक्के अब स्वीकार नहीं किए जायेंगे। इस प्रकार सरकार ने १३ जनवरी, १८४१ की घोषणा को रद्द कर दिया और अब सोने के सिक्कों का चलन बिलकुल बन्द हो गया। सोने के सिक्के बन्द होते ही मुद्रा-मण्डी में मुद्राओं की कमी हो गई। दूसरे, चाँदी का उत्पादन भी आवश्यकता से कम हो गया था जिससे चाँदी के रुपये आवश्यक मात्रा में नहीं बनाए जा सके। तीसरे, चाँदी का भाव बढ़ने से लोग चाँदी के सिक्कों को या तो चाँदी बनाकर खुले बाजार बेचने लगे या संग्रह करने लगे। इससे मुद्रा-मण्डी में मुद्राओं की और भी अधिक कमी होती गई। उस समय देश की बैंकिंग व्यवस्था भी इतनी उन्नत नहीं थी जो साख का प्रबन्ध करके इस कमी को दूर करती। अतः जनता सरकार से देश में सोने के सिक्के चलाने के लिए अनुरोध करने लगी। सरकार ने १८४६ में एक विज्ञप्ति निकाली जिसके अनुसार

सरकारी खजानों पर सावरेन और अर्द्ध-सावरेन क्रमशः १० और ५ रुपये के बदले में स्वीकार किए जाने लगे परन्तु इससे भी मुद्रा-मण्डी में मुद्राओं की कमी दूर न हुई। व्यापारी वर्ग ने सरकार से सोने के सिक्के चलाने का आग्रह किया। सरकार ने इस समस्या पर विचार करने के लिए १८६६ में 'मैन्सफील्ड कमीशन' नियुक्त किया। कमीशन ने निम्न सिफारिशें कीं :—

(१) १५, १० और ५ रुपये के मूल्य के सोने के सिक्के चलाए जाएं जिससे जनता सोने के सिक्कों से भली-भांति परिचित हो सके।

(२) देश में सोने, चांदी और कागज—तीनों प्रकार की मुद्राएं चलाई जाएं। कमीशन का विचार था कि नोट चलाने से पहले सोने के सिक्के चलाए जाएं क्योंकि जनता इस समय सोने का चलन अधिक पसंद करती है।

कमीशन की इन सिफारिशों का कोई विशेष परिणाम न निकला। १८६८ में सरकार ने सावरेन और अर्द्ध-सावरेन की दर १० और ५ रुपये से बढ़ाकर १०½ और ५¼ रुपये कर दी। अब इस दर पर सावरेन और अर्द्ध-सावरेन सरकारी ख़जानों पर लिए जाने लगे। वास्तव में तो सरकार सोने के सिक्के को कानूनी मुद्रा बनाना चाहती थी। उसी समय एक नई स्थिति पैदा हो गई। सोने और चाँदी के मूल्यों में विषमता आ गई। सोने के भाव ऊँचे चढ़ने लगे और चादी की कीमत गिरने लगी। सरकार ने विवश होकर स्वर्ण-प्रमाप लाने का विचार छोड़ दिया।

१८७० के पश्चात् चांदी के भाव गिरने आरम्भ हुए। १८७१-७२ में चाँदी का भाव ६०½ पेंस प्रति औंस था जो १८७५ में ५८ पेंस, १८७९ में ५१¼ पेंस, १८८८ में ४३ पेंस तथा १८९२ में ३७½ पेंस प्रति औंस हो गया।

चाँदी के भाव गिरने के कारण

(१) योरप के अनेक देश रजत प्रमाप को छोड़कर स्वर्ण-प्रमाप मानने लगे थे जिससे सोने के सिक्के बनाने के लिए उनकी सोने की मांग बढ़ती जा

रही थी और वे चाँदी का बहिष्कार करने लगे थे। जर्मनी, डेनमार्क, स्वीडन, नार्वे, हालैंड आदि देशों ने रजत-प्रमाप को तोड़कर चाँदी को बाहर निकालना आरम्भ कर दिया था जहाँ से चाँदी भारत जैसे रजत-प्रमापी देशों में आने लगी थी। असीमित मात्रा में चाँदी भारत के बाजारों में आकर इकट्ठी होने लगी। इसके अतिरिक्त फ्रांस, बेल्जियम, इटली, स्विजरलैंड आदि देशों में चाँदी के सिक्कों का स्वतन्त्र टंकन बन्द कर दिया था जिसने वहाँ की जनता स्वतन्त्रता से चाँदी को सिक्के बनवाने के काम नहीं ला सकती थी। अतः यह चाँदी भारत जैसे रजत-प्रमाप मानने वाले देशों में चली जा रही थी। इस प्रकार देश में चाँदी की मात्रा बढ़ने से चाँदी का भाव बराबर गिरता जा रहा था।

(२) १८७० के पश्चात् चाँदी का उत्पादन भी बढ़ने लगा था। चाँदी की नई-नई खानों का पता लग गया था जहाँ से भारी-भारी मात्रा में नई चाँदी बाजारों में आने लगी थी। अमरीका के नेवाडा में चाँदी की खानों की खोज भी इसी समय हुई। अतः चाँदी की अधिकता के कारण चाँदी के भाव गिरते जा रहे थे।

(३) चाँदी की पुरानी खानों में से उत्पादन के नए वैज्ञानिक साधनों द्वारा अधिक चाँदी निकाली जाने लगी थी। सीसा नामक धातु से रासायनिक क्रिया द्वारा चाँदी निकाली जाने लगी थी। इस प्रकार चाँदी की पूर्ति बढ़ने से चाँदी के भाव गिरने स्वाभाविक ही थे।

(४) अमरीका ने शेरमन एक्ट में संशोधन करके चाँदी खरीदना कम कर दिया था। शेरमन एक्ट के अनुसार अमरीका प्रतिवर्ष चाँदी के सिक्के बनाने के लिए ५ करोड़ ४० लाख औंस चाँदी खरीदा करता था। अब इस एक्ट में संशोधन करके अमरीका ने चाँदी खरीदना बन्द कर दिया। अतः यह चाँदी रजत-प्रमापी देशों में ही आने लगी और वहाँ उसके भाव गिरने लगे।

(५) १८४८ में आस्ट्रेलिया और केलिफोर्निया में सोने की जिन खानों का पता लगा था उनमें अब बहुत कम सोना मिलता था। सोने की

इस कमी के कारण सोने का मूल्य बढ़ने लगा और दूसरी ओर सोने के अनुपात में चांदी का मूल्य गिरने लगा।

इन सब कारणों से चाँदी का स्वर्ण-मूल्य गिरता जा रहा था अर्थात् रुपये और सावरेन की विनिमय-दर गिरने लगी थी। १८७१ में १ रुपया लगभग १ शिलिंग ११¾ पेंस के बराबर था जो १८७५ में १ शि० ६½ पेंस, १८८३ में १ शि० ७½ पेंस तथा १८९२ में १ शि० २ पेंस के बराबर हो गया। विनिमय-दर गिरने से भारत सरकार तथा भारतीय जनता को भारी नुकसान होने लगा। अन्य लोगों पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ा।

विनिमय-दर गिरने से कठिनाइयाँ

(१) भारत सरकार की कठिनाइयाँ—भारत सरकार को इङ्गलैंड की सरकार के लिए लगभग १,७०,००,००० पौंड की राशि प्रतिवर्ष देनी पड़ती थी। यह राशि भारत सरकार को रुपयों में देनी पड़ती थी। इंगलैंड की सरकार इसे भारत के शासन के लिए इंगलैंड स्थित कार्यालय पर व्यय करती थी। चांदी का भाव गिरने से पहले भारत सरकार को १४,२६,५७,००० रुपये देने पड़ते थे, परन्तु चांदी का भाव गिरने से अब रुपये की कीमत भी गिर गई थी। अतः सरकार को उतनी ही पौंड राशि चुकाने के लिए अब २६,४७,८४,१५० रुपये देने पड़ते थे। इस प्रकार विनिमय-दर गिरने से सरकारी कोष को १२,२१,२७,१५० रुपये की हानि होने लगी। इस हानि को पूरा करने के लिए सरकार जनता पर नये-नये कर लादने लगी परन्तु फिर भी बजट में घाटा ही बना रहता था।

(२) व्यापार में अस्थिरता—रुपये और पौंड की विनिमय-दर में भारी-भारी उतार-चढ़ाव होने के कारण व्यापार में अस्थिरता आने लगी। यह सच है कि विनिमय-दर गिरने से भारत के निर्यात-व्यापार में वृद्धि होने लगी और निर्यात बढ़ने लगे परन्तु इसके विपरीत आयात करने में व्यापारियों

को हानि होने लगी। सरकार द्वारा नये-नये कर लगाए जाने से भी व्यापार अस्थिर होता गया।

(३) विदेशी पूंजी पर आघात—विनिमय-दर गिरने से भारत में आने वाली विदेशी पूंजी पर भी धक्का लगा। विदेशी पूंजीपतियों ने विनिमय-दर गिरने के कारण पूंजी में लगा ब्याज से कमी हो जाने के भय से भारत को पूंजी भेजना बन्द कर दिया। इससे देश के औद्योगिक विकास पर गहरी चोट लगी क्योंकि औद्योगिक विकास के लिए विदेशी पूंजी की नितान्त आवश्यकता थी और इसके बिना उन्नति होना असम्भव था।

(४) विदेशी अफसरों की कठिनाइयाँ—विनिमय-दर गिरने से भारत में नौकरी करनेवाले विदेशी अफसरों को भी अधिक नुकसान हुआ। इन अफसरों को तनख्वाह सरकार रुपयों में दिया करती थी। परन्तु अपने-अपने परिवारों को रुपया भेजने के लिये इन्हें स्टर्लिङ्ग खरीदने पड़ते थे। स्टर्लिङ्ग खरीदने में अब उन्हें पहिले से अधिक रुपये देने पड़ते थे क्योंकि रुपये की दर गिर गई थी। इस कमी को पूरा करने के लिए ये लोग सरकार से आग्रह करने लगे जिससे सरकार की कठिनाइयां भी बढ़ने लगीं और इन लोगों में भी असन्तोष फैलने लगा।

(५) विदेशी कम्पनियों की कठिनाइयाँ—भारत में व्यापार करनेवाली विदेशी कम्पनियों को विदेशी कार्यकर्ता लाने में कठिनाई होने लगी क्योंकि रुपये की दर गिरने के कारण विदेशी लोग भारत में नौकरी करना नहीं चाहते थे। इसका कारण यह था कि भारत में उनकी तनख्वाह रुपयों में मिलती थी परन्तु अपने देश ले जाने में उन रुपयों का मूल्य कम हो जाता था क्योंकि स्टर्लिङ्ग के अनुपात में रुपये की दर गिरती जा रही थी।

इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए सरकार ने अनेक प्रयत्न किए परन्तु सफलता न मिली। जनता ने भी स्वर्ण-प्रमाप स्थापित करने के पक्ष में आवाज उठाई। १८७८ में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने स्वर्ण-प्रमाप अपनाने का

प्रस्ताव भेजा गया परन्तु कोई फल न निकला। १८६१ में भारत सरकार ने फिर प्रस्ताव भेजा कि चांदी का स्वतन्त्र टंकन बन्द करके विनिमय-दर को गिरने से रोका जाए तथा शीघ्र ही स्वर्ण-प्रमाप अपनाया जाए। इस प्रस्ताव पर विचार करने तथा सरकार को सलाह देने के लिए १८६२ में हर्शल कमेटी नियुक्त की गई। इस कमेटी के अध्यक्ष लार्ड हर्शल थे।

हर्शल कमेटी की सिफारिशें (१८६३)

हर्शल कमेटी ने देश में द्वि-धातुवाद अपनाना ठीक न समझा। इसलिए उसने चांदी के सिक्के को ही कानूनी मुद्रा बनाने की सलाह दी। कमेटी ने इस विषय में निम्न सिफारिशें की :—

(१) चांदी और सोने दोनों ही प्रकार के सिक्कों का स्वतन्त्र टंकन बन्द कर दिया जाए। किसी भी व्यक्ति को यह स्वतन्त्र अधिकार न हो कि वह सोने या चांदी ले जाकर सरकारी टकसालों से उनके सिक्के बनवा सके। केवल सरकारी लेखे पर ही सिक्के बनाकर चलाए जाएँ।

(२) रुपये की विनिमय-दर १ शि० ४ पें० रखी जाए, अर्थात् १ रुपया १ शि० ४ पें० के बराबर हो और १ पौंड १५ रुपये के बराबर हो।

(३) चांदी का सिक्का (रुपया) ही देश की कानूनी मुद्रा बनी रहे और असीमित संख्या में लिया-दिया जाए।

कमेटी की सिफारिशों में देश में स्वर्ण-प्रमाप स्थापित करने का कोई संकेत नहीं था वरन् देश में एक प्रकार का पंगु प्रमाप (Limping Standard) स्थापित करने की योजना थी जिसके अन्तर्गत सोने और चांदी के सिक्कों में से किसी का भी स्वतन्त्र टंकन नहीं कराया जा सकता था परन्तु जिसमें केवल चांदी के सिक्कों को कानूनी मुद्रा बनाया गया।

सरकार ने कमेटी की सिफारिशें मान लीं और १८६३ में टंकन-नियम पास किया। इस कानून के अनुसार रुपये का स्वतन्त्र टंकन बन्द कर दिया

गया। जनता को अब यह स्वतन्त्र अधिकार न रहा कि वह जब चाहे तब चांदी को टकसाल में ले जाकर उसके सिक्के बनवा सके। अब केवल सरकार ही अपने लेखेपर पर सिक्के बना सकती थी। सरकार ने कमेटी की सिफा-रिशों को कार्यान्वित करने के लिए तीन विज्ञप्तियां निकाली:—

(क) पहली विज्ञप्ति के अनुसार सरकार ने घोषित किया कि १ शि० ४ पें० विनिमय-दर पर सोने या सोने के सिक्कों के बदले में टकसालों पर रुपये मिला करेंगे। इसका अर्थ यह था कि शुद्ध सोने के ७·५३३४४ ग्रेन के बदले में १ रुपया मिला करेगा।

(ख) दूसरी विज्ञप्ति के अनुसार जनता को अधिकार दिया गया कि वह सावरेन तथा अर्द्ध-सावरेन देकर सरकारी भुगतान चुका सकती है परन्तु ये सावरेन १ शि० ४ पें० की दर पर ही स्वीकार किए जायेंगे। इसका अर्थ यह था कि एक सावरेन १५ रुपये के और अर्द्ध-सावरेन ७½ रुपये के बराबर घोषित किया गया।

(ग) तीसरी विज्ञप्ति के अनुसार व्यवस्था की गई कि सोना या सोने के सिक्कों के बदले में १ शि० ४ पें० की दर पर सरकार पत्र-मुद्रा (नोट) भी दिया करेगी। इसका अर्थ यह था कि १ शि० ४ पें० के बदले में १ रुपये का नोट और १ पौं० के बदले में १५ रुपये का नोट मिला करेगा।

ऐसा करने में सरकार का उद्देश्य रुपये की गिरती हुई दर को रोकना था जिससे देश में विदेशी पूंजी आने लगे और विदेशी व्यापार भी सम्हल जाए।

चांदी की स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई बन्द करने में सरकार का ख्याल था कि मुद्रा-मन्डी में रुपये की कमी होकर उसकी विनिमय-दर बढ़ जायगी। परन्तु वास्तव में ऐसा न हुआ। १८९२ में विनिमय-दर १ शि० ३¾ पें० थी जो १८९५ में १ शि० १ पेंस, १८९६ में १ शि० १⅞ पेंस तथा १८९७ में १ शि० ३⅞ पेंस हो गई। स्वतन्त्र टकन बन्द होने के पश्चात् भी रुपये की विनिमय दर कई वर्षों तक ठीक १ शि० ४ पेंस न हो सकी। इसी समय देश

में एक नई स्थिति पैदा हुई। १८९६-९८ में देश में अकाल पड़ा और प्लेग फैली जिससे अन्न तथा दूसरे कच्चे माल का उत्पादन कम हो गया। इससे विदेशों को उतना माल निर्यात नहीं किया जा सका जितना पहले किया जाता था। निर्यात कम होने से विदेशों में रुपये की मांग कम हो गई और विनिमय-दर ऊंची न उठ सकी। परन्तु जैसे ही परिस्थिति संभली और निर्यात बढ़ने लगा वैसे ही विनिमय-दर ऊंची होने लगी और मुद्रा-मन्डी में मुद्राओं का अभाव भी अनुभव होने लगा। मुद्राओं के अभाव के कारण व्यापारियों को असुविधा हुई और वे देश में सोने के सिक्के चलाने की बात सोचने लगे। सरकार ने १८९८ में स्वर्ण नोट एक्ट' (Gold Note Act) पास किया। इस एक्ट के अनुसार भारत-मन्त्री को अधिकार दिया गया कि वह लन्दन में कौन्सिल बिल बेचे और इस प्रकार इनकी बिक्री से जो सोना आए उसे बैंक आव इङ्गलैण्ड में पत्र-मुद्रा-कोष के नाम से अलग रख दे। भारत सरकार को यह अधिकार दिया गया कि वह लन्दन स्थित उस सोने के बल पर नोट छापे और लन्दन में बेचे गए कौंसिल-बिलों का भुगतान भारत में चुका दे। ऐसा करने में सरकार का विचार था कि देश में मुद्राओं की कमी दूर हो जायगी। परन्तु इस प्रकार नोट छापकर चलाने से भी मुद्रा की कमी में कोई विशेष परिवर्तन न हुआ।

फाउलर कमेटी (१८९८)

मुद्रा-मन्डी में मुद्राओं के कारण उत्पन्न हुई स्थिति पर विचार करने तथा देश में स्वर्ण-प्रमाप लाने में सरकार को सलाह देने के लिए 'फाउलर-कमेटी' नियुक्त की गई। इस कमेटी के अध्यक्ष सर हेनरी फाउलर थे। कमेटी के सामने सरकारी और गैर-सरकारी लोगों ने कई प्रस्ताव रक्खे। ये प्रस्ताव इस प्रकार हैः—

(१) **सरकारी प्रस्ताव**—सबसे पहिले भारत सरकार ने एक योजना रक्खी। योजना में प्रस्ताव किया गया कि—

(क) भारत सरकार इङ्गलैण्ड में २ करोड़ पौण्ड की एक राशि उधार ले। इस राशि का तीन चौथाई भाग इङ्गलैण्ड में रहे तथा शेष भाग सोने के रूप में स्वर्ण-कोष के नाम से भारत में रक्खा जाए।

(ख) मुद्रा मन्डी में चलने वाले कुछ रुपये के सिक्कों को वापिस खींच लिया जाय। इन सिक्कों को धातु के रूप में बेचकर बदले में सोना खरीद लिया जाए और इस सोने को भी स्वर्ण-कोष में न जमा कर दिया जाए।

(ग) किसी भी अवस्था में सरकार सोना न बेचे और विशेषतः उस समय तक जब तक कि विनिमय-दर १ शि० ४ पेंस तक आकर न टिक जाए।

इस योजना द्वारा सरकार का विश्वास था कि मुद्रा-मन्डी में रुपयों की संख्या कम करने से विनिमय-दर ऊंची होकर १ शि० ४ पेंस पर जा टिकेगी तथा स्वर्ण-कोष में रक्खा हुआ सोना भविष्य में स्वर्ण-प्रमाप लाने के लिए काम आ सकेगा। फाउलर कमेटी ने इस योजना को न माना। कमेटी के सदस्य इस बात से डरते थे कि मुद्रा-मन्डी में रुपयों की संख्या कम करने से मुद्रा की और भी अधिक कमी होने लगेगी जिससे व्यापारी समाज को बहुत असुविधाएं रहेंगी।

(२) 'रजत-प्रमाप लौटाओ' प्रस्ताव—कुछ लोगों ने योजना रक्खी कि देश में रुपये का स्वतन्त्र टंकन फिर से आरम्भ करके रजत-प्रमाप पुनः स्थापित कर देना चाहिए। इन लोगों का विश्वास था कि रुपये का स्वतन्त्र टंकन न होने से भारत को रजत-प्रमापी देशों के साथ व्यापारिक प्रतियोगिता करने में हानि रहती है। उनका यह भी ख्याल था कि विनिमय-दर नीची होने से देश के निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन मिलेगा जिस पर देश की आर्थिक उन्नति आधारित है। फाउलर कमेटी ने इस प्रस्ताव को भी न माना। कमेटी का कहना था कि रजत-प्रमाप अपनाने से देश को स्थायी लाभ नहीं मिल सकता। क्योंकि भारत का अधिकांश व्यापार स्वर्ण-प्रमापी देशों से है इसलिए रजत-प्रमाप अपनाने से उस व्यापार में हानि होगी। कमेटी का यह भी कहना था कि नीची विनिमय-दर व्यापार और उद्योग के लिए हानिकारक

होती है और यह बात भी सर्वदा सत्य नहीं होती कि नीची विनिमय-दर से निर्यात बढ़ते ही हों। पिछले वर्षों में दर नीची थी फिर भी देश के निर्यात-व्यापार में कोई महत्वपूर्ण वृद्धि नहीं हुई। कमेटी को यह भी भय था कि नीची विनिमय-दर होने से भारत सरकार को इङ्गलैण्ड की सरकार के लिए वार्षिक गृह-व्यय चुकाने मे अधिक रुपये चुकाने पड़ेंगे और इस प्रकार सरकारी कोष को हानि उठानी पड़ेगी।

(३) लेस्ले प्रॉब्यन का प्रस्ताव—तीसरा प्रस्ताव श्री लेस्ले प्रॉब्यन का था। उन्होंने देश में सोने के सिक्के चलाने का विरोध किया। उन्होंने कहा कि भारतीय जनता सम्पत्ति-संग्रह करने में अधिक विश्वास करती है इसलिए यदि सोने के सिक्के चलाए गए तो लोग उन्हें इकट्ठा करके बैठ जाएंगे। इसलिए उन्होंने प्रस्ताव किया कि—

(क) जनता से सोना लेकर उसके बदले में नोट चलाए जाएं;

(ख) इन नोटों के अतिरिक्त १०,००० रुपये के मूल्य के स्वर्ण-नोट (Gold Notes) भी चलाए जाएं;

(ग) इन नोटों के बदले में सरकार नोट रखने वाले व्यक्ति की इच्छा-नुसार या तो सोना दे या रुपये दिया करे;

(घ) जब कोई नोट के बदले में सोना मांगने वाला व्यक्ति आए तो सरकार चाहे उसे सावरेन दे दे या सोना (धातु रूप में) दे दे, परन्तु यह धातु ६७ पौण्ड से कम के नोटों के बदले में नहीं देनी चाहिए;

(च) सोने के बदले में छापे जाने वाले नोटों के अतिरिक्त सरकार और भी छोटे-छोटे नोट चलाए परन्तु उनके बदले में केवल रुपये ही दिए जाया करें, सोना नहीं। श्री लेस्ले का विचार था कि इस प्रकार की योजना काम में लाने से जनता को सोना इकट्ठा करने का अधिक अवसर नहीं मिल सकेगा।

कमेटी ने इस योजना को भी नहीं माना। उन्होंने बताया कि सोना संग्रह करने में इतना भारी खतरा नहीं है जितना श्री लेस्ले ने समझ रक्खा है। यदि लोगों को सोना इकट्ठा करना ही है तो वे किसी प्रकार से भी

ऐसा कर सकते हैं। लोगों की भावनाओं में एक साथ ही तुरन्त फेर-बदल करना सम्भव नहीं हो सकता। दूसरे, यह बात न्यायसंगत नहीं जान पड़ती कि लोगों की सोना इकट्ठा करने की आदत के कारण देश में सोने के सिक्के ही न चलाए जाए। कमेटी ने लेस्ले प्रॉब्यन की योजना से सहमत न होकर कहा कि सोने के सिक्के तो देश में बहुत काल से चलते आए हैं और १८३५ तक चलते रहे हैं। कमेटी के इन तर्कों के कारण यह योजना उठा रखी गई।

(४) लिंड्से का प्रस्ताव—बंगाल बैंक के तत्कालीन डिप्टी डाइरेक्टर श्री ए० एम० लिंड्से ने भी एक योजना कमेटी के समक्ष रक्खी। इस योजना में भी यही प्रस्ताव किया गया कि देश में सोने के सिक्के न चलाए जाएं। श्री लिंड्से का विचार था कि देश में विनिमय-दर को स्थायी बनाने के लिए कोई ऐसी सरल और सीधी व्यवस्था होनी चाहिए जो स्वयं पूर्ण कार्यशील हो और जिसमें किसी अन्य व्यक्ति: संस्था या सरकार का प्रबन्ध न हो। व्यवस्था ऐसी हो कि जब विनिमय-दर स्वर्ण-बिन्दु से आगे बढ़ने लगे तो रुपये का प्रसार करके उसे बढ़ने से रोक लिया जाए और जब स्वर्ण बिन्दु से नीचे गिरने लगे तो रुपये का संकुचन करके उसे गिरने से रोक दिया जाए। इस प्रकार दर स्वर्ण-बिन्दुओं के आस-पास स्थायी बनी रहेगी। इस योजना की मुख्य-मुख्य बातें ये थीं :—

(क) लन्दन में १,००,००,००० पौण्ड का एक ऋण लिया जाय और उसे 'स्वर्ण-प्रमाप-कोष' (Gold Standard Reserve) के नाम से वहीं छोड़ दिया जाए।

(ख) भारत सरकार भारत में स्टर्लिंग खरीदने वालों को लन्दन में चुकाए जाने वाले स्टर्लिङ्ग-ड्राफ्ट (Sterling Draft) बेचे। ये ड्राफ्ट १ शि० ३$\frac{3}{4}$ पेंस प्रति रुपये की दर से बेचे जाएं, अर्थात् भारत में एक रुपया लेकर लन्दन में 'स्वर्ण-प्रमाप-कोष' में से १ शि० ३$\frac{3}{4}$ पेंस भुगतान कर दिया जाय। ये ड्राफ्ट १००० पौण्ड से कम राशि के न बेचे जाएं।

(ग) इसी प्रकार लन्दन में रुपये खरीदने वालों को भारत में चुकाए जाने वाले रुपये-ड्राफ्ट (Rupee Draft) वेचे जाएं। ये ड्राफ्ट १ शि० ४$\frac{५}{१६}$ पें० प्रति रुपया की दर से वेचे जाएं, अर्थात् लन्दन में १ शि० ४$\frac{५}{१६}$ पें० ले लिया जाय और भारत में उसके वदले में सरकार १ रुपया चुका दे। ये ड्राफ्ट १५,००० रुपये से कम राशि के न वेचे जाएं।

(घ) अगर किसी समय स्टर्लिङ्ग-ड्राफ्ट इतनी मात्रा में वेच दिए जाएं कि भारत में तो अधिक रुपये इकट्ठे हो जाएं और उन्हें चुकाते-चुकाते लन्दन का 'स्वर्ण प्रमाप-कोष' समाप्त हो जाए, तो सरकार को चाहिए कि भारत में इकट्ठे हुए रुपयों में से कुछ भाग को धातु के रूप में वेचकर लन्दन में 'स्वर्ण-प्रमाप-कोष' में पौण्ड जमा कर दे। इसी प्रकार यदि कभी ड्राफ्ट वेचते-वेचते लन्दन में अधिक पौण्ड इकट्ठे हो जाएं और भारत में चुकाने के लिए रुपये न रहें तो लन्दन में इकट्ठे हुए कोष में से चाँदी खरीदकर भारत में रुपये वना लिए जाएं।

(च) देश में रुपये ही चलते रहें और सोने के सिक्कों को कानूनी मुद्रा न वनाया जाए।

श्री लिंड्से ने सोचा कि इस आयोजन के अनुसार मुद्रा-मण्डी में मुद्रा का प्रसार और संकुचन स्वयं ही होता रहेगा। जब हमारे देश में स्टर्लिंग-ड्राफ्ट वेचे जाएंगे तो मुद्रा का संकुचन होगा और जब लन्दन में वेचे हुए रुपये-ड्राफ्ट भारत में चुकाए जाएंगे तो रुपये का प्रसार होगा। इस प्रकार रुपये की विनिमय-दर स्थिर वनी रहेगी। कमेटी ने लिंड्से के इस प्रस्ताव को नहीं माना। कमेटी के सदस्यों को भय था कि ऐसा यदि किया गया तो देश में विदेशी पूंजी का आना विल्कुल रुक जाएगा। दूसरे, इंगलैण्ड में ऋण ले कर भारतीय विनिमय दर की व्यवस्था करना कमेटी को पसन्द नहीं था।

फाउलर कमेटी की सिफारिशें

(१) सावरेन और अर्द्ध-सावरेन देश की कानूनी मुद्रा वना दी जाए।

(ख) सोने के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा होते थे और चाँदी के रुपये सहायक मुद्रा, तो भी चाँदी के रुपये असीमित संख्या में लिए-दिए जा सकते थे।

सरकार ने फाउलर कमेटी की सिफारिशें मान तो लीं पर उनका प्रयोग कुछ निराले ढङ्ग पर ही किया। सबसे पहिले १८६६ में भारतीय-टंकन-नियम (Indian Coinage Act) पास किया जिसके अनुसार रुपये की विनिमय-दर १ शि० ४ पें० निश्चित की गई। इसी नियम के अनुसार देश-भर में सावरेन और अर्द्ध-सावरेन क्रमशः १५ रुपये और ७॥) रुपये के बराबर घोषित कर दिए गए। सोने के स्वतन्त्र टंकन के लिए देश में टकसाल खोलने के लिए भारत सरकार ने इंगलैंड की सरकार से आज्ञा माँगी पर उन्होंने इसकी आज्ञा न दी। इंगलैंड की सरकार ने कहा कि "भारत में सोने की टकसाल खोलने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि टकसाल में सिक्के बनाने के लिए पर्याप्त सोना नहीं मिल सकेगा।" इस प्रकार भारत सरकार ने टकसाल खोलने का विचार १६०२ में छोड़ दिया।

फाउलर कमेटी की एक सिफारिश यह थी कि रुपये के नए सिक्के तब तक न बनाए जाएं जब तक कि जनता सोने के सिक्कों से भलीभांति परिचित न हो जाए। सरकार ने सोने के सिक्कों का प्रचार किया। सावरेन तथा अर्द्ध-सावरेन मुद्रा-मण्डी में चलाए गए। सरकारी खजानों, डाकखानों तथा अन्य मौद्रिक संस्थाओं को आदेश दे दिया गया कि वे जनता में सोने के सिक्कों का प्रचार करें। सरकार ने मुद्रालयों को आज्ञा दी कि वे नोट लाने-वाले व्यक्तियों को उनके नोटों के बदले में सोने के सिक्के ही देने का प्रयत्न करें। पर सरकार के इन सब प्रयत्नों का कोई फल न निकला। सभी उपाय व्यर्थ रहे। सोने के सिक्के जो अब तक बाजारों में चल रहे थे, लौट-लौटकर सरकारी खजानों में आने लगे और कहीं-कहीं तो सरकार नोटों के बदले में रुपये चुकाने में असफल रही। इतना ही नहीं, नोटों और सोने के सिक्कों पर बट्टा लगने लगा। रुपयों की मांग बढ़ने लगी और लोग सोने के सिक्के वापिस करने लगे। सरकार ने सोचा कि जनता सोने के सिक्कों का विरोध

कर रही है और वह देश में स्वर्ण-प्रमाप स्थापित करने के पक्ष में नहीं है। अतः सरकार ने शीघ्र ही हार मानकर सन् १९०० में चांदी के रुपये बनाना आरम्भ कर दिया। १८९३ के पश्चात् रुपये के सिक्के बिल्कुल नहीं बनाए गए थे इसलिए देश में रुपयों की कमी पड़ रही थी। दूसरे, देश में व्यापार भी बढ़ता जा रहा था जिससे रुपयों की कमी और भी ज्यादा जान पड़ती थी। रुपये की कमी घटने का एक और भी कारण था। १८९८ के 'स्वर्ण नोट एक्ट' के अनुसार जो नोट छपे थे उनके बदले में रुपये के सिक्के चुकाते-चुकाते सरकारी कोष में रुपयों की कमी होने लगी थी। इस कमी को दूर करने तथा देश में सोने के सिक्कों का प्रचार करने के लिए सरकार ने सावरेन चलाए थे। परन्तु सरकार की यह योजना पूर्ण न हो सकी। सरकार ने शीघ्र ही अपनी हार मान ली कि देश में सोने के सिक्के नहीं चल सकते। परन्तु वास्तविकता कुछ और थी। जिस समय सोने के सिक्के चलाए गए थे देश की परिस्थिति उसके अनुकूल न थी। देश में अकाल पड़ रहा था जिससे लोगों को छोटी-छोटी राशि के सिक्कों की आवश्यकता थी। जनता रुपये चाहती थी, सोने के सावरेन नहीं। अतः सोने के सिक्कों के न चलने का दोष जनता पर नहीं था। यह तो सरकार की ही भूल थी कि उसने ऐसे अनुचित समय पर सोने के सिक्कों का प्रचार करना चाहा

रुपये बनाने में सरकार को जो लाभ होता रहा उसका एक कोष बना दिया गया। यह कोष भारत में ही रखा गया था। परन्तु भारत-मंत्री ने यह निश्चय किया कि इस कोष को इंगलैंड में भेज देना चाहिए और वहां उससे स्टर्लिंग-सिक्यूरिटिया खरीद लेनी चाहिएं। अतः १९०१ के बाद रुपये बनाने से जो लाभ हुआ उसे भारत सरकार ने लन्दन में स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियों खरीदने में लगा दिया। इन सिक्यूरिटियों पर जो ब्याज मिला वह भी इसी में जोड़ा जाता रहा। १९०५ में भारत सरकार ने पत्र-मुद्रा-कोष में से ५० लाख पौंड की एक राशि निकालकर इंगलैंड में भेज दी। यह राशि वहां इसलिए भेजी गई कि जिससे वह समय आने पर चांदी खरीदने के काम आ सके और चांदी के अनुकूल भावों के समय पर लाभ उठाया जा सके।

१६०६ में एक और नई बात पैदा हुई। सरकार को जनता की रुपयों की माँग पूरी करने में कुछ कठिनाई अनुभव होने लगी। अतः सरकार ने देश में ही पत्र-मुद्रा-कोष के अतिरिक्त एक स्पेशल कोष और बनाया। यह स्पेशल कोष चाँदी के रुपयों के बनाने में होने वाले लाभ में से बनाया गया तथा इसको चाँदी के रुपयों के रूप में ही रक्खा गया। इस प्रकार अब स्वर्ण-कोष की दो शाखाएं बन गईं—(१) रुपयों के रूप में जो भारत मे ही रखी गई, (२) स्टर्लिङ्ग-सिक्यूरिटियों के रूप में जो लन्दन में रखी गई थी। अब इन दोनो कोषो का नाम मिलाकर 'स्वर्ण-प्रमाप-कोष' कर दिया गया।

इतना ही नहीं हुआ वरन् लन्दन स्थित पत्र-मुद्रा-कोष के उद्देश्य में भी परिवर्तन कर दिया गया। बात यह थी कि सन् १६०० में जब रुपये का टंकन आरम्भ किया गया था चांदी खरीदने की आवश्यकता हुई। अतः लन्दन के बाजारों में से लन्दन स्थित पत्र-मुद्रा-कोष में से चांदी खरीदकर भारत मे मंगा ली गई। सबसे पहिले यह खरीद केवल दो वर्षों के लिए निश्चित की गई थी पर १६०२ में यह व्यवस्था कानून द्वारा पास कर दी गई। अब जब चाहे तभी लन्दन स्थित पत्र-मुद्रा-कोष में से चाँदी खरीदी जा सकती थी। अतः पत्र-मुद्रा-कोष जो अब तक नोटों का आधार-कोष माना जाता था, अब चांदी खरीदने के काम भी आने लगा। इसी समय भारत-मन्त्री को एक नई सूझ सूझी। सुझाया गया कि भारत स्थित पत्र-मुद्रा-कोष में से जो सोना इंगलैंड भेजा जाता है उसको इंगलैंड भेजने में बहुत ही खर्च होता है। इसलिए सोना भेजने की प्रथा को बन्द कर देना चाहिए, और उसके स्थान पर ऐसा करना चाहिए कि इंगलैंड में 'कौंसिल-बिल' बेचकर राशि प्राप्त कर ली जाए और उन बिलों का भुगतान भारत सरकार चुका दिया करे। सोचा गया कि इस प्रकार बिना भेजे ही सोना लन्दन में भारत मन्त्री को मिल जाया करेगा। इसी योजना के अनुसार भारत मन्त्री ने १६०४ के पश्चात् १ शि० ४$\frac{1}{8}$ पें० प्रति रुपया की दर से असीमित मात्रा में कौंसिल-बिल बेचना आरम्भ कर दिया। अतः १८६८ के 'स्वर्ण-नोट-एक्ट' के द्वारा बनाई गई कौंसिल-बिल बेचने की योजना अब स्थायी बना दी गई।

१९०७-८ में परिस्थिति बिलकुल उलट गई। देश में वर्षा न होने के कारण अकाल पड़ा जिससे भारत के निर्यात में कमी आ गई। योरप में भी व्यापार मन्दा पड़ गया और बेकारी बढ़ने लगी। अमरीका में भी आर्थिक संकट आया जिसके कारण संसार भर में मुद्रा की कमी सी आ गई। यहां तक कि इंगलैंड के बैंक को तो अपनी कटौती-दर भी बढ़ानी पड़ी। भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं का उत्पादन कम हुआ जिससे उनका निर्यात गिर गया। परन्तु चांदी का आयात बढ़ता ही रहा। लन्दन में कौंसिल-बिलों की मांग भी कम हो गई। इन सब कारणों से रुपये की विनिमय-दर गिरने लगी और इतनी गिरी कि ३० नवम्बर १९०७ को १ शि० ३$\frac{११}{१६}$ पें० हो गई। गिरती हुई विनिमय-दर को रोकने के लिए विदेशी विनिमय बैंकों ने भारत सरकार से प्रार्थना की कि वह लन्दन में चुकाए जाने वाले बिल बेचना आरम्भ कर दे परन्तु सरकार ने इस बात को न माना। सरकार पत्र-मुद्रा-कोष में से सोना निकाल-निकाल कर लोगों को देने लगी जिससे वे लोग इंगलैण्ड में अपना भुगतान चुका सकें और रुपये की दर कम न होने पाए। लेकिन परिस्थिति बिगड़ती गई और विनिमय-दर भी नीचे गिरती गई। अन्त में ४ मार्च १९०८ को भारत मन्त्री ने आज्ञा निकाली कि भारत सरकार १ शि० ३$\frac{२९}{३२}$ पें० की दर पर भारत में स्टर्लिङ्ग-ड्राफ्ट बेचे जिनका भुगतान लन्दन में चुकाया जाए। सबसे पहिले २६ मार्च १९०८ को स्टर्लिङ्ग-ड्राफ्ट बेचे गए। इसी बीच में भारत मन्त्री ने स्वर्ण-प्रमाप-कोष की स्टर्लिङ्ग सिक्यूरिटियों को भी बेच डाला जिससे भारत में बेचे गए स्टर्लिङ्ग ड्राफ्टों के भुगतान करने के लिए राशि प्राप्त हो सके। स्टर्लिङ्ग-ड्राफ्ट ११ सितम्बर १९०८ तक स्वतन्त्रतापूर्वक बेचे जाते रहे और उनका भुगतान भी लन्दन में चुकाया जाता रहा। इसी समय परिस्थिति संभलने लगी। और विनिमय-दर भी चढ़ी। अगले वर्ष तो निर्यात बढ़ने लगा और दर स्थायी बनती गई।

स्वर्ण-विनिमय प्रमाप का जन्म

१९०७-८ के संकट-काल को पार करने के लिए सरकार ने कुछ ऐसे

प्रयत्न किए जिससे वह अनजाने ही स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप की ओर बढ़ने लगी। सबसे पहिले सरकार के स्थानीय प्रयोग के लिए रुपयो के सिक्को के बदले में सोना देना आरम्भ किया, यद्यपि विदेशी भुगतान चुकाने के लिए सोना देने में सरकार ने कुछ आनाकानी की। बाद में परिस्थिति गम्भीर होने पर 'रिवर्स-कौंसिल-बिल' बेचना आरम्भ कर दिया गया जिससे भारतीय मुद्रा-प्रणाली लिंड्से-योजना के लगभग समीप ही आ गई। इसके अन्तर्गत कौंसिल बिल बेचकर लन्दन-स्थित पत्र मुद्रा-कोष में सोना जमा करके भारत में नोट और रुपयों में भुगतान चुकाने की प्रथा तो थी ही, जिसे १६०४ में स्थायी बना दिया गया था। १६०८ में भारत में रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचकर उनको लन्दन में चुकाए जाने की व्यवस्था भी कर दी गई। इस प्रकार-कौंसिल-बिल बेचने से स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप पूर्ण रूप से भारत मे आ गया। अब रिवर्स-कौंसिल-बिलों के द्वारा भारत में रुपया लेकर इंगलैंड में स्टर्लिङ्ग चुका दिया जाता था और कौंसिल बिलो के द्वारा इंगलैंड में स्टर्लिङ्ग-बिल बेचकर भारत में रुपया चुका दिया जाता था। यही स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप का रहस्य था। स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप स्थापित करने मे सरकार का न कोई उद्देश्य था और न इसे स्थापित करने के लिये सरकार ने कोई प्रयत्न ही किये। केवल परिस्थितियो पर काबू पाने के लिए सरकार प्रयत्न कर रही थी और प्रयत्न करते करते स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप पर आ पहुंची। यह सब कुछ बिना जाने और बिना समझे होता रहा। सरकार ने जो प्रयत्न किए वे सब फाउलर कमेटी की सिफारिशों को पूरा करने के लिए थे परन्तु इन्हीं प्रयत्नों के द्वारा देश में स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप आ गया।

भारत सरकार तथा भारत मंत्री में विरोध
(१९०८–१९१३)

पहिले कहा जा चुका है सरकार ने विनिमय-दर को गिरने से रोकने के लिए २५ नवम्बर १६०७ के पश्चात् पत्र-मुद्रा-कोष में से सोना निकाल-निकाल कर बेचना आरम्भ कर दिया था जिससे लोग माल मंगाकर इंगलैंड

के व्यापारियों को भुगतान चुका सके और रुपये की विनिमय-दर गिरने न पावे। इससे सरकार के स्वर्ण कोष पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। अतः सरकार ने मुद्रा-नीति में परिवर्तन करने के लिए भारत मन्त्री से प्रार्थना की और नीचे लिखे हुए सुझाव स्वीकृति के लिए भेजे :—

(१) स्वर्ण-प्रमाप-कोष का अधिकांश भाग भारत में ही रखा जाए जिससे भविष्य में यदि कोई १९०७-८ जैसा संकट आए तो उसका सामना किया जा सके। सरकार ने सुझाया कि भारत-स्थित स्वर्ण-प्रमाप-कोष में कम से कम २ करोड़ ५० लाख पौंड रहने चाहिए। इसलिए चांदी के रुपये बनाने में जो लाभ हो वह इंगलैंड न भेजा जाए।

(२) स्वर्ण प्रमाप-कोष का अधिकांश भाग तरल सम्पत्ति के रूप में हो जिससे उसे आवश्यकता के समय शीघ्र ही काम में लाया जा सके। कोष की राशि को सिक्यूरिटियों में न लगाया जाए क्योंकि सिक्यूरिटियों को बेचते समय उनके मूल्य में कमी हो जाने के कारण हानि होने की सम्भावना रहती है।

(३) भारत-स्थित पत्र-मुद्रा-कोष का अधिकांश भाग सोने के रूप में रखा जाए। कम से कम १ करोड़ ३० लाख पौंड का सोना हो और जब तक इतना सोना इकट्ठा न हो जाए तब तक लन्दन-स्थित पत्र-मुद्रा-कोष में सोना न बढ़ाया जाए।

(४) बम्बई की टकसाल में सोने के सावरेन बनाए जाएं।

भारत मन्त्री ने सरकार के इन सुझावों पर विचार करके यह स्वीकृति दे दी कि भारत में रखे जानेवाले स्वर्ण-प्रमाप-कोष में दो करोड़ पचास लाख पौंड रहें—और जब तक यह राशि उस कोष में इकट्ठी न हो जाए तब तक रुपये बनाने से होनेवाले लाभ को इंगलैंड न भेजा जाए। भारत मन्त्री ने सरकार के अन्य सुझावों को न माना। इस प्रकार सरकार और भारत मंत्री

के बीच विरोध उत्पन्न हो गया। वास्तव में सरकार 'स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप' स्थापित करना चाहती थी परन्तु भारत मन्त्री स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप रखना चाहते थे। इस गति-अवरोध को दूर करने के लिए १६१३ में एक कमीशन नियुक्त किया गया जिसके अध्यक्ष श्री ऑस्टिन चेम्बरलेन थे।

चेम्बरलेन कमीशन—१६१३

चेम्बरलेन कमीशन के सामने निम्नलिखित बातें विचारार्थ रखी गई :—

(क) भारत सरकार के सामान्य शेषों (General Balances) और कोषों के स्थान एवं व्यवस्था सम्बन्धी जाच;

(ख) १६६८ के पश्चात् भारत सरकार द्वारा काम में लाई गई मौद्रिक नीति की जांच-पड़ताल;

(ग) मुद्रा-सम्बन्धी अन्य बातें।

चेम्बरलेन कमीशन ने १८६३ से लेकर १६१३ तक की मौद्रिक स्थिति का अध्ययन करके फरवरी १६१४ में अपनी रिपोर्ट तैयार की। कमीशन ने निम्नलिखित सिफारिशें कीं—

(१) स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप ही देश के लिए उपयुक्त प्रमाप है क्योंकि इसको सरकार ने मुद्रा-नीति में जोड़-तोड़ करके स्थापित नहीं किया था वरन् देश की परिस्थितियों के साथ-साथ इसका जन्म और विकास हुआ। अतः यही सच्चा और वास्तविक प्रमाप है। दूसरे, यह ऐसा प्रमाप है जो किसी भी असाधारण परिस्थिति में चल सकता है। कमीशन ने कहा है कि १६०७-८ के सकट काल में भी इसमें फेर-बदल नहीं हुई। तीसरे, इसके अन्तर्गत सोने के सिक्के चलाने की आवश्यकता नहीं है जिससे सोने की बचत होती है और लोग सस्ता सिक्का लेना-देना सीखते हैं। चौथे, इसके द्वारा रुपये की विनिमय-दर-स्थायी बनी रहती है। इसके कारण बिना सोने के सिक्के चलाए १ शि० ४ पे० की दर स्थायी रह सकी थी। अतः इसी प्रमाप को अपनाना चाहिए।

(२) सोने के सिक्के चलाना देश के हित में नहीं है क्योंकि विनिमय-दर स्थायी रखने के लिए इसकी कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं होती। पिछले अनेक वर्षों से बिना सोने के सिक्के चलाए ही विनिमय-दर स्थायी बनी रही है। दूसरे, सोने के सिक्के चलाने में सोना नष्ट होता है। तीसरे, यह भी आवश्यक है कि जनता को सस्ता सिक्का लेने-देने का अभ्यासी बनाया जाए। अतः सोने के सिक्के न चलाये जाएं।

(३) सोने के सिक्के बनाने के लिए टकसाल बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु यदि देशवासी चाहते ही हैं और भारत सरकार इसका खर्च सहन कर सकती है तो एक ऐसी टकसाल खोली जा सकती है जिसमें केवल सावरेन या अर्द्ध-सावरेन ही बनाए जाए। अगर सोने की टकसाल न खोली जाए तो सरकार को चाहिए कि बम्बई की टकसाल पर ही नोट और रुपये के सिक्कों के बदले में सोना दिया करे।

(४) स्वर्ण-प्रमाप-कोष की कोई सीमा निर्धारित की जाए। रुपया बनाने मे जो लाभ हो उसे इसी कोष मे जमा कर दिया जाए। स्वर्ण-प्रमाप कोष का वह भाग जो चादी के रूप में भारत मे जमा रहता है समाप्त कर दिया जाए और कोष की सम्पूर्ण राशि लन्दन में रखी जाए। इस कोष का अधिकाश भाग सोने के रूप में रखा जाए। सोना १ करोड ५० लाख पौंड के मूल्य का हो तथा इसके पश्चात् जो राशि इस कोष में बढ़े उसका आधा भाग सोने में हो।

(५) जब कभी विनिमय-दर गिरने लगे अर्थात् १ शि० ४ पें० से कम होने लगे तो भारत सरकार १ शि० ३$\frac{29}{32}$ पे० की दर से इगलैंड में चुकाए जाने वाले रिवर्स कौंसिल बिल बेचा करे।

(६) पत्र-मुद्रा चलाने की व्यवस्था उन्नत की जाए और उसे लोचदार बनाया जाए।

(७) लन्दन-स्थित भारत कार्यालय की राजस्व समिति में कम से कम दो सदस्य भारतीय हों।

(८) देश की चलन-पद्धति को सुदृढ़ बनाने के लिए पर्याप्त मात्रा में सोना और स्टर्लिंग रखा जाए जिससे विदेशी विनिमय में सुविधा रहे।

रिपोर्ट पर सरकार की कार्यवाही

२४ फरवरी १९१४ को कमीशन ने अपनी रिपोर्ट पेश की और अप्रैल १९१४ में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो गया। अतः इन सिफारिशों पर पूरा-पूरा विचार न हो सका। फिर भी युद्धारम्भ होने के पश्चात् सरकार ने कुछ ऐसे कदम उठाए जिससे निम्न प्रतिक्रियायें हुईं :—

(१) स्वर्ण-प्रमाप-कोष का वह भाग जो चांदी के रूप में भारत में रखा जाता था समाप्त हो गया।

(२) नोटों के बदले में रुपये के सिक्के या सोना दिया जाने लगा।

(३) विनिमय-दर गिरने से भारत सरकार ने लन्दन में चुकाए जाने वाले रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचे।

(सन् १९१४ ई० से १९२५ ई० तक)

प्रथम युद्धकाल—चेम्बरलेन कमीशन की सिफारिशों पर सरकार कोई निश्चित कार्यवाही कर भी न पाई थी कि युद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध आरम्भ होते ही देश के व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्रों में भगदड़ मच गई। व्यापार को धक्का लगा, व्यापारिक शिथिलता आई, विनिमय-दर में दुर्बलता आने लगी तथा जनता बैंकों में से अपनी-अपनी जमा-राशि निकालने लगी। लोग नोटों को बदलवाकर सोना चाहने लगे। बैंकों और सरकार के प्रति जनता का विश्वास डिगने लगा। डाकखानों में से लोग अपना-अपना रुपया निकालने लगे। पहिले दो महीनों में लगभग ७ करोड़ रुपया बैंकों में से निकाला गया तथा पहिले १० महीनों में १० करोड़ रुपये के नोटों का परिवर्तन हुआ। सरकार को इस स्थिति से कुछ घबड़ाहट होने लगी। विनिमय-दर को गिरने से रोकने के लिए सरकार ने लन्दन में चुकाये जानेवाले स्टर्लिङ्ग-ड्राफ्ट अर्थात् रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचे। अगस्त १९१४ से जनवरी

१९१५ तक ८७ लाख पौंड के रिवर्स-कौंसिल-बिल सरकार ने बेचे। बैंकों और डाकखानों ने भी जनता को रुपये की माग को बराबर पूरा किया। युद्ध आरम्भ होने के एक वर्ष में ही लगभग ८ करोड़ रुपये डाकखानों से निकाले गये। पर सरकार भी बराबर रुपये देती रही। अन्त में सरकार के प्रति जनता का विश्वास लौटने लगा और राशि निकालने की जगह अब लोग जमा करने लगे। सरकार ने नोटों के बदले में सोना भी दिया। १ अगस्त १९१४ से ४ अगस्त १९१४ तक १८ लाख पौंड के मूल्य के सोने की हानि हुई। पर जब सोने की मात्रा कम होती गई तो सरकार ने आगे चलकर सोना देना बन्द कर दिया और चांदी के रुपये देना आरम्भ किया। विनिमय-दर भी उठने लगी। इस प्रकार सरकार ने युद्धकालीन विषम परिस्थिति का बुद्धिमानी से सामना किया पर १९१६ के पश्चात् स्थिति कुछ बदल गई।

स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप का अन्त

१९१६ के अन्तिम महीनो मे तथा उसके बाद भी देश के मौद्रिक क्षेत्र मे बड़ी भयंकर परिस्थितियाँ आईं। सबसे पहली बात तो यह हुई कि देश का स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप टूट गया। यह इस प्रकार हुआ। भारत का व्यापार संतुलन बहुत बड़ी मात्रा में भारत के पक्ष में हो गया। निर्यात इसलिये बढ़ा कि विदेशों में युद्ध के कारण भारत के कच्चे माल तथा अन्न की माग बढ़ने लगी। बाहर के देश युद्ध में लगे रहने के कारण कच्चा माल पैदा नहीं कर पाते थे इसलिये वे भारत से माल मगाने लगे। दूसरे, भारत विदेशों से अब उतना आयात नहीं कर पाता था जितना पहिले करता आया था क्योंकि विदेशों मे युद्ध के कारण माल बनना बन्द हो गया था। माल लाने के लिए उस समय जहाज भी नहीं मिलते थे। यदि जहाज मिल भी पाते थे तो युद्ध के कारण समुद्री मार्ग खुले हुये नहीं थे। अतः व्यापार-संतुलन भारत के पक्ष में रहने के कारण विदेशों में भारतीय मुद्रा की माग बढ़ती गई। भारतीय मुद्रा की मांग बढ़ने के कुछ और भी कारण थे। सरकार को मह

पूर्व में लड़नेवाली अंग्रेजी और भारतीय सेनाओं का खर्च देना पड़ता था। पाँच वर्ष में भारत सरकार ने १४ करोड़ पौन्ड इन सेनाओं पर खर्च किया। इससे भारतीय मुद्रा की मांग बढ़ती गई। इसके अतिरिक्त सरकार को भारत के बाजारों से इंगलैंड की सरकार के लिये माल खरीदना पड़ता था। इस माल का भुगतान इंगलैंड की सरकार भारत सरकार को उस समय नहीं करती थी पर भारत सरकार को उसका भुगतान भारतीय व्यापारियों को उसी समय करना पड़ता था। इससे सरकार की भारतीय मुद्रा की मांग बढ़ने लगी।

विदेशों से सोना-चांदी आना भी बंद हो गया। अब तक भारत विदेशों को निर्यात करके बदले में सोना-चांदी ले लेता था। परन्तु युद्धकाल में सोना-चांदी मिलना भी कठिन हो गया। विदेशी सरकारों ने अपने-अपने देशों में सोने के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिए। फिर, चांदी का उत्पादन भी कम हो गया था। चीन जो अब तक जो चांदी बेचता था, चांदी खरीदने लगा। इससे चांदी की मांग और भी बढ़ गई। मैक्सिको में जहाँ सबसे अधिक चांदी निकलती थी, गृह-युद्ध के कारण चांदी निकालने का काम बन्द हो गया था। चांदी का अभाव होने से चांदी के भाव बढ़ने लगे। चांदी के भाव बढ़ने से सरकार को रुपयों के टंकन पर अब कोई लाभ न रहा। अतः सरकार को १ शि० ४ पे० की विनिमय-दर स्थिर रखना दूभर हो गया। विनिमय-दर दिन-प्रति-दिन ऊंची चढ़ने लगी। रुपये की कीमत बाजार में १ शि० ४ पें० से अधिक हो गई। चांदी के भावों में तथा विनिमय-दर में बढ़ोत्तरी इस प्रकार हुई :—

वर्ष	चांदी का भाव	विनिमय-दर
१९१५	२८ पें० प्रति औंस	१ शि० ४ पें० प्रति रुपया
१९१६	३७ पें० प्रति औंस	१ शि० ४ पें० प्रति रुपया
१९१७	५५ पें० प्रति औंस	१ शि० ५ पें० प्रति रुपया
१९१८	५८ पें० प्रति औंस	२ शि० १ पें० प्रति रुपया
१९१९	७८ पें० प्रति औंस	२ शि० १० पें० प्रति रुपया

परिणाम यह हुआ कि सरकार १ शि० ४ पें० की विनिमय-दर को स्थायी न रख सकी और रुपये की विनिमय-दर बढ़ानी पड़ी। १ शि० ४ पें० की दर से अब तक लन्दन में जो कौंसिल-बिल बेचे जाते थे अब उनका इस दर पर बेचना बन्द कर दिया गया। अतः स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप टूट गया। देश की वह मुद्राप्रणाली जो युद्ध से पहिले चलती रही थी, समाप्त हो गई। स्वर्ण-विनिमय प्रमाप के टूट जाने पर इंगलैंड के एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री ने कहा था कि "भारत की वह अद्भुत मौद्रिक व्यवस्था; जो बड़े अनुभवों के पश्चात् स्थापित हुई थी, पानी के बबूले की भांति अचानक ही बैठ गई।"

युद्धकालीन सरकारी प्रयत्न

युद्धकाल की विषम परिस्थितियों में देश की मुद्रा-व्यवस्था को ठीक-ठीक बनाए रखने के लिए सरकार ने अनेक प्रयत्न किए। प्रयत्नों का ब्यौरा इस प्रकार है :—

(१) चांदी की खरीद—रुपयों की कमी को पूरा करने के लिए सरकार ने रुपयों के सिक्के बनाने को चांदी खरीदी। प्रतियोगिता से बचने के लिए सरकार ने कानून बनाया कि सरकार को छोड़कर कोई भी व्यक्ति बाहर से चांदी न मंगाए। अप्रैल १९१८ में अमरीका ने 'पिट्मैन एक्ट' पास किया जिसके अन्तर्गत उसने भारत सरकार को २० करोड़ औंस चांदी बेची।

(२) सिक्कों को गलाने पर रोक—चांदी तथा सोने के सिक्कों को निर्यात से रोकने के लिए ३ सितम्बर १९१७ को कानून बनाया गया कि सोना-चांदी या सिक्कों को बिना लाइसेन्स लिए निर्यात न किया जाए। २० जून १९१७ से सोने-चांदी के सिक्कों को गलाना गैरकानूनी कर दिया गया ताकि लोग सोना-चांदी इकट्ठा न कर सकें।

(३) चांदी की मितव्ययिता—चांदी की मितव्ययिता की दृष्टि से

एक रुपये और ढाई रुपये के नोट चलाए गए। १ अप्रैल १६१८ से दो आने चार आने, आठ आने के सिक्के भी चलाए गए।

(४) सोने का प्रयोग—मुद्रा की कमी को पूरा करने के लिए सरकार ने सोने के सावरेन चलाए। जनता को भी सोना बेचा गया। ४० लाख पौंड के मूल्य का सोना सरकार ने बेचा और १ करोड़ दस लाख पौंड के मूल्य के सोने के सिक्के चलाए। इस काम के लिए सरकार कोष में सोने की मात्रा बढ़ाती रही। २६ जून १६१७ को आर्डिनेंस निकाला गया कि जो कोई भी बाहर से सोना मंगाए वह उस सोने को सरकार को बेच दे। १५ रुपये के मूल्य के सोने के सिक्के भी चलाए गए।

(५) नए नोटों का चलन—नए-नए नोट छापकर चलाए गए और उनके बदले में रुपये देने की व्यवस्था भी रखी गई जिससे जनता को नोट स्वीकार करने में विश्वास बना रहे और नोट बे रोक-टोक चलते रहें। परन्तु रुपयों के सिक्कों की कमी होने के कारण सरकार ने नोटों के बदले रुपये देना बन्द कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि नोटों पर बट्टा लगने लगा पर सरकार यदा-कदा नोटों को बदलकर रुपये देती रही। नोटों की संख्या बहुत अधिक बढ़ती गई। ३१ मार्च १६१४ को ६६ लाख रुपये के नोट चलते थे जो ३१ मार्च, १६१६ को १५४ लाख रुपये के तथा ३० नवम्बर, १६१६ को १८० लाख रुपये के हो गए।

(६) विनिमय-दर का बढ़ना—चांदी के भाव बढ़ने के कारण १ शि० ४ पैं० दर स्थिर रखना असम्भव हो गया। अतः सरकार ने अगस्त १६१५ में दर १ शि० ५ पैं० कर दी। परन्तु इससे भी काम न चला। अंत में भारत मन्त्री ने घोषणा कर दी कि रुपये की विनिमय-दर चांदी के स्टर्लिङ्ग मूल्य पर आधारित कर दी जाए। अतः जैसे-जैसे चांदी का भाव चढ़ता गया विनिमय-दर भी बढ़ती गई। जनवरी १६१७ में दर १ शि० ४½ पें० थी जो मई १६१६ में १ शि० ८ पैं०, दिसम्बर १६१६ मे २ शि० ४ पें० तथा १६२० में २ शि० ११ पैं० हो गई।

(७) **विनिमय-नियन्त्रण**—रुपये की विनिमय-दर में अधिक उतार चढ़ाव होने के कारण सरकार ने विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय पर नियन्त्रण लगा दिया। इंगलैन्ड में बेचे जाने वाले कौंसिल-बिलों की मात्रा सीमित कर दी गई। इसी प्रकार भारत में बेचे जाने वाले रिवर्स-कौंसिल-बिलों की सीमा कम कर दी गई। अब ये बिल केवल सरकार द्वारा अधिकृत बैंकों को ही बेचे जाते थे तथा ऐसे माल के आयात-निर्यात में काम आते थे जो युद्ध के काम में सहायक हो।

(८) **अन्य प्रयत्न**—सरकार ने अपना व्यय कम-से-कम करने का प्रयत्न किया। युद्धकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सरकारी आय बढ़ाने को जनता पर नए-नए कर लगाए गए। जनता से सरकार ने ऋण भी लिया।

इस प्रकार भारत सरकार ने युद्धकालीन संकट का सामना किया। भारत सरकार को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सोने-चांदी के भाव ऊँचे हो गए थे, मुद्रा-स्फीति थी, वस्तुओं के भाव चढ़ रहे थे, व्यापार छिन्न-भिन्न होने लगा था तथा सरकार के सामने मौद्रिक अभाव था। हमारी मुद्रा-पद्धति लगभग विचलित हो चुकी थी। पर सौभाग्यवश १९१८ में युद्ध-समाप्ति की घोषणा हो गई। युद्ध समाप्त होते ही अमरीका आस्ट्रेलिया, इङ्गलैंड आदि युद्ध-व्यस्त देशों ने सोने के निर्यात पर से प्रतिबन्ध उठा लिए। फलस्वरूप भारत में सोना आने लगा और हमारा आर्थिक कलेवर टूटते-टूटते बच गया।

युद्धोत्तर काल

बेबिंग्टन-स्मिथ कमेटी (१९१९-२०)—युद्ध समाप्त होते ही इस बात की आवश्यकता हुई कि विनिमय-दर को स्थायी बनाया जाय। अतः भारत मन्त्री ने मई १९१९ में बेबिंग्टन-स्मिथ कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी के अध्यक्ष सर हेनरी बेबिंग्टन-स्मिथ थे। कमेटी को यह काम सौंपा गया—

(क) भारतीय मुद्रा एवं विनिमय-पद्धति पर युद्ध का प्रभाव आंकना,
(ख) भारतीय नोट-पद्धति को व्यवस्थित करने के सुझाव देना,
(ग) भारतीय व्यापार की आवश्यकतानुसार मौद्रिक व्यवस्था में हेर-फेर करने के सुझाव देना,
(घ) स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप को स्थिर बनाने के लिए सरकार को सुझाव देना।

कमेटी ने देश के पिछले इतिहास का अध्ययन करके पता लगाया कि स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप जो अब तक चलता रहा था, देश के हित में अवश्य था परन्तु वह चादी के भावो की स्थिरता पर अवलम्बित था। यही कारण था कि युद्ध-काल में चादी के भाव वढ़ने पर विमिमय-दर १ शि० ४ पें० पर स्थायी न रही और स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप पद्धति को तोड़ना पड़ा। कमेटी का विचार था कि देश मे ऐसी व्यवस्था की जाए जिससे रुपये की विनिमय-दर-स्थायी बनी रहे। विनिमय-दर के स्थायी रहने पर देश के उत्पादन, व्यापार और उद्योग की उन्नति निर्भर होती है। विनिमय-दर को स्थायी बनाने के लिए कमेटी के सामने कई प्रस्ताव आए। ये प्रस्ताव इस प्रकार थे :—

(१) रुपये को तौल में कम कर दिया जाय या उसकी चांदी को निकाल कर उसके स्थान पर निम्न-कोटि की धातु मिला दी जाय, जिससे रुपये की पुरानी विनिमय-दर अर्थात् १ शि ४ पे० स्थायी बनी रहे और चांदी का भाव बढ़ने से रुपये पर कोई प्रभाव न पड़े। कमेटी के सदस्यों ने इस प्रस्ताव को नहीं माना क्योंकि रुपये की तौल में कम करने से या उसको विकृत करने से सरकार के प्रति अविश्वास पैदा हो जाने का भय था। दूसरे, यह भी डर था कि इस प्रकार देश में दो प्रकार के रुपये हो जाएंगे जिससे लेन-देन में कठिनाई होगी और ग्रेशम का नियम लागू हो जाएगा।

(२) रुपये के सिक्कों का टंकन कुछ समय के लिए बन्द कर दिया जाए तथा दो और तीन रुपये के चाँदी के ऐसे नए सिक्के चलाए जाएं जिनमें क्रमशः दो और तीन रुपये के चांदी के अनुपात में कम चांदी हो। कमेटी ने

इस प्रस्ताव को भी स्वीकार नहीं किया क्योंकि इसमें भी वही दोष थे जो पहले प्रस्ताव में थे। दूसरे, दो या तीन रुपये के चांदी के सिक्कों से छोटे-मोटे लेन-देन के लिए काम आनेवाले छोटे-छोटे सिक्कों की आवश्यकता पूर्ण नहा हो सकती थी।

(३) जब तक चांदी का भाव ऊंचा रहे तब तक कागज के ऐसे नोट चलाए जाए, जिनको चांदी के रुपये में न बदला जाए। कमेटी को यह प्रस्ताव भी न भाया क्योंकि इस प्रकार सरकार के प्रति जनता का अविश्वास पैदा होने का भय था। दूसरे, जनता नोटों से इतना परिचित न थी कि वह नोटों का इतनी सरलता से लेन-देन कर पाती।

बेबिंग्टन स्मिथ कमेटी की सिफारिशें

कमेटी ने उक्त प्रस्तावों में से किसी को भी न माना। कमेटी के सदस्यों का मत था कि देशी और विदेशी व्यापार की उन्नति के लिये, देश की पूंजी को गतिशील बनाने के लिये तथा विदेशी पूंजी को आकर्षित करने के लिये विनिमय-दर का स्थिर रखना आवश्यक है। अतः उन्होंने विनिमय-दर की स्थिरता पर अधिक जोर दिया। फरवरी १९२० में कमेटी ने अपनी रिपोर्ट पेश की जिसमें निम्नलिखित सिफारिशें की गईं—

(१) रुपये की तौल या उसमें लगी हुई चांदी की मात्रा में कोई कमी-बेशी न की जाए। जैसा रुपया अब तक चला आया है वैसा ही चलता रहे।

(२) रुपये की विनिमय-दर स्टर्लिङ्ग में व्यक्त न करके सोने में व्यक्त की जाए। रुपये और सावरेन में १०:१ का अनुपात हो अर्थात् १ रुपया २ शि० (स्वर्ण) के बराबर हो। एक रुपया ११·३००१६ ग्रेन शुद्ध सोने के बराबर हो।

(३) सोने के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो। जनता से सोना लेकर उसके सावरेन बनाने के लिये बम्बई में एक टकसाल खोल दी जाए।

(४) सावरेन और अर्द्ध-सावरेन देश के अन्दर कानूनी मुद्रा बना दिये जाएं। सावरेन १० रुपये के बराबर हो और अर्द्ध-सावरेन ५ रुपये के बराबर हो।

(५) चादी का आयात करने की जनता को छूट दे दी जाए पर चादी का निर्यात करने की छूट न दी जाए। कमेटी को भय था कि चादी का निर्यात करने से देश में चादी की कमी हो जाएगी।

(६) सावरेन के बदले में रुपये के सिक्के देने के लिये सरकार का कोई दायित्व न हो, पर नई विनिमय-दर लागू करने पर जनता को अवसर दिया जाए कि वह सरकारी खजानों से सावरेन के बदले में रुपये ला सके।

(७) रुपये बनाने से सरकार को जो लाभ हो उसे स्वर्ण-प्रमाप-कोष मे जमा कर दिया जाए। इस कोष का अधिकाश भाग सोने में ही और आधे से अधिक सोना भारत में रखा जाए। इस कोष में सोने के अतिरिक्त जो भाग शेष रहे उसे इगलैंड मे १२ महीने की अवधि वाले स्टर्लिङ्ग-सिक्यूरिटियों में लगा दिया जाए।

(८) पत्र मुद्रा कोष का सोना-चांदी भारत में ही रखा जाए।

(९) देश की नोट-व्यवस्था को अधिक लचकदार बनाने के लिए आनुपातिक कोष-प्रणाली अपनाई जाए तथा कुल नोटों का ६० प्रतिशत से अधिक भाग सिक्यूरिटियों के बल पर न चलाया जाए।

(१०) आवश्यकता पड़ने पर भारत सरकार द्वारा चुकाए जाने वाले कौंसिल-बिल लन्दन में बेचे जाएं। भारत सरकार भी यदि आवश्यक समझे तो लन्दन में चुकाए जानेवाले रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचे।

(११) ९० दिन की अवधिवाले निर्यात-बिलों के बल पर ५ करोड़ रुपये तक के नोट चलाने का अधिकार प्रेसिडेन्सी बैंकों को दे दिया जाए।

(१२) साख-पत्रों के बल पर जो १२० करोड़ रुपये के नोट निकले हुए हैं वे केवल निश्चित अवधि के लिये होने चाहिए।

(१३) भारत सरकार की सिक्यूरिटियां २० करोड़ रुपये से अधिक की न हों।

(१४) भारतीय मुद्रा-पद्धति की कार्यशीली स्वयं पूर्ण बनाई जाए।

कमेटी की उक्त सिफारिशों में हमें दो उल्लेखनीय बातें मिलती हैं—

(अ) रुपये की विनिमय-दर स्टर्लिङ्ग में व्यक्त न करके सोने में व्यक्त करने की सिफारिश की गई।

(आ) विनिमय दर २ शि० (स्वर्ण) रखने की सिफारिश की गई जो बहुत ऊँची थी।

विनिमय-दर स्वर्ण में रखने के कारण

कमेटी ने रुपये की विनिमय दर सोने में व्यक्त करने के कई कारण बताए जो यहां दिए जाते हैं —

(१) प्रथम महायुद्ध से पहिले इंगलैंड में सोने के सिक्के चलते थे तथा स्टर्लिङ्ग और बैंक नोटों को स्वतन्त्रतापूर्वक इन सिक्कों में बदलवाया जा सकता था। परन्तु युद्धकाल में सोने के सिक्के चलना बन्द हो गया और स्टर्लिङ्ग में (जो कागज की मुद्रा थी) सोने के अनुपात में लगभग २२ प्रतिशत का बट्टा (Discount) लगने लगा। इतना ही नहीं, युद्ध के पश्चात् भी सोने के अनुपात में स्टर्लिङ्ग के मूल्य में घटा-बढ़ी होती रही जिससे स्टर्लिङ्ग की दर अस्थिर (instable) रहती थी। ऐसी अवस्था में रुपये को अस्थिर स्टर्लिङ्ग (Instable Sterling) से बाँधना बुद्धिमानी न थी क्योंकि जैसे-जैसे स्टर्लिङ्ग में उतार-चढ़ाव होते वैसे-ही-वैसे रुपये में भी घटा-बढ़ी होती और रुपये की दर स्थिर बनने के बदले उलटी अस्थिर बन जाती। इसलिए रुपये की विनिमय-दर 'स्वर्ण' स्थापित करने की सिफारिश की गई जिससे रुपये की दर स्थायी बन सके।

(२) कमेटी ने अपनी सिफारिशों में सोने और चांदी दोनों प्रकार के सिक्कों को कानूनी मुद्रा (Legal Tender) बनाने की सलाह दी थी। इसलिए सोने और चांदी के रुपये के बीच विनिमय-दर स्थापित करना अनिवार्य था। अगर रुपये और स्टर्लिङ्ग में विनिमय-दर रक्खी जाती और स्टर्लिङ्ग में उतार-चढ़ाव होने के कारण रुपया भी घटता

बढ़ता तो रुपये और सोने के सिक्को का साथ-साथ देश में चलना सम्भव नहीं हो सकता था। अतः रुपये और सोने के बीच विनिमय-दर रक्खी गई जिससे दोनो प्रकार के सिक्के निश्चित विनिमय-दर पर कानूनी मुद्रा बनकर देश मे चलते रहें।

(३) कमेटी ने सिफारिश की थी कि सोने और सोने के सिक्को का स्वतन्त्र आयात-निर्यात हो तथा सोने के सिक्कों का स्वतन्त्र टंकन (Free Coinage) भी हो। ये दोनों बातें तभी सम्भव हो सकतीं थीं जब कि विनिमय-दर चादी के रुपये और सोने के बीच में रक्खी जाती। अतः कमेटी ने रुपये की दर सोने में स्थापित की।

(४) कमेटी का कहना था कि अगर रुपये की विनिमय-दर स्टर्लिङ्ग में रक्खी जाती तो वह दर सोने में रक्खी जानेवाली इस दर से कही ऊंची रखनी पड़ती क्योंकि स्टर्लिङ्ग का मूल्य सोने में कम था। इससे इस समय तो कोई हानि न होती परन्तु जब कभी स्टर्लिङ्ग की दर बढ़कर सोने के बराबर हो जाती तो रुपये की दर ऊंची ही बनी रहती। इसलिए तब उसे नीचा लाने में उसकी दर बहुत घटानी पड़ती और इस प्रकार दर में भारी कमी करने से उस समय व्यापार को बड़ी हानि होती। अतः पहिले से ही सोच-विचार कर दर स्वर्ण में स्थापित की गई।

विनिमय-दर ऊंची रखने के कारण

कमेटी ने ऊची विनिमय-दर रखने के जो कारण बताए वे इस प्रकार हैं :—

(१) ऊंची विनिमय-दर से वस्तुओं के भाव नीचे रहेंगे जिससे सामान्य जनता को लाभ रहेगा। यदि विनिमय दर नीची रक्खी जाए तो वस्तुओं के भाव ऊंचे होते जिससे मध्यमवर्ग तथा स्थायी आय वाले लोगों को असन्तोष रहता।

(२) ऊंची विनिमय-दर से भारत के आयात बढ़ेंगे। बाहर से देश में सस्ती मशीनें आ सकेंगी जिससे सम्पत्ति उत्पादन-व्यय कम होगा और

वस्तुओं के भाव सस्ते हो जाएँगे। इससे रहन सहन का व्यय भी कम हो जाएगा।

(३) कमेटी ने बतलाया कि ऊँची विनिमय दर रखने से भारतीय उद्योगों को भी लाभ होगा क्योंकि वस्तुओं के भाव सस्ते होने से मजदूरी की दर गिर जाएगी। दूसरे, बाहर से आनेवाला पूँजीगत माल भी सस्ता मिलेगा जिससे औद्योगिक उन्नति हो सकेगी।

(४) ऊँची विनिमय-दर रखने से सरकार को भी लाभ होगा। अब उसे भारत मन्त्री को भेजी जानेवाली वार्षिक राशि (Home Charges) में कम रुपये चुकाने पड़ेंगे। जब दर १ शि० ४ पें० थी तो भारत सरकार २,५०,००,००० पौंड भेजने में ३७½ करोड़ रुपया चुकाया करती थी। परन्तु अब दर २ शि० (स्वर्ण) होने पर सरकार को १२½ करोड़ रुपये का लाभ होगा।

कमेटी ने सोचा कि ऊँची दर रखने से भारत मन्त्री के पास जमा की हुई स्टर्लिङ्ग सिक्यूरिटियाँ और सोने का मूल्य रुपयों में कम हो जाएगा परन्तु उन्होंने समझाया कि इस हानि की पूर्ति वार्षिक राशि की बचत, जो १२½ करोड़ रुपये सालाना होगी, उससे हो जाएगी।

(५) अन्त में, ऊँची दर रखने का एक और कारण था। कमेटी रुपये का सांकेतिक मुद्रा रखना चाहती थी और रुपया सांकेतिक मुद्रा तभी हो सकता था जबकि उसकी दर ऊँची रखी जाती। अतः इस उद्देश्य के लिए दर २ शि० (स्वर्ण) रखी गई। इस विषय में कमेटी ने चाँदी के भाव को अपनी दृष्टि में रखा। उन्होंने सोचा कि चाँदी का भाव अभी कुछ समय तक ऊँचा ही बना रहेगा क्योंकि इसकी माँग सभी जगह बढ़ रही है। इसलिए उन्होंने अनुमान लगाया कि यदि चाँदी की कीमत ६२·६ पें० (स्वर्ण) प्रति औंस हो तो रुपये का धातु-मूल्य १ शि० ११·३६ पें० होगा और यदि इसमें सिक्का बनाने का व्यय जोड़ दिया जाए तो रुपया २ शि० स्वर्ण के समान हो जाता है। अतः दर २ शि० स्वर्ण निश्चित की गई।

अल्पमत रिपोर्ट

सर दादीबा दलाल का विरोध—सर दादीबा दलाल बेबिंगटन-स्मिथ कमेटी के अकेले भारतीय सदस्य थे। उन्होंने कमेटी की सिफारिशो से अपना मतभेद रक्खा और अपनी अल्पमत रिपोर्ट लिखी। उन्होंने कहा कि विनिमय-दर ऊंची करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसे १ शि० ४ पे० ही रखना चाहिए। कमेटी ने चांदी के ऊंचे भाव का अनुमान लगा कर ऊंची दर की सिफारिश की थी परन्तु श्री दलाल ने कहा कि यह बात वास्तविक और सत्य नहीं है। उनकी दृष्टि में चांदी के भाव बढ़ने का कारण यह था कि सरकार ने चांदी का निर्यात बन्द करके आयात खोल दिया था। अतः उन्होंने कहा कि चांदी के ऊंचे भाव वास्तविक नहीं है। वे बनावटी हैं और इसीलिए २ शि० स्वर्ण-दर भी बनावटी दर है।

दलाल का मत था कि विनिमय-दर ऊंची रखने से देश को हानि रहेगी क्योंकि इससे हमारा निर्यात कम हो जायगा और हमारा व्यापार-संतुलन हमारे विपक्ष मे हो जाएगा। भारत मन्त्री के पास जमा की हुई स्टर्लिङ्ग सिक्यूरिटियों और सोने के मूल्य भी रुपयो में कम हो जाएंगे जिससे सरकारी कोष को हानि होगी। श्री दलाल ने कहा कि दर ऊंची करने से लेनदार और देनदार के बीच आपत्ति खड़ी हो जाएगी, उद्योगों को भी हानि होगी और निर्यात करनेवाले भी ठप्प हो जाएंगे। ऊंची-दर से भारतीय जनता को भी हानि उठानी पड़ेगी क्योंकि उनके पास लगभग ५,००,००,००० सावरेन हैं जो उन्होंने १५ रुपये प्रति सावरेन की दर से लिए होंगे परन्तु अब जिनके बदले में प्रति सावरेन १० रुपये ही मिलेंगे।

श्री दलाल ने आगे चलकर कहा कि यदि सरकार और कमेटी चांदी के भाव ऊंचे होने के कारण परेशान हैं तो चांदी की दर नीचे गिराने के यत्न करने चाहिए। इसका उपाय यह है कि चांदी के और नए सिक्के न बनाए जाएं तथा भारत सरकार द्वारा चुकाए जाने वाले कौंसिल-बिल असीमित मात्रा में लन्दन में न बेचे जाएं।

भारतीय सदस्य का मत था कि किसी भी प्रकार से रुपये की विनिमय-दर को चांदी के भावों पर आश्रित नहीं रखना चाहिए। यदि इस समय भी सरकार के पास दर ऊंची करने और रुपये में चांदी की मात्रा कम करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है तो श्री दलाल ने कहा कि मेरी राय में पहिले उपाय की अपेक्षा दूसरा उपाय करने में अधिक हानि नहीं है। श्री दलाल रुपये में चाँदी की मात्रा कम करने के पक्ष में थे परन्तु विनिमय-दर बढ़ाने के पक्ष में कभी नहीं थे।

रिपोर्ट पर सरकार की प्रतिक्रियाएं

सरकार ने बेबिंग्टन-स्मिथ कमेटी की सब सिफारिशें मान लीं। १६२० में 'भारतीय टंकन एक्ट' पास किया जिसके द्वारा सावरेन और अर्द्ध-सावरेन देश की कानूनी मुद्रा घोषित कर दिए गए। सावरेन १० रुपये अर्द्ध-सावरेन ५ रुपये के बराबर बना दिए गए। सरकारी कोषों तथा अन्य मुद्रा-कार्यालयों को आदेश दे दिया गया कि वे नई दर अर्थात् १ रुपया = २ शि० (स्वर्ण) के अनुसार रुपये का आदान-प्रदान करे। यद्यपि सरकार ने इस दर को स्वीकार कर लिया परन्तु बाजार में सावरेन का मूल्य दस रुपये से अधिक था। अतः सावरेन सिक्के के रूप में न चल सके और सरकार ने भी बम्बई में सोने के सिक्कों के लिए टकसाल खोलने का विचार छोड़ दिया।

युद्धकाल में सोने-चांदी के आयात-निर्यात पर जो नियन्त्रण लगा दिए गए थे, वे तोड़ दिए गए। फरवरी १६२० में चांदी के आयात पर से रोक हटा दी गई तथा चाँदी के आयात पर लगाया गया आयात-कर हटा लिया गया। अब देश के अन्दर सोना-चांदी बे रोक-टोक लाया ले जाया जा सकता था। सोने-चाँदी के सिक्कों को लगाने पर जो प्रतिबन्ध लगा हुआ था वह भी हटा लिया गया।

सरकार ने घोषणा कर दी कि लन्दन में भारत मन्त्री प्रति सप्ताह असीमित मात्रा में कौंसिल-बिल बेचा करेंगे। इसी प्रकार भारत में रिवर्स

कौंसिल-बिल बेचे जाने लगे। यह भी घोषणा की गई थी कि लाइसेन्स लेकर सोना आयात करने वाले लोगों से सरकार १ रुपया=११·३००१६ ग्रेन स्वर्ण की दर से सोना खरीदा करेगी।

सरकार की असफल नीति एवं उसकी आलोचना

यद्यपि सरकार ने रुपये की विनिमय-दर २ शि० (स्वर्ण) निश्चित कर दी थी पर बाजार में चांदी का भाव फिर भी ऊंचा ही रहा। इन ऊंचे भावों को देखकर सरकार ने इच्छा प्रकट की बाजार-दर पर ही रिवर्स-कौंसिल बिल बेचे जाएंगे। यह घोषणा होते ही रिवर्स-कौंसिल-बिलों की मांग एकदम बढ़ने लगी। २ फरवरी, १९२०-को स्टर्लिङ्ग और डॉलर की विनिमय-दर ४·८ डॉलर प्रति पौंड से गिरकर ३·६५ डॉलर हो गई। ऐसा होते ही रुपये और स्टर्लिङ्ग की विनिमय-दर भी बढ़ गई। यह दर बढ़ते ही लोगों को भय होने लगा। जिन लोगों ने इंगलैंड में माल भेजकर बिल ले रखे थे, वे अपने इन बिलों की कटौती कराने लगे। कटौती कराने की मांग इतनी बढ़ी कि रुपये की दर बढ़कर २ शि० ११ पे० तक जा लगी। ११ फरवरी के पश्चात् जब कटौती की धूम कम हुई तो विनिमय-दर का बढ़ना भी बन्द हुआ। २ शि० ११ पे० पर आकर टिकी हुई दर पर स्टर्लिङ्ग की मांग एक साथ बढ़ने लगी। स्टर्लिङ्ग की मांग करनेवाले वे भारतीय व्यापारी थे जो इंगलैंड में राशि भेजना चाहते थे। विदेशी व्यापारियों ने जो भारत में व्यापार करते थे अवसर से लाभ उठाकर युद्धकाल में कमाया हुआ लाभ इंगलैंड भेजना आरम्भ किया क्योंकि अब वे थोड़ा रुपया देकर अधिक स्टर्लिङ्ग भेज सकते थे। विनिमय दर ऊंची होने के कारण भारतीय व्यापारियों को अंग्रेजी माल सस्ता पड़ता था। इसलिए इस आशा पर कि आगे भी दर बनी रहेगी, उन्होंने इंगलैंड में बड़ी मात्रा में माल खरीदने के आर्डर दे दिए और इन आर्डरों का धन भी एडवान्स में भेजना आरम्भ कर दिया। इससे स्टर्लिङ्ग की मांग बढ़ गई। कुछ ऐसे सटोरिये भी थे जो इस आशा पर स्टर्लिङ्ग खरीदने लगे कि भविष्य में दर गिरने पर लाभ उठा सकेंगे। इन कारणों

से 'रिवर्स-कौंसिल-बिलों' की माँग इतनी अधिक बढ़ गई और उनमें इतना अधिक सट्टा होने लगा कि सरकारी दर और बाजार-दर में काफी अन्तर हो गया। बाजार-दर कुछ नीची रही और सरकारी दर ऊंची।

इसी समय व्यापार संतुलन भारत के विपक्ष में हो गया। इसका भुगतान चुकाने के लिए भी रिवर्स-कौंसिल-बिलों की माग बढ़ती गई। वैसे तो जनवरी १६२० से लेकर जून १६२० तक धीरे-धीरे आयात बढ़ता रहा था और निर्यात कम होता रहा था पर जून के अंत तक कोई ३ लाख रुपये से व्यापार-संतुलन विपक्ष में हो गया। इसके कई कारण थे। एक, उन देशों में जो भारत से माल आयात करते थे पहले से ही काफी मात्रा में माल मौजूद था इसलिए उन देशों में भारत का माल जाना बन्द हो गया। दूसरे, योरोप के कुछ देशों के पास भारत से माल खरीदने के लिए साधन भी नहीं थे। तीसरे, १६२० में वर्षा न होने के कारण भारत की फसलें अच्छी नहीं हुई थीं जिससे अधिक मात्रा में माल निर्यात न किया जा सका। चौथे, विनिमय-दर ऊंची होने से आयात को प्रोत्साहन मिला और निर्यात गिरते गए। पाचवे, जापान में आर्थिक संकट होने के कारण जापानी व्यापारियों ने भारत से रुई खरीदना बन्द कर दिया जिससे जापान में माल बनना भी बन्द हो गया। इस प्रकार लगभग सारे वर्ष व्यापार-संतुलन विपक्ष में ही बना रहा जिससे विनिमय-दर गिरने लगी। १ जून, १६२० को दर २ शि० १$\frac{1}{8}$ पें० थी जो ३० जून तक १ शि० ८$\frac{1}{8}$ पें० हो गई और घटते-बढ़ते इसी की आसपास घूमती रही। गिरती विनिमय-दर को रोकने के लिए सरकार ने कई प्रयत्न किए जो इस प्रकार हैं :—

(अ) सरकार ने प्रति सप्ताह २० लाख पौण्ड के रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचे और किसी-किसी सप्ताह में तो ५० लाख पौण्ड तक के बिल बेचे गए। पर इससे कुछ न हुआ। विनिमय-दर सटोरियों के हाथ की कठपुतली बन चुकी थी और वे उसे जैसा चाहते वैसा नचा सकते थे।

(आ) सरकार ने भारी-भारी मात्रा में सोना भी बेचा ताकि चांदी की तुलना में सोने का भाव गिर जाए परन्तु इससे कुछ न हुआ।

(६) विनिमय-दर को उठाने के लिए मुद्रा-संकुचन भी किया गया। जनवरी से सितम्बर तक २५ करोड़ रुपये के नोट रद्द किए गए।

इन सब प्रयत्नों का कोई वांछित परिणाम न निकला। अतः सितम्बर के अन्त में सरकार ने रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचना बन्द कर दिया। विनिमय-दर की मांग और पूर्ति की कृपा पर छोड़ दिया गया। जैसे ही सरकार ने इसे ढीला छोड़ा दर सितम्बर १९२० में १ शि० ५ पेंस पर आ गिरी। सरकार ने २ शि० (स्वर्ण) विनिमय-दर को माना तो था पर उसे निभा न सकी। अनेक प्रयत्न किए पर सफलता न मिली। सरकार के असफल प्रयत्नों का सरकारी कोष एवं देश के व्यापार और उद्योग पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। सरकार ने जो रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचे उनका भुगतान लन्दन में जमा स्टर्लिङ्ग सिक्यूरिटियों में से किया गया था। ये सिक्यूरिटियां उस समय की गई थीं जब दर १५ रु० = १ पौण्ड थी। अब इन्हीं सिक्यूरिटियों को दस रुपये प्रति पौण्ड की दर से बेचा गया। इससे भारतीय कोष को ४५ करोड़ रुपये की हानि हुई। व्यापारी वर्ग का सरकार पर से विश्वास हिल गया। बाहर माल भेजने वाले व्यापारियों के पास माल था पर कोई खरीदार न था। इसी प्रकार भारतीय आयातकों ने विदेशों से माल मंगाने के बड़े-बड़े आर्डर भेज रखे थे। उन्हें आशा थी कि विनिमय-दर ऊंची ही बनी रहेगी पर जब उनका माल भारत के बन्दरगाहों पर आकर लगा तो विनिमय-दर १ शि० ४ पें० तक जा गिरी। अतः उन्हें उसी माल के बदले में आशा से बहुत अधिक रुपये चुकाने पड़े और माल भी सस्ते-मन्दे दामों पर बेचना पड़ा। सैकड़ों व्यापारी दिवालिया हो गए। इस दुर्घटना पर सर स्टैनले रीड ने लिखा है—"उस नीति के कारण जो सरकार ने विनिमय-दर स्थिर करने के लिए अपनाई थी, विनिमय-दर में अनेक भयंकर उतार-चढ़ाव हुए जिससे व्यापार अस्त-व्यस्त हुआ, सरकार को भारी नुकसान हुआ और सैकड़ों बड़े-बड़े व्यापारी दिवालिया बन गए।" ये सब हानियाँ भारत मंत्री की प्रेरणा और दबाव के कारण हुईं। सरकार स्वयं भी नहीं जानती थी कि वह २ शि० (स्वर्ण) दर को स्थायी बना सकेगी या नहीं। यद्यपि दादीभा दलाल ने

अपनी अलग्मत रिपोर्ट में इसका विरोध किया था पर कमेटी के अन्य सदस्यों ने एक न मानी। वास्तव में कमेटी ने रिपोर्ट लिखते समय देश की परिस्थिति का ठीक ठीक अध्ययन नहीं किया था। उन्होंने दर की सिफारिश करते समय चादी के भावों को अपने सामने रक्खा था। पर वास्तविकता कुछ और थी। रुपये के स्टर्लिङ्ग मूल्य में बढ़ने का कारण यह था कि रुपये के मूल्य अन्य देशों के मुद्रा-स्तर की अपेक्षा अधिक घटे हुए थे परन्तु कमेटी इस बात से सहमत न थी। यह सब कुछ तो हुआ पर सरकार ने आगे चलकर भी स्थिति न सम्भाली। जब सरकार ने देख लिया था कि २ शि० (स्वर्ण) दर स्थापित नहीं रखी जा सकेगी तब भी रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचती ही रही जिससे भारतीय कोष की हानि बढ़ती ही गई। यदि सरकार चाहती तो रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचना कभी बन्द कर सकती थी। परन्तु सरकार ने इस ओर न सोचा और व्यापारी वर्ग को हानि उठानी पड़ी।

सरकार की उदासीनता
(१९२१-२५)

१९२० में विनिमय-दर को स्थायी बनाने में असफल होकर सरकार उदासीन होकर बैठ गई और विनिमय दर को माग और पूर्ति के सहारे छोड़ दिया। १९२१ में व्यापार-सन्तुलन भारत के विपक्ष में ही रहा परन्तु १९२२ में निर्यात बढ़ने लगे। इस वर्ष वर्षा अच्छी हुई और माल खूब पैदा हुआ। दूसरे, योरप के देशों के पास साधन भी जुट गए और वे माल खरीदने लगे। १९२१ में व्यापाराधिक्य २१ करोड़ रुपये से भारत के विपक्ष में था जो १९२२ में ९० करोड़ से, १९२४ में १५.० करोड़ से, और १९२५ में १५५ करोड़ रुपये से भारत के पक्ष में हो गया। दिसम्बर १९२१ में विनिमय-दर १ शि० ३½ पें० (स्टर्लिङ्ग) थी। इस दर को ऊंचा करने के लिए सरकार ने मुद्रा-सकुचन किया पर सफलता न मिली। सरकार ने बजट सन्तुलित करने के लिए नए-नए कर लगाए तथा छटनी का काम आरम्भ किया। भारत-मन्त्री ने लन्दन में कौंसिल-बिल बेचना बन्द कर दिया ताकि उनका भुगतान चुकाने

के लिए रुपया न देना पड़े और दर न गिर जाए। भारत मन्त्री इंगलैंड की सरकार से ऋण लेकर अब अपना काम चलाने लगे। देश में मुद्रा-संकोच भी किया गया। इन सब प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप दर १६२३ में १ शि० ४ पें० हो गई। सरकार से मांग की जाने लगी कि वह इसी दर को मान्यता दे दे, पर सरकार ने ऐसा न किया। १६२४ में दर १ शि० ६ पें० (स्टर्लिङ्ग) हो गई। अप्रैल १६२५ में स्टर्लिङ्ग और सोने का मूल्य बराबर हो गया। सरकार से मांग की जाने लगी कि वह १ शि० ६ पें० की दर को अवश्य स्थायी कर ले। सरकार ने इस विवाद को निपटाने के लिए १६२५ में एक कमीशन नियुक्त कर दिया।

प्रश्न

१—हर्शल समिति की सिफारिशों का वर्णन कीजिए और बताइए कि सरकार ने इन सिफारिशो पर क्या कार्यवाही की?

(यू० पी० १६४२, म० भा० १६४६)

२—फाउलर समिति की सिफारिशों का वर्णन कीजिए और बताइए कि सरकार ने इन पर क्या कार्यवाही की?

(यू० पी० १६४०, म० भा० १६५०)

३—१८५३ के पश्चात् भारतीय मुद्रा के इतिहास का संक्षिप्त ब्यौरा लिखो। (राज० १६४८)

४—१८६३ में भारतीय मौद्रिक-पद्धति में क्या उल्लेखनीय परिवर्तन किए गए? उनकी क्यों आवश्यकता हुई? (म० भा० १६५२)

५—१८६८ और १६२५ के बीच की मौद्रिक घटनाओं का उल्लेख कीजिए। (म० भा० १६५२)

६—भारत में स्वर्ण विनिमय-प्रमाप के दूर जाने के क्या कारण थे? (यू० पी० १६४५)

अध्याय १५

भारतीय मुद्रा का इतिहास

(History of Indian Currency)

(सन् १९२५ ई० से सन् १९३९ ई० तक)

२५ अगस्त, १९२५ को सरकार ने एक कमीशन नियुक्त किया जिसके अध्यक्ष लेफ्टिनेन्ट कर्नल हिल्टन-यंग थे। इस कमीशन में ग्यारह सदस्य थे जिनमें चार भारतीय थे। कमीशन के विचारार्थ निम्न बातें रक्खी गईं :—

(क) स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप की कार्य-शैली की जाँच एवं देश में कोई उचित मौद्रिक पद्धति स्थापित करने की योजना;

(ख) चलन एवं बैंकिंग पद्धति के समन्वय की रूपरेखा;

(ग) विनिमय-दर को स्थिर एवं स्थायी बनाने का सुझाव।

कमीशन ने उक्त विषयों पर रिपोर्ट तैयार करने से पहिले सब मुद्रा-पद्धतियों का अध्ययन किया। कमीशन ने जो सुझाव और सिफारिशें सरकार को पेश कीं उनको हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—

(१) देश में निश्चित मुद्रा-प्रणाली स्थापित करने के विषय में;
(२) रुपये की दर स्थिर करने में,
(३) देश में केन्द्रीय बैंक स्थापित करने के विषय में।

मुद्रा-प्रणाली की सिफारिश करने से पहिले कमीशन के सदस्यों ने उस समय अपनाई जाने वाली मुद्रा-पद्धति का अध्ययन किया।

हिल्टन-यंग कमीशन की रिपोर्ट

कमीशन ने स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप तथा स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप में से किसी भी पद्धति को न मानकर स्वर्ण-धातु-प्रमाप की सिफारिश की। उन्होंने कहा कि यह एक ऐसी पद्धति है जिसमें सोने के सिक्के चलाने की कोई आवश्यकता नहीं पर फिर भी स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप के सभी लाभ उपलब्ध हो सकते हैं। कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में जो सिफारिशें की वे इस प्रकार हैं :—

(क) मुद्रा-पद्धति के विषय में,

(ख) विनिमय-दर के विषय में,

(ग) केन्द्रीय बैंक स्थापित करने के विषय में।

(क) स्वर्ण धातु प्रमाप की सिफारिश—इस विषय में कमीशन ने निम्नलिखित सिफारिशें कीं :—

(१) देश में सोने के सिक्के न चलाये जाएं। रुपये और नोट विनिमय माध्यम का काम करें और उनके बदले में सोना दिया जाय।

(२) लोग किसी भी काम के लिए सोना खरीदें; चाहे वे विदेशी भुगतान करने के काम लाएं और चाहे वे उसे अपने सामाजिक कार्यों में लगाएं; सरकार को इससे कोई सरोकार न हो।

(३) केन्द्रीय बैंक (रिजर्व बैंक ऑव इन्डिया) जिसकी सिफारिश कमीशन ने की, निश्चित दर पर जनता से सोना क्रय-विक्रय करे। जनता कितना ही सोना रिजर्व बैंक से खरीदे या उसको बेचे पर ४०० शुद्ध औंस से कम सोना न खरीदा या बेचा जाए।

(४) सावरेन और अर्द्ध सावरेन कानूनी मुद्रा न रखे जाएं। वैसे तो उनका चलन पहिले ही बन्द हो चुका था पर फिर भी ये कानूनी मुद्रा थे। कमीशन ने इनको कानूनी मुद्रा न रखने की सिफारिश की।

(५) देश में 'स्वर्ण-सेविंग्स-सर्टीफिकेट' चलाए जाएं। ये सर्टीफिकेट एक तोले सोने के प्रतिनिधि-रूप पत्र हों और इनकी अवधि ३ या ५ साल

हो। ये सर्टीफिकेट लोगो को बेचे जाएं और अवधि समाप्त होने पर सरकार इनका भुगतान चुका दे। इस सिफारिश मे कमीशन के कई उद्देश्य थे। एक, जनता में स्वर्ण-धातु-प्रमाप की जानकारी बढे. दूसरे, जनता के पास से रुपया निकल-निकलकर सरकार के पास आ जाएं; तीसरे, जनता को सरकार के प्रति विश्वास बना रहे।

(६) एक रुपये के नोट चलाए जाएं पर इन नोटो के बदले में चॉदी के सिक्के न दिए जाएं।

(७) रुपये का टंकन बन्द कर दिया जाए और तब तक बन्द रहे जब तक कि रुपये की मात्रा उसकी आवश्यकता के अनुपात में हो जाए।

(८) बडी-बडी राशि के नोटों के बदले में सरकार अपनी इच्छानुसार चाहे तो रुपये दे और चाहे छोटी राशि के नोट दे। इन दोनों सिफारिशों से कमीशन का उद्देश्य रुपये के सिक्को का प्रचार कम करना और नोटों का प्रचार बढ़ाना था।

(९) पत्र-मुद्रा-कोष और स्वर्ण-प्रमाप-कोष मिलाकर एक कर दिए जाएं और इनका अनुपात कानून पास करके निश्चित कर दिया जाय। इस कोष मे सोना और सोने की सिक्यूरिटिया ४० प्रतिशत से कम न हो तथा शेष भाग सरकारी सिक्यूरिटियों और व्यापार-बिलों के रूप मे हो। सरकारी सिक्यूरिटिया कोष की एक-चौथाई या ५० करोड रुपये, इन दोनों में जो भी कम हो, उसके बराबर हों।

(१०) पत्र-मुद्रा चलाने में आनुपातिक कोष-प्रणाली का पालन किया जाए।

इस प्रकार कमीशन ने देश में एक ऐसी प्रणाली स्थापित करने की सिफारिश की जिसके अन्तर्गत सोना केवल निर्यात के लिए ही नहीं वरन् किसी भी काम के लिए मिल सकता था। इसमें सोने के सिक्के चलाने की व्यवस्था नहीं थी। इसके अन्तर्गत सोने का प्रमाप था पर सोने के सिक्के नहीं थे। इस पद्धति मे लोच थी अर्थात् रुपयो और नोटो के बदले में सोना बेचने पर मुद्रा-मण्डी में मुद्रा की कमी हो सकती थी और इसके विपरीत

सोना खरीदकर रिजर्व बैंक (जिसका प्रस्ताव कमीशन ने साथ ही साथ किया था) मुद्रा-प्रसार कर सकता था। इसमें एक लाभ यह भी था कि रुपयों और नोटों के बदले में सोना मिलता था, जिससे सामान्य जनता का इसमें विश्वास था और लोग इसे सरलता से समझ सकते थे। कमीशन के द्वारा प्रस्तावित पद्धति ने देश में स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप स्थापित करने का द्वार खोल दिया। सोने के सिक्के न चलाकर इस प्रणाली द्वारा सोने को नष्ट होने से बचाया जा सकता था। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि कमीशन ने जिस स्वर्ण-धातु-प्रमाप की सिफारिश की, वह स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप से भी अधिक सस्ता, सरल और लोचदार था।

(ख) केन्द्रीय बैंक की सिफारिश—कमीशन की दूसरी महत्वपूर्ण सिफारिश यह थी कि देश में एक केन्द्रीय बैंक स्थापित किया जाए, जो स्वर्ण-धातु-प्रमाप (जिसकी सिफारिश ऊपर दी गई है) का संचालन करे तथा सरकार के बैंक सम्बन्धी काम भी किया करे। अब तब देश के मौद्रिक क्षेत्र में साख और मुद्रा पर दो अधिकारियों के अधिकार थे। साख का प्रबन्ध 'इम्पीरियल बैंक' करता था और मुद्रा का प्रबन्ध 'सरकारी वित्त विभाग' करता था। कमीशन की सिफारिश थी कि साख और मुद्रा दोनों का प्रबन्ध करने के लिए एक केन्द्रीय बैंक हो। कमीशन इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक बनाने के पक्ष में नहीं था क्योंकि वह चाहता था किसी भी केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैंक सम्बन्धी कोई भी काम नहीं करना चाहिये। कमीशन ने अलग ही एक रिजर्व बैंक बनाने की सिफारिश की और सुझाव दिया कि वह बैंक हिस्सेदारों का बैंक हो। सरकार ने इस प्रस्ताव को यथावत् मान लिया पर कुछ कारणों से वह उसे उस समय कार्यान्वित न कर सकी। १९३४ में रिजर्व बैंक ऑव इन्डिया एक्ट पास किया गया और बड़े वाद-विवाद के पश्चात् १ अप्रैल, १९३५ को रिजर्व बैंक ऑव इन्डिया हिस्सेदारों के बैंक के रूप में जन्मा। ठीक १४ वर्ष तक यह इसी रूप में काम करता रहा। १ जनवरी, १९४९ को इसे राष्ट्रीय संस्था बनाने के लिए इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। (इसका पूर्ण विवरण आगे पढ़िए।)

(ग) विनिमय-दर की सिफारिश (विनिमय-दर वाद-विवाद)—विनिमय-दर की सिफारिश करते समय कमीशन के सामने दो सुझाव थे—एक, विनिमय-दर १ शि० ४ पे० रखी जाए; दूसरा, विनिमय-दर १ शि० ६ पें० रखी जाए। बहुत सोच विचार के पश्चात् भी कोई किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच पाता था। इस विषय पर उस समय एक देशव्यापी आन्दोलन सा उठ खड़ा हुआ। उद्योगपति, व्यापारी, अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ और सामान्य जनता—सभी अपने-अपने सुझाव देते थे। किसी का दृष्टिकोण कुछ था और कोई कुछ सोचता। कमीशन के सामने एक अच्छा खासा धर्म-संकट था। पर उन्होंने अपने दृष्टिकोण से सिफारिश की कि रुपये की दर १ शि० ६ पे० के बराबर निश्चित की जाए अर्थात् १ रुपया ८·४७५१२ ग्राम शुद्ध सोने के बराबर हो। १ शि० ६ पे० विनिमय-दर निश्चित करने के पक्ष में कमीशन ने ये तर्क दिए :—

१ शि० ६ पे० के पक्ष मे तर्क—(१) इस दर पर देश के मूल्य अन्य देशों के मूल्यों के साथ समायोजित हो चुके हैं। अतः यदि इस दर पर मूल्य परिवर्तन किया गया तो देश की अर्थ-व्यवस्था में बड़ी फेर-बदल होगी और तब देश के मूल्यों को अन्य देशों के मूल्यों के साथ स्थिर बनने में कठिनाई रहेगी। कमीशन ने आकड़े देखकर समझाया कि १९२२ के अन्त से १९२४ के मध्य तक दर १ शि० ३ पें० के आसपास रही पर इसके पश्चात् मई १९२५ से १ शि० ६ पे० रही। इसलिए इस दर मे फेर-बदल नहीं करना चाहिए।

(२) कुछ लोगो का तर्क था कि जून १९२५ मे दर १ शि० ६ पें० हुई थी और तभी से भारत के मूल्यो मे संसार के मूल्यो के साथ कोई हेर-फेर नही हुआ। अतः इससे यह मानना चाहिए कि भारत के मूल्य संसार के मूल्यों की तुलना मे नहीं आए वरन् अभी समय आया है जब कि वे तुलना में आने लगे गे। इसके उत्तर में कमीशन का तर्क था कि यह ठीक है कि जून १९२५ में ही रुपया १ शि० ६ पे० के बराबर हो सका परन्तु जून १९२४ से फरवरी १९२५ तक विनिमय-दर काफी आगे बढ़ चुकी थी और लगभग

१८ पें० हो चुकी थी। रहा यह कि जून १६२५ में भारत के मूल्यों में कोई अंतर नहीं हुआ तो इसके लिए कमीशन का तर्क था कि मूल्यों की यह स्थिरता ही इस बात का प्रमाण है कि भारत और संसार के मूल्य समानता में है और इसमें कोई परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। अतः १ शि० ६ पें० दर को मान लेना चाहिए।

(३) कमीशन ने समझाया कि मजदूरों की मजदूरी भी इसी दर के हिसाब से वस्तुओं के मूल्यों के साथ समानता में आ गई है। भारत में मजदूर लोग अपनी-अपनी मजदूरी का अधिकांश भाग खाने-पीने की चीजों में खर्च करते हैं। इन्हीं चीजों के भावों के साथ मजदूरी स्थिर हो चुकी है। इसलिए अगर १ शि० ६ पें० को छोड़ और कोई दर रक्खी गई तो मजदूरी और भावों में विषमता आ जाएगी जिससे मजदूरों की हानि होने की बात हो सकती है।

(४) कमीशन ने यह समझाया कि विनिमय-दर और कीमतें काफी समय से स्थायी बनी हुई हैं। इससे यही अर्थ निकलता है कि इन दोनों में से किसी एक में आपस में सम्बन्ध पैदा हो गया है। अन्यथा इन दोनों में से किसी एक में कभी भी कुछ फेर-बदल तो होती ही। अतः १ शि० ६ पें० दर ही मान लेनी चाहिए।

कुछ लोगों का कहना था कि १ शि० ६ पें० की दर निश्चित करने से उन ठेकों (Contracts) पर बहुत नुकसान रहेगा जो उस समय तय किए गए थे जब कि विनिमय-दर १ शि० ४ पें० थी। इस विषय में कमीशन ने समझाया कि उस समय से, जब ठेके तय हुए थे, आज तक वस्तुओं के भाव बढ़ते रहे हैं। इसलिए यदि इन ऊँचे भावों को ध्यान में रक्खा जाए तो ठेकेदारों का यह नुकसान ना के बराबर रह जाएगा क्योंकि उन्होंने इन ऊँचे भावों से अपने ठेकों पर काफी लाभ कमा लिया होगा।

कमीशन ने यह भी कहा कि ऐसे ठेके, जिनमें १ शि० ६ पें० दर स्थापित करने से कोई हानि हो सकती है, केवल थोड़े ही होंगे और थोड़े ठेकों के हित के लिए इस दर को न मानना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं

होगी। अधिकाश ठेके ऐसे हैं जो उस समय तय हुए जब कि विनिमय-दर लगभग १ शि० ६ पें० थी इसलिए इन ठेकों पर हानि होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

कमीशन ने इन तर्कों से यह निष्कर्ष निकाला कि बाजार के मूल्यों की दृष्टि से, मजदूरों की मजदूरी की दृष्टि से तथा ठेकों की दृष्टि से १ शि० ६ पें० ही वास्तविक दर है, इसलिए उन्होंने इसी दर की सिफारिश की।

१ शि० ४ पें० के विपक्ष में तर्क—कमीशन के सदस्यों ने १ शि० ४ पें० के विपक्ष में अपने कुछ तर्क दिए। ये तर्क इस प्रकार हैं:—

(१) १ शि० ४ पें० की दर वास्तविक दर नहीं है। वास्तविक और सच्ची विनिमय-दर वही हो सकती है जिसके आधार पर एक देश के मूल्य अन्य देशों के मूल्यों की समानता में स्थायी हो जाए। भारत के मूल्य १ शि० ६ पें० की दर पर अन्य देशों के मूल्यों के साथ स्थिर हो चुके हैं। इस लिए यही वास्तविक दर है। कुछ लोगों का तर्क था कि १ शि० ४ पें० को सरकार ने जोड़-तोड़ करके अनेक प्रयत्नों के बाद स्थायी बनाया है। इस लिए यदि इसको छोड़ दिया जाए तो अधिक हानि नहीं होगी। कमीशन ने इसके बदले में जवाब दिया कि रुपये की स्थायी विनिमय-दर स्थापित करने के लिए तो वर्तमान परिस्थिति को देखना चाहिए न कि बीती हुई बातों को। पीछे कुछ भी हुआ हो, आज की परिस्थिति यह है कि मूल्य १ शि० ६ पेंस की दर पर स्थायी है।

(२) कमीशन ने बताया कि अगर १ शि० ४ पें० की विनिमय-दर मान ली जाय तो देश में वस्तुओं के भाव १२½% बढ जाएंगे। चीजों के भाव बढ़ने से लोगों को विशेषतः गरीब जनता को बहुत हानि होगी। मजदूरों को भी नुकसान रहेगा क्योंकि चीजों के भाव बढ़ने से उनकी मजदूरी के बदले में कम चीजें मिला करेंगी।

(३) कमीशन ने समझाया कि १ शि० ४ पें० की विनिमय-दर मानने से सरकार को भी हानि होगी क्योंकि तब उन्हें भारत मंत्री को वार्षिक

राशि (Home Charges) चुकाने में अधिक रुपये देने पड़ा करेंगे। इस प्रकार सरकार को कोई ६ करोड़ रुपये की वार्षिक हानि उठानी पड़ा करेगी। इसकी पूर्ति के लिए सरकार जनता पर नए-नए कर लगाएगी जिससे जनता को हानि रहेगी तथा व्यापार भी शिथिल पड जाएगा। अतः १ शि० ४ पें० की दर देश के हित में नहीं हो सकती।

(४) १ शि० ६ पें० के विरोधियों ने बताया कि संसार में सोने के भाव निकट भविष्य में गिरने वाले हैं और यदि १ शि० ६ पें० की दर मान ली गई तो इससे भारत के भाव और भी अधिक गिर जाएंगे, इसलिये इस दर को नहीं रखना चाहिये। कमीशन ने इस बात को नहीं माना और कहा कि मुद्रा की विनिमय-दर स्थापित करने के समय हमें ऐसी अनिश्चित बात मानकर नहीं चलना चाहिये। यदि ऐसा हुआ तो मूल्य एक साथ नहीं गिरेंगे वरन् धीरे-धीरे गिरने शुरू होंगे।

(५) कमीशन ने समझाया कि अगर विनिमय-दर १ शि० ४ पें० रक्खी जाए तो चांदी का भाव ४३ पें० प्रति औंस से अधिक होते ही चांदी का रुपया सिक्के के रूप में न चलकर गल-गलकर चांदी के रूप में बेचा जाने लगेगा। परन्तु यदि विनिमय दर १८ पें० रक्खी जाए तो रुपया तब तक नहीं गलाया जायगा जब तक कि चांदी का भाव ४८ पें० प्रति औंस से अधिक न हो। अतः रुपया गलाया जाने का खतरा १ शि० ४ पें० में अधिक है।

(६) कुछ लोगों ने तर्क किया कि १ शि० ४ पें० की दर पर एक सावरेन १५ रुपये के बराबर होता है और १ शि० ६ पें० की दर मानने से एक सावरेन १३ रुपये ५ आने ४ पाई के बराबर होता है। अतः लेन-देन के हिसाब में १ शि० ४ पें० ही अधिक उपयुक्त है। कमीशन ने इस तर्क को हंस कर टाल दिया और कहा कि दर निश्चित करने में इन छोटी-छोटी बातों पर नहीं सोचा जा सकता।

कमीशन ने १ शि० ६ पें० के पक्ष में तथा १ शि० ४ पें० के विपक्ष में तार्किक अध्ययन करके १ शि० ६ पें० दर रखने की सिफारिश की।

पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का विरोध—सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास कमीशन के भारतीय सदस्य थे। उन्होंने विनिमय-दर के मामले में कमीशन का विरोध किया। अपनी अल्पमत रिपोर्ट लिखते हुये उन्होंने व्यक्त किया कि विनिमय-दर १८ पें० के बजाय १६ पें० रखनी चाहिए। १ शि० ६ पें० के विपक्ष में उन्होंने निम्न तर्क दिए—

(१) १ शि० ६ पें० वास्तविक और सच्ची दर नहीं है। इसे सरकार ने अपनी तरकीबों से जोड़-तोड़ करके स्थापित किया है। अतः ऐसी दर को नहीं स्थापित करना चाहिये।

(२) १ शि० ६ पें० की दर पर मजदूरी और मूल्यों में कोई समानता नहीं आई है और जब तक कोई असाधारण अधिक उथल-पुथल न होगी तब तक इस दर पर मूल्यों और मजदूरी में समानता नहीं आ सकती। इसलिए ऐसा खतरा मोल नहीं लेना चाहिए।

(३) सर पुरुषोत्तमदास ने समझाया कि अगर विनिमय दर १ शि० ६ पें० रक्खी गई तो भारत के मूल्य १२½% सस्ते हो जाएगे। इन सस्ते मूल्यों का लाभ विदेशी व्यापारी यहाँ से सस्ते माल खरीदने में उठाते रहेंगे जिससे भारतीय व्यापार का नुकसान रहेगा। इसलिए इस दर को नहीं अपनाना चाहिए।

(४) भारतीय सदस्य ने कहा कि १ शि० ६ पें० दर रखने से देनदार को नुकसान रहेगा क्योंकि रुपये की दर बढ़ाने से अब उसे अपना ऋण चुकाने में अधिक मूल्य देना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त उन लोगों को भी नुकसान रहेगा जिन्होंने उस समय कोई ऋण लिया हो जब दर १ शि० ४ पें० थी और अब उसे चुका रहे हो क्योंकि पहिले की अपेक्षा अब उन्हें अधिक मूल्य चुकाना पड़ेगा। १ शि० ६ पें० के कारण १२½% मूल्य सस्ते होने से उत्पादकों को भी हानि होगी।

(५) विरोधी सदस्य ने बतलाया कि यदि १ शि० ६ पें० की दर रक्खी गई और भविष्य में संसार के मूल्य गिरे तो भारत के मूल्य बहुत गिर

जाएंगे जिससे भारतीय उत्पादकों को बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ेगा क्योंकि उनके माल के भाव बहुत गिर जाएंगे।

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने १ शि० ६ पें० की दर का बड़ा विरोध किया और १ शि० ४ पे० की दर स्थापित करने की सिफारिश की।

उन्होंने १ शि० ४ पे० के पक्ष में कहा—(१) १ शि० ४ पें० वह विनिमय दर है जो युद्धकाल से बहुत समय तक चलती रही और जिसको सरकार ने कानून बना कर स्थापित किया था। अतः यह कानूनी दर है और इसको तब तक नहीं छोड़ना चाहिए जब तक कि उसे निबाहना असम्भव न हो।

(२) १ शि० ४ पें० दर रखने से सरकार को वार्षिक राशि भेजने में हानि अवश्य होगी पर उस हानि की पूर्ति अन्य प्रकार से की जा सकती है। १ शि० ६ पें० दर रखने से वार्षिक राशि भेजने में बचत अवश्य होगी पर इससे हमारे देश के मूल्य सस्ते हो जाएंगे जिससे हमारे उत्पादकों को हानि होगी। १ शि० ४ पे० दर पर निर्यात बढ़ेगा जिस पर निर्यात-कर लगाकर सरकार आय बढ़ा सकेगी।

(३) यह ठीक है कि १ शि० ६ पें० दर रखने के लिए सरकार के पास काफी सोना है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि १ शि० ४ पें० को न अपनाया जाए। १ शि० ४ पे० दर रखने में कम सोने की आवश्यकता होगी। सरकार का यह कर्तव्य है कि ऐसी दर रक्खे जिसमें कम खर्च हो, कम खतरा हो और अधिक लाभ हो। ऐसी दर केवल १ शि० ४ पे० है।

(४) १ शि० ६ पें० दर रखने से देनदार को बहुत कठिनाई होगी। अतः सम्भव है कि जनता का सरकार में विश्वास भी कम हो जाए।

(५) १ शि० ४ पे० की दर युद्ध से पहिले अपनाई जाती रही थी पर युद्धकाल की विषम परिस्थितियों के कारण तोड़नी पड़ी। अब युद्ध समाप्त होने पर अन्य देशों ने अपनी पुरानी दर अपना ली है तो भारत को भी अपनी पुरानी दर अर्थात् १ शि० ४ पें० लौटा लेनी चाहिए।

(६) भारतीय सदस्य ने यह माना कि १ शि० ६ पें० के अन्तर्गत रुपये के सिक्के को गलाने का खतरा तभी है जब चादी का भाव ४८ पें० प्रति औंस से अधिक हो जाए। पर उनका कहना था कि यदि चादी का भाव ४३ पें० प्रति औंस से अधिक हो सकता है तो फिर कितना भी आगे चढ सकता है। अतः केवल इसी खतरे के कारण विनिमय-दर १ शि० ४ पें० न निर्धारित की जाय यह कोई वास्तविक तर्क नहीं है। विनिमय-दर स्थापित करने में ऐसी बातों पर विचार नहीं करना चाहिए।

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने उक्त तर्कों को देते हुये सरकार से आग्रह किया कि विनिमय-दर १ शि० ४ पें० ही निर्धारित की जाए।

रिपोर्ट पर सरकार की प्रतिक्रियाएं

करेंसी एक्ट (१९२७)—सरकार ने हिल्टन-यंग कमीशन की सभी सिफारिशे मान लीं और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए सबसे पहले मार्च १९२७ मे 'करेंसी एक्ट' पास किया। इस एक्ट द्वारा रुपये की विनिमय-दर १ शि० ६ पें० बना दी गई तथा १ रुपया ८·४७५१२ ग्राम सोने के बराबर घोषित कर दिया गया। इस एक्ट में यह व्यवस्था की गई कि सावरेन और अर्द्ध-सावरेन कानूनी मुद्रा नहीं रहेगे। अब सावरेन धातु के रूप मे बिकने लगे। सरकारी मुद्रालयों को २१ रुपये ३ आने १० पाई प्रति तोले की दर से सावरेन खरीदने का आदेश दे दिया गया। इस प्रकार १ सावरेन १३ रुपया ५ आ० ४ पा० मे बिकता था। इसी एक्ट के द्वारा देश में स्वर्ण-धातु-प्रमाप स्थापित करने के लिए निम्नलिखित व्यवस्था की गई :—

(क) सरकार (या केन्द्रीय मौद्रिक संस्था जो देश में स्थापित की जाए) जनता से २१-रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोले की दर से सोना खरीदे। सोना केवल धातु के रूप में हो पर कम-से-कम ४० तोले हो; इससे अधिक कितना ही सोना सरकार जनता से खरीद सकती थी।

(ख) सरकार (या अन्य कोई मौद्रिक संस्था जो देश में स्थापित की

जाए) बम्बई की टकसाल पर २१ रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोले की दर से जनता को सोना बेचे या अपनी इच्छानुसार १ शि० ५३⁄१६ प्रति रुपया की दर से लन्दन में चुकाए जानेवाले स्टर्लिङ्ग बेचा करे। सोना या स्टर्लिङ्ग जो कुछ भी सरकार बेचे वह ४०० औंस या १०६५ तोले के मूल्य से कम न हो।

यह एक्ट भारतीय मुद्रा के इतिहास में एक विशेष स्थान रखता है क्योंकि इसी के द्वारा सरकार को पहले पहल वैधानिक रीति से सोना क्रय-विक्रय करने का अधिकार दिया गया। वैसे तो इससे पहले भी यदि सरकार चाहती तो विनिमय-दर स्थायी रखने के लिए सोने की खरीद-बेच कर लिया करती थी, पर उस समय सरकार पर कोई वैधानिक दबाव नहीं था। अब इस एक्ट के द्वारा सरकार पर कानूनी दबाव डाल दिया गया कि वह सोना खरीदे और बेचे। इस एक्ट में सबसे अधिक समझने की बात यह है कि सरकार को उसकी इच्छानुसार सोना या स्टर्लिङ्ग के बेचने का अधिकार दे दिया गया था। सोना दे या स्टर्लिङ्ग, यह बात सरकार की इच्छा पर निर्भर थी। अतः यह कहा जा सकता है कि १९२७ के करेंसी एक्ट ने भारत में स्वर्ण-धातु-प्रमाप एवं स्टर्लिङ्ग-विनिमय-प्रमाप स्थापित किया। यद्यपि सरकार को सोना या स्टर्लिङ्ग देने का अधिकार था परन्तु व्यवहार में वह सोना न देकर स्टर्लिङ्ग ही दिया करती थी। अतः यह कहना भी ठीक होगा कि इस एक्ट ने एक प्रकार से स्टर्लिङ्ग-विनिमय-प्रमाप ही स्थापित किया था। पर चूंकि उस समय स्टर्लिङ्ग सोने से सम्बन्धित था इसलिए इसे स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप भी कह सकते हैं।

इस प्रकार हिल्टन-यंग कमीशन ने देश में स्वर्ण-धातु-प्रमाप की सिफारिश की तथा १९२७ के करेंसी एक्ट से स्वर्ण-धातु-प्रमाप एवं स्टर्लिङ्ग विनिमय-प्रमाप पास किया और सरकार ने अपनी करतूतों से उसे केवल स्टर्लिङ्ग-विनिमय-प्रमाप ही रहने दिया। सिफारिश कुछ की गई थी, पास कुछ और किया गया था और होता कुछ और ही था।

रुपये का स्टर्लिङ्ग से गठबन्धन (१९३१)

१९२७ के पश्चात् हमारे व्यापार में उन्नति होने लगी—आयात-निर्यात बढ़ने लगे। यहां यह कहना कठिन है कि यह सब कुछ १ शि० ६ पे० विनिमय-दर का ही परिणाम था। वास्तव में तो संसार भर के व्यापार में उन्नति होने के कारण ऐसा हुआ था। पर यह सब कुछ अल्पकालीन ही रहा। १९२८ और १९२९ में विनिमय-दर शिथिल पड़ने लगी। सरकार ने ब्याज-दर बढाकर इसे रोकने का प्रयास किया पर सफलता न मिली। फरवरी १९३१ तक ऐसा ही होता रहा। अब सरकार को विनिमय-दर स्थिर रखने की चिन्ता होने लगी। विनिमय-दर स्थायी रखने के लिए मुद्रा-संकोच किया गया। लगभग १०३ करोड़ के नोट, चलन में से वापस खींचे गए। १९३१ मे वस्तुओं के मूल्य गिरते गए जिससे जनता मे असंतोष बढ़ता गया। सरकार ने लगान माफ कर दिए पर इससे रुपये की कमी होने लगी और विनिमय-दर पर संकट आता गया। २१ सितम्बर १९३१ को इंगलैंड ने स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग कर दिया। उसी समय भारत के गवर्नर-जनरल ने घोषणा की कि अब सरकार सोना या स्टर्लिंग नहीं बेचेगी। इससे जनता में सनसनी फैल गई। उसी समय भारत मन्त्री ने रुपये को दर १ शि० ६ पें० (स्टर्लिङ्ग) रखने की घोषणा की। २१ सितम्बर को गवर्नर-जनरल ने दुबारा घोषित किया कि सरकार १ शि० ६ पे० की दर पर स्टर्लिङ्ग बेचा करेगी परन्तु अब स्टर्लिङ्ग बेचने पर कुछ नियन्त्रण लगा दिया गया। स्टर्लिङ्ग केवल कुछ खास-खास बैंको को ही बेचा जा सकता था जो इसको केवल व्यापारिक लेन-देन में काम लाते थे। सट्टे के लेन-देन या सोना-चांदी खरीदने के लिए सोना नहीं बेचा जाता था। इस प्रकार हमारे देश में स्टर्लिङ्ग विनिमय-प्रमाप स्थापित हो गया। इस अवसर पर देश में दो विचार धाराए उत्पन्न हुई। एक पक्ष स्टर्लिङ्ग के गठबन्धन का पक्षपाती था और दूसरा इसका विरोधी था। यहा दोनो पक्षों के तर्कों का अध्ययन करना आवश्यक है।

स्टर्लिङ्ग से गठबन्धन के पक्ष में तर्क—(१) अगर रुपये को स्टर्लिंग से न बांधा जाता तो उसको स्वतन्त्र छोड़ना पड़ता। स्वतंत्र छोड़ने में रुपये की विनिमय-दर पल-पल में घटती-बढ़ती और इस प्रकार रुपया अस्थिर बन जाता। इसलिए इससे अच्छा यही हुआ कि रुपये को स्टर्लिङ्ग के साथ स्थायी बना दिया गया।

(२) भारत को इंगलैंड की सरकार के लिए ३,२०,००,००० पौण्ड की राशि प्रतिवर्ष (Home Charges) भेजनी पड़ती थी। इसलिए यह आवश्यक था कि रुपये का स्टर्लिङ्ग के साथ सम्पर्क बना रहे क्योंकि तभी यह राशि सस्ती दर पर मिल सकती थी अन्यथा न मालूम रुपये की दर कितनी बढ़ती और इस राशि को चुकाने के लिए न मालूम कितने रुपये भुगतान करने पड़ते।

(३) स्टर्लिङ्ग के पक्षपातियों ने कहा कि जब तक भारत देनदार है अर्थात् जब तक भारत पर दूसरे देशों का कर्जा है तब तक भारतीय मुद्रा को स्वतंत्र नहीं छोड़ना चाहिए। ऐसी अवस्था में रुपये का गठबन्धन करने में कोई बुराई नहीं है।

(४) उन्होंने समझाया कि भारत का अधिकांश लेन-देन इंगलैंड या दूसरे उन देशों से है जो स्टर्लिङ्ग पर आश्रित हैं। इसलिए भारत को उस व्यापार में भुगतान लेने-देने की सुविधा के लिए यह आवश्यक है कि रुपये का स्टर्लिंग के साथ गठबन्धन हो।

(५) रुपये का स्टर्लिङ्ग के साथ सम्बन्ध स्थापित करने से भारत को एक लाभ यह मिलेगा कि उसका माल स्वर्ण-प्रमाप मानने वाले देशों को खूब निर्यात होने लगेगा। (इसका कारण यह है कि सोने के अनुपात में रुपये का मूल्य कम हो जाएगा। अतः ये लोग भारत से खूब माल मंगाने लगेंगे।)

रुपये को स्टर्लिङ्ग के साथ बांधने से भारत के जानकार क्षेत्रों में बड़ा असन्तोष हुआ। गठबन्धन के विपक्षियों ने इसके विरुद्ध निम्न तर्क दिए:—

(१) रुपये का गठबन्धन करने से भारत का भाग्य इंगलैंड के साथ बांध दिया गया। जब-जब स्टर्लिङ्ग में कोई फेर-बदल होगी तो भारतीय रुपये को भी उसका फल भोगना पड़ेगा। अपना रुपया स्टर्लिङ्ग का दास बन जायगा। यदि इसे स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो कम-से-कम अपने देश की परिस्थितियों के साथ तो घटता-बढ़ता। दूसरी मुद्रा पर आश्रित होने के कारण उसका अपना अस्तित्व मिट जाएगा।

(२) स्टर्लिङ्ग के गठबन्धन से स्वर्ण प्रमाप माननेवाले देशों से आनेवाला माल भारत को मंहगा पड़ेगा जिससे हमारे व्यापारियों को और उपभोक्ताओं को कोई कम हानि नहीं होगी।

(३) चूंकि स्टर्लिंग का मूल्य सोने की अपेक्षा कम हो गया है और रुपया स्टर्लिङ्ग पर आश्रित है। अतः रुपये का मूल्य सोने की अपेक्षा कम हो जाएगा। ऐसी अवस्था में यह भय है कि देश का सोना कहीं बाहर न जाने लगे। (जो डर था वही बात हुई। सरकार देखती रही और करोड़ों रुपये का सोना देश से बाहर चला गया।)

प्रश्न

१—भारत में १६३१ के पश्चात् जो मौद्रिक प्रणाली स्थापित हुई उसकी विवेचना कीजिए। (यू० पी० १६४८)

२—किन कारणों से हिल्टन-यंग कमीशन ने स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप को अस्वीकार कर दिया था? (यू० पी० १६४८, १६४६)

३—भारत में स्वर्ण-धातु-प्रमाप क्यों कर स्थापित किया गया? (यू० पी० १६४५)

४—१ शि० ६ पे० दर के पक्ष और विपक्ष में तर्क देते हुए बतलाइए कि क्या अब रुपये की विनिमय दर १ शि० ४ पे० की जा सकती है? (यू० पी० १६४०, १६४१; राज० १६४८, म० भा० १६५२)

५—हिल्टन-यंग कमीशन की क्या सिफारिशें थी? सरकार ने उन पर क्या कदम उठाए?

(राज० १६५३, १६५१, १६५०, १६४८, म० भा० १६५२, १६४६)

अध्याय १६

युद्धकालीन मौद्रिक घटनाएं

(Wartime Fluctuations in Currency)

(१६३६-४६)

सितम्बर १६३६ में द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ हुआ। युद्धकाल में भारतीय चलन एवं विनिमय के इतिहास में अनेक नए-नए परिवर्त्तन हुए। युद्ध के फलस्वरूप हमारी आर्थिक स्थिति पर बड़ा तनाव रहा। हमारे उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन मिला, व्यापार-संतुलन हमारे पक्ष में रहा और इङ्गलैंड की सरकार पर हमारा ऋण हो गया। देश की सरकार ने परोक्ष रूप से युद्ध में भाग लिया। इससे देश में मुद्रा की माग बढ़ती गई और सरकार ने इस मांग को पूरा करने के लिए नोट चलाए। युद्ध से पहले देश भर में १८२ करोड़ रुपये के नोट चलते थे। पर युद्ध समाप्त होने पर देश में चालू नोटों की संख्या १२३३ करोड़ रुपये हो गई। देश मे मुद्रा-स्फीति हुई, वस्तुओं के भाव ऊंचे हो गए और जनता को इसके दुष्परिणाम भोगने पड़े। भारत का पौंड-पावना इङ्गलैंड की सरकार पर कर्ज हो गया।

युद्ध आरम्भ होते ही देश के मौद्रिक क्षेत्र में भगदड़ सी मच गई। लोग शनैः शनैः रुपये इकट्ठे करने लगे और इस प्रकार रुपये की माग बढ़ने लगी। नोटों को वापस करके लोग रुपये के सिक्के लेने लगे। १५ जून, १६४० से लेकर अगस्त १६४० तक २२ करोड़ रुपये के नोट रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया के पास आए जिनके बदले में बैंक ने रुपये चुकाए। रुपये के सिक्कों की बढ़ती हुई माग को वश में करने के लिए सरकार ने २५ जून, १६४० को एक विज्ञप्ति द्वारा घोषणा की कि कोई भी व्यक्ति अपनी वास्त-

धिक आवश्यकता से अधिक रुपये के सिक्के नहीं रख सकता। इस घोषणा से रुपये के सिक्कों की माँग तो कम हुई पर सहायक सिक्कों की माँग बहुत बढ़ने लगी। २० जुलाई, १९४० को सरकार ने एक आदेश निकाला जिसके अनुसार एक रुपये के नोट चलाए गए। फरवरी १९४३ में रिज़र्व बैंक ने २ रुपये के नोट चलाए।

फ्रांस के हार जाने के पश्चात् युद्ध की स्थिति और गम्भीर बन गई। नोटों के बदले में रुपयों की माँग बढ़ने लगी और लोग डाकखानों और बैंकों में से अपनी-अपनी जमा-राशि निकालने लगे। देशवासियों का सरकार की मुद्रा-पद्धति में संशय होने लगा। लोग सरकारी सिक्यूरिटियों तथा डाकखानों के सार्टीफिकेट, जो उनके पास थे, बेचने लगे।

एक रुपये और दो रुपये के नोट चलाने के अतिरिक्त सरकार ने चाँदी के सिक्कों में चाँदी की मात्रा कम कर दी। २६ जुलाई, १९४० को एक आदेश निकाला गया जिसके अनुसार चाँदी की अठन्नियों और चवन्नियों में चाँदी की मात्रा ११/१२ से घटाकर १/२ कर दी गई। २३ सितम्बर १९४० को एक आज्ञा-पत्र और निकाला गया जिसके अनुसार रुपयों में चाँदी की मात्रा ११/१२ से घटाकर १/२ कर दी गई। चाँदी के पुराने रुपयों का चलन भी बन्द कर दिया गया। ११ अक्टूबर, १९४० को एक आज्ञा-पत्र निकालकर विक्टोरिया के छापेवाले रुपये और अठन्नियाँ १ अप्रैल, १९४१ तक वापस माँग लिए गए। ४ नवम्बर, १९४१ को एडवर्ड के छापे वाले रुपये और अठन्नियाँ भी बन्द कर दिए गए। ३० सितम्बर, १९४२ तक ये सिक्के सरकारी खजानों और रेलवे स्टेशनों पर लिए जा सकते थे। १ मई, १९४२ से विक्टोरिया और एडवर्ड के छापेवाले रुपये और अठन्नियाँ वैधानिक नहीं रहे। १ नवम्बर, १९४२ से जार्ज पंचम और जार्ज छठे के छापेवाले वे रुपये और अठन्नियाँ बन्द कर दिए गए जिनमें ११/१२ भाग चाँदी का था। ३० दिसम्बर, १९४० से किटकिटी वाले नए रुपये चलाए गए। १९४२-४३ में छोटे सिक्कों की भारी कमी अनुभव होने लगी। लोग ताँबे के पैसे तथा अन्य छोटे सिक्कों को या तो गलाने लगे और या संचित करने लगे।

इस अभाव को दूर करने के लिए बड़े-बड़े स्थानो पर डाक टिकटों का उपयोग किया गया। भारत सुरक्षा कानून के अन्तर्गत रेजगारी का संचय दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया। बम्बई और कलकत्ते की टकसालों में पैसे ढाले जाने लगे। लाहौर में भी एक टकसाल स्थापित की गई जहां अगस्त १६४२ से सिक्के ढालना आरम्भ हुआ। सरकार ने जनवरी १६४२ में गिलट का २ पैसे का सिक्का चलाया। इकन्नियों और दुअन्नियो में भी गिलट का अधिक अंश मिला दिया गया। १६४३ में छेदवाला नया पैसा चलाया गया। परन्तु लोग इसे अन्य कामो में प्रयोग करने लगे जिससे सरकार को इसे बन्द करना पड़ा। रेजगारी की मांग बढ़ती गई जिसे पूरा करने के लिए सरकार ने भरसक प्रयत्न किए। १६४४ में तो प्रति मास लगभग २१ करोड़ ६० लाख छोटे सिक्के बनाए जाते थे। पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया खेरीज की कमी दूर होती गई।

देश की रक्षा के लिए तथा युद्ध-संचालन के लिए सरकार को रुपये की आवश्यकता होती थी। प्रति दिन भारतीय सेना पर लगभग २५ लाख रुपया व्यय होता था। इसकी पूर्ति के लिए सरकार ने जनता पर नए-नए कर लगाए तथा करों की दरें बढ़ा दीं। १६४० में आय-कर पर अतिरिक्त-कर लगाया। डाक की दरें बढ़ा दीं व पोस्ट कार्ड, लिफाफों की कीमतें बढ़ा दी गईं। सन् १६४२ में अधिक-लाभ-कर की दर ५० प्रतिशत से बढ़ाकर ६६$\frac{२}{३}$ प्रतिशत कर दी गई तथा अतिरिक्त-कर की दर २५ प्रतिशत से बढ़ाकर ३३$\frac{१}{३}$ प्रतिशत कर दी गई। शक्कर, दियासलाई, शराब, अफीम आदि पर चुंगी बढ़ा दी गई। युद्धकाल में इतने अधिक कर लगाए गए कि करों से होनेवाली आय जो १६३६ में ८६ करोड़ रुपये थी, वह १६४५ में ३६० करोड़ रुपये हो गई।

इसके अतिरिक्त सरकार ने जनता से ऋण भी लिया। युद्ध-काल में कुल मिलाकर ३०० करोड़ रुपया जनता से उधार लिया गया।

११, १२ और १४ जनवरी, १९४६ को मुद्रा और बैंकिंग सम्बन्धी तीन आज्ञा-पत्र निकाले गए। पहिले आज्ञा-पत्र के द्वारा सभी बैंको और सरकारी कोषों को आदेश दिया गया कि वे १०० रुपये के नोटों की संख्या का पूरा-पूरा ब्यौरा रिजर्व बैंक को भेजें। इसका उद्देश्य यह था कि १०० रुपये के नोटों की संख्या का पूरा-पूरा पता लगाया जा सके। दूसरे आज्ञा पत्र के द्वारा १०० रुपये से ऊपर वाले, ५०० रुपये, १००० रु० १०,००० रुपये के नोटों का चलन बन्द कर दिया गया।* इसका उद्देश्य यह था कि बड़ी-बड़ी राशि के नोट चलना बन्द हो जाए जिससे लोग काला-बाजारी न कर सकें। तीसरे आज्ञा-पत्र द्वारा रिजर्व बैंक को यह अधिकार दे दिया गया कि वे देश के किसी भी बैंक का निरीक्षण करे और यदि आवश्यक समझे तो किसी भी बैंक को ऋण देने व राशि जमा करने से रोक दे। इसका उद्देश्य देश के बैंकों का ठीक ठीक सचालन करना एवं देश की बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ़ करना था।

विनिमय नियन्त्रण—युद्धकाल में सरकार ने विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा दिए। विदेशी मुद्रा अब केवल उन्हीं कार्यों के लिए बेची जाती थी जो युद्ध में सहायक थे। सट्टेखोरी या मुनाफाखोरी के लिए विदेशी विनिमय नहीं बेचा जाता था। भारत-रक्षा-कानून के अन्तर्गत सरकार ने रिजर्व बैंक को अधिकार दे दिया कि वह सोना, सिक्यूरिटीज और विदेशी-विनिमय के खरीद-बेच का प्रबन्ध करे। रिजर्व बैंक ने इस काम के लिए एक विनिमय-नियन्त्रण विभाग (Exchange Control Depart-

---

*इङ्गलैंड ने कानून बनाकर ३० अप्रैल १९४५ से १० पौंड और उससे बड़ी राशिवाले नोट बन्द कर दिए थे। आस्ट्रेलिया, बेल्जियम तथा फ्रांस ने भी ऐसा ही किया था। —'कॉमर्स' जून १६, १९४५।

अब फिर भारत सरकार ने १०० रुपये से अधिक राशि के नोट चलाने की व्यवस्था कर ली है। रिजर्व बैंक इन नोटों को फिर चलाने लगा है।

nont) खोला और ४ सितम्बर, १६३६ को विनिमय-नियन्त्रण का उद्देश्य तथा उपाय समझाने के लिए एक सूचना निकाली जिससे जनता को इसकी जानकारी हो। अब विदेशी विनिमय केवल उन्हीं लोगों व संस्थाओं को बेचा जाता था जिनको रिजर्व बैंक इसके लिए उपयुक्त समझता था। ऐसे लोगों व संस्थाओं को, जो विदेशी विनिमय खरीद-बेच सकते थे, रिजर्व बैंक ने लाइसेन्स दे दिए। अब ये ही लोग रिजर्व बैंक से विदेशी विनिमय खरीद सकते थे। दूसरे लोगों को विदेशी विनिमय इन लाइसेन्स रखनेवाले बैंकों से खरीदना पड़ता था। विदेशी विनिमय का नियन्त्रण करने के लिए रिजर्व बैंक ने समय-समय पर अनेक कदम उठाये और ज्यों-ज्यों परिस्थिति बदलती गई नए-नए उपाय काम में लाए जाते रहे। कुछ महत्वपूर्ण साधन, जिनके द्वारा युद्धकाल में विनिमय-नियन्त्रण किया गया है, इस प्रकार हैं :—

(१) रिजर्व बैंक ने कुछ विदेशी विनिमय बैंकों तथा तालिका-बद्ध बैंकों को विदेशी विनिमय खरीदने-बेचने का अधिकार देने के लिए लाइसेंस दे दिए। लाइसेंस देने से पहले इन बैंकों को यह बात समझा दी गई कि किन-किन कामों के लिए तथा किस प्रकार विदेशी विनिमय बेचा करें। ये बैंक विदेशी विनिमय तभी बेचा करते थे जब कि विदेशी विनिमय खरीदने-वाला व्यक्ति माल मंगवाने का सबूत दे दिया करता था। इन बैंकों को प्रतिदिन विदेशी विनिमय खरीद-बेच का लेखा रिजर्व बैंक को भेजना पड़ता था।

(२) सरकार ने एक निर्यात-नियन्त्रण योजना बनाई। इस योजना के अनुसार यह निश्चय किया गया कि जो लोग भारत से बाहर माल भेजें और इस माल के बदले में जिन्हें विदेशी विनिमय (स्टर्लिंग को छोड़कर) मिले वे लोग इस विनिमय को रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना खर्च नहीं कर सकते।

माल के आयात करने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया कि विदेशी विनिमय, विशेषतः दुर्लभ मुद्रा, केवल उसी माल को आयात करने के लिए मिलेगी जिस माल को आयात करनेवाले व्यापारी ने सरकार से आज्ञा लेकर

मंगाया थो। यह प्रतिबन्ध २० मार्च १९४० में लगाया गया। परन्तु जैसे-जैसे परिस्थिति अनुकूल होती गई प्रतिबन्ध ढीले कर दिए गए। १९४४-४५ के पश्चात् सरकार ने माल आयात करने का प्रतिबन्ध कुछ ढीला कर दिया जिससे पहिले की अपेक्षा अब अधिक माल बाहर से आने लगा। लोगों के लिए बाहर जाने की सुविधाएं भी बढ़ा दी गईं। पहिले केवल उन्हीं लोगो को विदेशी विनिमय दिया जाता था जो किसी बहुत आवश्यक काम से विदेश जाते थे, परन्तु अब अन्य व्यापारियों और विद्यार्थियों को भी विदेश जाने की सुविधाएं मिलने लगीं।

(३) नवम्बर १९४१ में भारत सरकार ने, भारत में रहनेवाले लोगों के पास जो अमरीका का डॉलर-विनिमय था अपने अधिकार में ले लिया और उसके बदले में उनको रुपये दे दिए गए। सरकार ने भारत में रहनेवाले लोगो से अमरीका की सिक्यूरिटीज भी लेकर अपने अधिकार में कर ली और उनके बदले मे रुपये दे दिए। यह काम रिजर्व बैंक के विनिमय-नियन्त्रण विभाग के द्वारा किया गया।

(४) नवम्बर १९४० में प्रतिबन्ध लगा दिया गया कि कोई भी व्यक्ति रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना किसी भी प्रकार के सिक्के या नोट भारत से बाहर नहीं ले जा सकता। इसी प्रकार सोना या किसी अन्य प्रकार के जेवर या जवाहिरात भी बाहर नहीं भेजे जा सकते थे। इनको भेजने के लिए भी रिजर्व बैंक से आज्ञा लेनी पड़ती थी।

सितम्बर १९४२ में बाहर से नोट लाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। अब कोई भी व्यक्ति रिजर्व बैंक या भारत सरकार की आज्ञा के बिना बाहर से, रिजर्व बैंक या भारत सरकार के द्वारा भारत में चलाए गए नोटों या लंका के नोटों या अफगानिस्तान और ईरान के नोटों को छोड़ और दूसरे नोट नहीं ला सकता था। जनवरी १९४४ में भारत में चलनेवाले नोट भी बाहर से लाना बन्द कर दिया गया। रूस के सिक्कों के लाए जाने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

(५) भारत से स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र को छोड़कर अन्य देशों में रुपया भेजना भी बन्द कर दिया गया। अक्तूबर १९४१ में निश्चय कर दिया गया कि भारत में व्यापार करनेवाली कोई भी कम्पनी लाइसेंस लिए बिना अपने लाभों की कोई भी राशि स्टर्लिंग-क्षेत्र से बाहर नहीं भेज सकती। परन्तु १९४३-४४ में डॉलर मिलने लगे और अमरीका की कम्पनियों को भारत से बाहर रुपया भेजने की छूट मिल गई तथा दूसरी और कम्पनियों पर लगे हुए प्रतिबन्ध भी ढीले कर दिए गए।

(६) स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र को छोड़ अन्य देशों में जानेवाले यात्रियों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिए गए। १७ जुलाई १९४३ को भारत सरकार ने एक विज्ञप्ति निकाली जिसके द्वारा रिजर्व बैंक से आज्ञा लिए बिना विदेशों को जानेवाले लोगों पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। अब रिजर्व बैंक की आज्ञा लिए बिना कोई भी व्यक्ति बाहर नहीं जा सकता था। परन्तु ये प्रतिबन्ध उन लोगों पर नहीं थे जो ईराक, अरब, पूर्वी अफ्रीका, इंगलैण्ड या भारत की सीमा पर लगे हुए अन्य देशों को जाना चाहते हों।

(७) २८ जुलाई १९४१ को भारत में व्यापार करनेवाली जापानी कम्पनियों और दूसरे जापानी व्यापारियों के विदेशी विनिमय छीनकर सरकारी अधिकार में ले लिए गए। जापानी कम्पनियाँ और जापानी व्यापारी रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना इनको किसी काम में नहीं ला सकते थे। दिसम्बर १९४१ में जापान के साथ युद्ध आरम्भ होने पर भारत में रहनेवाले जापानियों की सम्पत्ति शत्रु-सम्पत्ति घोषित करके सरकार ने अपने अधिकार में ले ली। सन् १९४२ में जापान के अधिकार में आए हुए देशों, जैसे हांगकांग, मलाया, बोर्नियो आदि देशों के रहनेवाले लोगों की भारत-स्थित सम्पत्ति भी सरकारी अधिकार में कर ली गई।

इन सब उपायों के द्वारा भारत ने विदेशी विनिमय का नियंत्रण किया। इनका उद्देश्य यह था कि विदेशी विनिमय को अन्य कामों से बचा-बचाकर लड़ाई के लिए माल खरीदने के काम में लाया जाय। दूसरा उद्देश्य यह भी था कि विदेशी विनिमय का इस प्रकार प्रबन्ध हो जिससे शत्रु उससे

कोई लाभ न उठा सके। विदेशी विनिमय के नियंत्रण करने में इस बात का प्रयत्न किया गया कि व्यक्तिगत व्यापार कम-से-कम हो जिससे माल लाने-लेजानेवाले जहाज और अन्य व्यापारिक सुविधाएं लड़ाई के काम में लाई जा सकें। अब युद्ध समाप्त होने के बाद भी विदेशी विनिमय पर रिजर्व बैंक का नियंत्रण है।

मुद्रा-स्फीति

भारतीय मुद्रा के इतिहास में युद्ध की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना मुद्रा-स्फीति है जिससे देश में वस्तुओं के भाव असीमित गति से बढ़ते गए। युद्ध-काल में मुद्रा और साख का इतना अकल्पनीय विस्तार हुआ कि वस्तुओं की मात्रा की तुलना में लोगों की क्रय-शक्ति बढ़ गई जिससे देश का सामान्य मूल्य-स्तर ऊंचा हो गया। युद्धकाल में सरकार की मुद्रा-नीति अधिक से अधिक मात्रा में पत्र-मुद्रा चलाकर युद्ध-व्यय को पूरा करने की थी। अगस्त १९३९ में कुल मिलाकर १७९ करोड़ रुपये के नोट चलते थे, परन्तु १९४७ में कुल सख्या १२४३ करोड रुपये हो गई। नोट-वृद्धि के साथ-साथ देश में मूल्य-स्तर भी बढ़ता गया।

नोटों की सख्या बढ़ती गई और साथ ही साथ वस्तुओं के मूल्य भी चढ़ते गये। इन दोनों ही समस्याओं ने देश में मुद्रा-स्फीति का भान कराया। सबसे पहले १९४३ में भारतीय अर्थ-शास्त्रियों ने यह आवाज उठाई कि देश में मुद्रा-स्फीति के चिन्ह आ चुके हैं। उन्होंने समझाया कि देश में युद्ध के कारण मुद्रा की मात्रा बढ़ती जा रही है और उत्पादन उसकी अपेक्षा कम है। अर्थशास्त्रियों ने सकेत किया कि यह मुद्रा-स्फीति नोटों के बढ़ने के कारण पैदा हो रही है और बड़ी भयानक है। इन्डियन चेम्बर ऑव कॉमर्स एण्ड इन्डस्ट्री के अधिकारियों ने भी सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। १९४६ में फिर अर्थ-शास्त्रियों ने सरकार को इस ओर सचेत किया और कहा कि मुद्रा-स्फीति के दोष बढ़ते ही जा रहे हैं इसलिए जनता को इन दोषों से बचाने के लिए सरकार को शीघ्र प्रयत्न करने चाहिए। रिजर्व बैंक ऑव

इन्डिया ने भी इस बात को मान लिया कि देश में मुद्रा-स्फीति है परन्तु उसने इसको दूर करने के कोई उपाय नहीं बताए। रिजर्व बैंक के हिस्सेदारों की ८ वीं वार्षिक मीटिंग की रिपोर्ट में कहा गया था कि "देश में मुद्रा की संख्या बढ़ने के कारण मुद्रा-स्फीति पैदा हो गई है। परन्तु इसको दूर करने के उपाय सोचने से पहिले हमें यह सोचना होगा कि मुद्रा की संख्या क्यों बढ़ रही है। और यदि मुद्रा की संख्या बढ़ने के कारणों पर विचार करें तो पता लगता है कि उन कारणों को दूर करने में अकेला रिजर्व बैंक कुछ नहीं कर सकता।" इससे अगली रिपोर्ट में रिजर्व बैंक ने स्वीकार किया कि "मुद्रा-स्फीति को जीवन की आवश्यक वस्तुओं जैसे खाना, कपड़ा आदि के उत्पादन में कमी होने के कारण और भी बल मिलता जा रहा है जिससे वस्तुओं के भाव निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं।" १९४४ में रिजर्व बैंक ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट में बताया कि "मुद्रा-स्फीति को दूर करने के लिए सरकार ने जनता से ऋण लेना आरम्भ कर दिया है तथा नए-नए टैक्स भी लगाए गए हैं। अगर इन दोनों बातों में सरकार को सफलता न मिली तो देश में मूल्य-स्तर गिराना तथा जनता का जीवन-व्यय कम करना असम्भव हो जायगा।"

मुद्रा-प्रसार का सबसे बड़ा कारण भारत सरकार द्वारा मित्र-राष्ट्रों को युद्ध में आर्थिक सहायता देना था। भारत सरकार ने इंगलैंड और मित्र-राष्ट्रों के लिए भारत के बाजारों से अन्न, कपड़ा आदि आवश्यक माल खरीदा। यह माल युद्ध चलाने के लिए खरीदा गया था। इस माल के बदले में इंगलैन्ड की सरकार ने भारत सरकार को नकद रुपया नहीं दिया वरन् वह रुपया इंगलैंड में भारत के हिसाब में जमा कर लिया जाता था और बदले में रिजर्व बैंक को स्टर्लिङ्ग-सिक्यूरिटियां दे दी जाती थीं। इन्हीं सिक्यूरिटियों के बल पर नोट छापकर चलाए जाते और व्यापारियों का भुगतान किया जाता था। इस प्रकार नोटों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती रही। पहले-पहल इंगलैंड की सरकार ने ४०६ करोड़ रुपये का माल खरीदने के लिए भारत

सरकार को आर्डर दिए। परन्तु जैसे-जैसे युद्ध बढ़ता गया वैसे-वैसे अधिक माल खरीदा जाता रहा और नोटों की संख्या बढ़ता रहा।

भारत जितना माल आयात करता था उससे कहीं अधिक माल निर्यात करता था। इस अनुकूल व्यापारधिक्य के बदले में भारत ने न तो माल पा सका और न सोना ही मिला। इसके बदले में तो स्टर्लिङ्ग मिले जिनके आधार पर सरकार ने नोट छापकर व्यापारियों के भुगतान चुकाए। युद्ध काल में सोना चांदी भी देश से बाहर भेजे गए। फेडरेशन आफ इण्डियन चेम्बर्स ऑफ् कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री की १६वीं वार्षिक रिपोर्ट से पता चलता है कि १९४० में लगभग ३५ करोड़ रुपये का सोना बाहर भेजा गया जिसके बदले में स्टर्लिङ्ग मिले जिनके आधार पर हमारे यहां मुद्रा प्रसार हुआ।

केन्द्रीय सरकार ने युद्ध काल में खर्चा भी खूब किया जिससे देश में मुद्रा-प्रसार बढ़ता गया। सरकार ने रक्षा-विभाग पर काफी खर्च किया १९३९-४० से १९४६-४७ तक १९८३·५० करोड़ रुपये व्यय किए गये। इसका यह परिणाम हुआ कि देश में मुद्रा की मात्रा बढ़ती गई। इस खर्च के लिए सरकार ने जनता से ऋण लिये और भारी-भारी टैक्स भी लगाये। नोट भी छाप छापकर चलाये गये। सरकार ने स्टर्लिङ्ग-सिक्यूरिटीज के आधार पर तो नोट चलाये ही—ट्रेजरी-बिलों (Treasury Bills) के आधार पर भी नोट छापे। १९३९-४० में ट्रेजरी बिलों की संख्या, जिनके आधार पर नोट छापे गए थे, ३० करोड़ रुपये थी परन्तु १९४१-४२ में इनकी संख्या ७५ करोड़ रुपये हो गई तथा १९४२-४३ में इनकी संख्या १३१ करोड़ रुपये तक जा पहुँची।

समस्या को हल करने के लिए सरकार ने जनता के प्रतिनिधियों से सलाह की। सब वर्गों ने समर्थन किया कि वस्तुओं के मूल्य बहुत ऊँचे हैं और अब उनको रोकना चाहिए। पूंजीवादियों ने उत्पादन-वृद्धि पर जोर दिया और सुझाव दिए कि मजदूरों की मजदूरी निश्चित कर दी जाए, आवागमन के साधन सुव्यवस्थित किए जाएँ तथा आय-कर में छूट दी जाए और

बैंक-दर न बढ़ाई जाए। मजदूर दल के नेताओं ने मुनाफाखोरी तथा रिश्वत-खोरी को कठोरतापूर्वक हटाने की सलाह दी। बैंकों के प्रतिनिधियों ने बैंक-दर बढ़ाने पर जोर दिया। परन्तु सभी वर्गों ने इस बात का समर्थन किया कि सरकार अपना व्यय कम करके बजट के घाटे को पूरा करे। सरकार ने इन सब सुझावों को सामने रखकर अनेक प्रयत्न किए। जीवन की आवश्यक वस्तुओं, विशेषतः अन्न-कपड़े पर नियन्त्रण लगा दिए—इनके मूल्य निश्चित कर दिए गए तथा सरकार ही इन वस्तुओं के बेचने का प्रबन्ध भी करने लगी। मुद्रा की बढ़ी हुई संख्या को कम करने के लिए नए-नए कर लगाए। सरकार ने जनता से ऋण लिए। बचत बैंकों में राशि जमा करने की सीमा बढ़ा दी गई। कम्पनियों के द्वारा बाटे जानेवाले लाभांश सीमित कर दिए। सरकार ने सोना भी बेचा जिससे लोग सोना खरीदकर क्रय-शक्ति सरकार को लौटा दें। विदेशों से माल आयात करने की छूट दे दी गई जिससे लोग माल आयात करें और देश में माल का अभाव दूर हो। केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों ने अपने-अपने खर्चे कम करने के लिए प्रयत्न किए। केन्द्रीय सरकार ने प्रांतीय सरकारों को दी जानेवाली सहायता कम कर दी। राज्य-सरकारों ने कृषि-आय-कर तथा बिक्री-कर लगा दिए। औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने के लिए नई-नई सुविधाएं दी गईं। घोषणा की गई कि नए उद्योगों में कुछ निश्चित समय तक आय कर नहीं लिया जाय तथा विदेशों से यंत्रादि मँगाने पर उन पर आयात-कर की छूट दे दी गई। इससे नए उद्योग खुलने में सहायता मिली। परन्तु मुद्रा-स्फीति की मूल समस्या हल न हो सकी।

युद्ध समाप्त होने के पश्चात् भी देश में वस्तुओं के भाव ऊँचे चढ़ते रहे। अगस्त १९४५ में अर्थ-सलाहकार का मूल्यांक २४४·१ था जो नवम्बर १९४६ में बढ़कर २८८·६ हो गया। नवम्बर १९४६ के पश्चात् वस्तुओं के भाव और चढ़े और इतने चढ़ गए कि मार्च १९४७ तक मूल्यांक ३०४ हो गया और अगस्त १९४८ तक ३८२ हो गया। अन्न के भाव सबसे अधिक ऊँचे हो गए। सितम्बर १९४५ में अन्न का मूल्यांक २६४·२ था जो मार्च

१९४८ में बढ़कर ४०२ हो गया। अन्न के अतिरिक्त कच्चे माल के भाव भी बहुत ऊँचे रहे।

युद्ध के पश्चात् भी कुछ समय तक नोटों की संख्या बढ़ती ही रही। ३१ दिसम्बर, १९४७ को कुल ११५४ करोड़ रुपये के नोट थे परन्तु जनवरी १९४८ में इनकी संख्या १२४८ करोड़ रुपये हो गई और जून १९४९ में यही संख्या आगे बढ़कर १२५४ करोड़ रुपये हो गई। परिचलन (Circulation) में भी नोटों की संख्या बढ़ती ही गई। सितम्बर १९४७ में ११४१.८८ करोड़ रुपये के नोट चलते थे परन्तु जून १९४९ में यह संख्या बढ़कर १२४१.९७ करोड़ रुपये हो गई।

रिजर्व बैंक के कोष में स्टर्लिंग सिक्यूरिटियों की संख्या, जिनके बल पर युद्ध काल में नोट छापे गए थे; लगभग स्थिर रही परन्तु नोटों की संख्या बढ़ती गई। इसका अर्थ यह निकलता है कि युद्धोत्तर काल में युद्धकाल की भांति स्टर्लिंग के आधार पर नोट नहीं छापे गए वरन् देश में रुपये की आवश्यकता को पूरा करने के लिए व बजट के घाटे को पूरा करने के लिए नोट छापकर चलाए गए। सरकार को काश्मीर की लड़ाई के लिए, हैदराबाद की चढ़ाई के लिए तथा बेघर लोगों को बसाने के लिए रुपये की आवश्यकता थी और इसलिए नोटों की संख्या बढ़ाई गई। सरकारी कर्मचारियों और मजदूरों के वेतन में वृद्धि होने के कारण भी सम्भवतः कुछ अधिक मुद्रा की आवश्यकता हुई, पर मुद्रा में यह वृद्धि उस समय हुई जब कि उत्पादन में एक तिहाई कमी हो गई थी। युद्धकाल में विदेशी सरकार की रुपये की कमी को पूरा करने के लिए मुद्रा-प्रसार हुआ तथा युद्धोत्तर काल में भारत सरकार की रुपए की कमी को पूरा करने के लिए नोट चलाए गए इसलिए मुद्रा-प्रसार हुआ।

युद्ध के पश्चात् केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के बजट घाटे में चलते रहे जिसे पूरा करने के लिए पहिले तो नोट छापे गए तथा बाद में रिजर्व बैंक की रोकड़ राशि में से खर्च किया गया। इससे मुद्रा की संख्या बढ़ती

गई। बजट में घाटा होने के कारण थे—अन्न पर असाधारण खर्चा, बे-घर लोगों को बसाने का खर्चा तथा सरकारी खर्चों में बढ़ोत्तरी आदि।

इसी प्रकार प्रान्तीय सरकारों के बजट भी घाटे में चलते रहे जिसे पूरा करने के लिए मुद्राशक्ति बढ़ाई गई परन्तु उत्पादन न बढ़ाया जा सका।

युद्ध के बाद माल का उत्पादन भी कम होता गया। 'ईस्टर्न एकोनोमिस्ट' द्वारा तैयार किए गए उत्पादन के अंकों से पता चलता है कि १६४३-४४ में औद्योगिक उत्पादन के अंक १२६.८ थे जो १६४६-४७ में १०५ हो गये। अन्न-उत्पादन का तो और भी बुरा हाल रहा। १६३६-३७ में अन्न-उत्पादन के औसत अंक १०० थे जो १६४५-४६ में घट कर ६४ आ गए तथा १६४६-४७ में ६६ और १६४७-४८ में ६७ हो गये। इस प्रकार उत्पादन की कमी होने से बाजार में माल की कमी रही और भाव चढ़ते रहे। औद्योगिक उत्पादन गिरने के कारण थे—सरकार द्वारा उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का विचार, कच्चे माल की कमी, मजदूरों की हड़ताल, मशीनों की खराबी, भारी-भारी टैक्स तथा ऊँची-ऊँची दरों पर मजदूरी का भुगतान, आदि-आदि। १६४६ में उद्योगों ने श्रम-विवादों के कारण १,२०,००,००० पुरुष-दिन खोये और १६४७ में १,७०,००,००० पुरुष-दिन खोए। इस प्रकार उत्पादन तो कम रहा ही परन्तु वितरण की दुर्व्यवस्था के कारण भी महंगाई बनी रही। लोगों ने माल छिपा-छिपा कर इकट्ठा किया। सरकार ने संग्रह-विरोधी कानून भी बनाए परन्तु कोई फल न निकला। युद्ध के पश्चात् महात्मा गांधी ने कण्ट्रोल हटाने का आन्दोलन उठाया। अन्न-नीति निर्धारण-समिति ने भी कण्ट्रोल हटा लेने की सिफारिश की। तदनुसार सरकार ने दिसम्बर १६४७ में कण्ट्रोल तोड़ दिए। कण्ट्रोल हटाते ही वस्तुओं के भाव आकाश में चढ़ने लगे और जनता को और भी अधिक कठिनाई रही। अक्टूबर १६४८ में कण्ट्रोल फिर लगा दिए गए परन्तु मूल्य ज्यों के त्यों रहे। यदि सच पूछा जाय तो अन्न की विकट समस्या ने मूल्यों के बढ़ने

में काफी सहायता की। देश के विभाजन से तो स्थिति और भी अधिक गम्भीर हो गई।

व्यापार-चक्र के सिद्धान्तों के अनुसार १९४९ के पश्चात् मूल्य-स्तर गिरने का अनुमान लगाया जाता था और आशा की जाती थी कि इस वर्ष के पश्चात् तो अवश्य ही मंदी होगी परन्तु इसी बीच में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक नई हलचल पैदा हो गई जिसने मूल्यों के बढ़ने में काफी योग दिया। पूर्व में कोरिया का युद्ध आरम्भ होते ही माल के भाव और अधिक चढ़ने लगे। देश भर में एक प्रकार का आतंक छा गया। अमरीका तथा इंगलैंड युद्ध के लिए पुनः शस्त्रीकरण के काम में जुटने लगे। अमरीका तथा अन्य यूरोपीय देशों में माल संग्रह करने की योजनाएँ बन गईं। ये देश लड़ाई का अनुमान लगाकर कच्चा माल इकट्ठा करने लगे जिससे हमारे देश से इनकी माँग बढ़ गई और माल के भाव अधिक ऊँचे होने लगे। रुपये के अवमूल्यन का भी मूल्य वृद्धि पर कुछ अनुकूल ही प्रभाव पड़ा।

सरकार ने स्थिति की गम्भीरता को देखकर मूल्य-स्तर कम करने की ठानी। एक विस्तृत योजना बनाकर मूल्यों को कम करने का प्रयत्न किया गया। इस योजना की मुख्य-मुख्य बातें थीं—अन्न के उत्पादन में वृद्धि करके वितरण पर नियन्त्रण रखना, बजट के घाटे-पूरे करके संतुलित बजट बनाने का प्रयत्न करना, सरकारी व्यय कम करना, सरकारी आय बढ़ाना, जनता को बचत करने की सुविधाएँ देना तथा कम्पनियों के लाभांश सीमित करना। १९५१-५२ के बजट में बजट बनाते समय ५ करोड़ रुपये का घाटा था जो ३० करोड़ रुपये के नए प्रस्तावों के बाद बराबर करके बजट में २६ करोड़ रुपये का आधिक्य रक्खा गया। सन् १९५२ का बजट पेश करते समय ज्ञात हुआ कि गत वर्ष बजट में ९२ करोड़ रुपये की बचत हुई। इससे क्रय-शक्ति अवश्य कम हुई। गत १२ वर्षों में इतनी बचत का यह पहिला बजट था। नवम्बर १९५१ में साख-सुविधाएँ कम करके मूल्य गिराने की नीयत से सरकार ने एक नया कदम और उठाया। बैंक-दर ३ प्रतिशत से बढ़ाकर ३½ प्रतिशत कर दी गई तथा रिज़र्व बैंक ने खुला-बाजार क्रियाएँ बन्द कर

दीं। इससे मुद्रा-प्रसार पर आशानुकूल प्रभाव पड़ा। ये सरकार के अन्तिम उपाय थे जो उसने मूल्य स्तर को गिराने के लिए किए।

इन उपायों का कुछ चमत्कारी परिणाम निकला। मार्च १९५२ के आरम्भ से ही मूल्यों में संकट का वायुमण्डल छाया। वस्तुओं के भावों में गिरावट आई। लगभग सभी वस्तुओं जैसे अन्न, तेल, गुड़, रुई, पटसन, सोना, चाँदी के भाव नीचे आने लगे। ऐसा प्रतीत होता था कि मुद्रा-स्फीति का चक्र समाप्त होकर अवसाद आनेवाला हो। पर कुछ ही समय बाद से स्थिति फिर बदल गई। भाव चढ़ने लगे। आज वस्तुओं के भाव कुछ स्थिर से बन चुके हैं। अन्य देशों की अपेक्षा भारत का मूल्यांक ऊँचा ही है। कोरिया में विराम संधि होने के पश्चात् मूल्यों में कमी होने लगी है। अमरीका की ओर से अवसाद की अन्य बातें आने लगी हैं। इधर हमारी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत उत्पादन में वृद्धि हुई है। अतः अब तो प्रश्न यह हो चला है कि देश को सम्भावित अवसाद के चंगुल से कैसे बचाया जायगा।

प्रश्न

१—भारत में युद्धकालीन मुद्रा प्रसार के कारणों पर प्रकाश डालिए। इसका भारत की आर्थिक व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा?

(यू० पी० १९४५, १९४४)

२—द्वितीय युद्ध का भारतीय मुद्रा के इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा?

(राज० १९४८)

३—भारत सरकार ने मुद्रा-स्फीति को दूर करने के लिए क्या उपाय किए? व्यौरेवार लिखो।

(म० भा० १९५१)

अध्याय १७

पौंड पावने एवं उनका भुगतान

(Sterling Balance and its Payment)

द्वितीय विश्व-युद्ध की हमारे लिए सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि हमारे देश का इंगलैन्ड की सरकार पर करोड़ों रुपये का ऋण हो गया। युद्ध से पूर्व हमारा देश इंगलैन्ड के साम्राज्यवादी ऋण के भार से दबा हुआ था। युद्धकाल में यह सब ऋण चुका दिया गया। भारतवासियों ने भूखे पेट और नंगे शरीर रह कर इंगलैन्ड को करोड़ों रुपयों का माल भेजा तथा इंगलैन्ड की सरकार को युद्ध-व्यय चलाने में सहायता की। जो माल हम भेजते थे उसके बदले में हमारे हिस्से में इंगलैन्ड में पौंड जमा हो जाते थे। इसी ऋण-राशि को 'पौंड पावना' कहते हैं। रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया एक्ट की धारा ३३ के अनुसार रिजर्व बैंक को स्टर्लिङ्ग-सिक्यूरिटियों के बल पर नोट चलाने का अधिकार था। युद्धकाल में इंगलैंड की सरकार हमारे माल के बदले में स्टर्लिङ्ग-सिक्यूरिटियाँ देती रही और रिजर्व बैंक इनके बल पर देश में नोट छापकर चलाता रहा। इस प्रकार हमारे देश में नियन्त्रित मूल्यों पर माल खरीदा गया और पौंड-पावने जमा होते रहे। पौंड-पावने इस प्रकार बढ़ते गये—

वर्ष	राशि
१९३९-४०	१४५ करोड़ रुपये
१९४०-४१	१४८ ,,
१९४१-४२	२८४ ,,
१९४२-४३	५११ ,,

१६४३-४४	६४८ करोड़ रुपये
१९४४-४५	१४७२ ,,
१६४५-४६	१६८० ,,

१६४७ के अन्त में पौंड-पावने लगभग १७०० करोड़ रुपये के आंके गए थे। पौंड-पावने इंगलैंड में हमारी सबसे बड़ी सम्पत्ति थी जिसके कमाने में देशवासियों को अभूतपूर्व संकट का सामना करना पड़ा। इसके इकट्ठे होने से देश लेनदार अवश्य बन गया पर इससे देश का आर्थिक कलेवर अस्त-व्यस्त हो गया। बंगाल का अकाल और गगनचुम्बी मूल्य-स्तर इसी के दुष्परिणाम थे। ये हमारे त्याग और बलिदानों के संग्रह थे। इनका समुचित प्रयोग हमारे कई आर्थिक प्रश्नों को सरलता से हल कर सकता था। युद्धोत्तरकालीन देश के आर्थिक विकास की योजनाएँ जो यंत्रों और अन्य पूंजीगत माल के अभाव मे अपूर्ण थीं इन पर आस लगाए बैठी थी। वास्तव में हमारे लिए पौंड-पावनों का बड़ा महत्व था।

पौंड-पावने के भुगतान के विषय में चर्चा युद्धकाल से चलती आई थी। ब्रेटनवुड्स नामक स्थान पर होनेवाले अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक-सम्मेलन में भाग लेते हुए लार्ड कीस ने इन ऋणों के न्यायोचित भुगतान के पक्ष में दलील दी थी। डाक्टर हिक्स ने हमारी इस पूंजी को 'अवक्षणीय कोष' कहकर पुकारा था। उनका मत था कि युद्धकाल में भारतवासियों ने नंगे-भूखे रह-कर जो त्याग किए, भारतीय उद्योगों के यत्नों की जो घिसावट हुई उन्हीं के परिणामस्वरूप यह पौंड-पावने थे जिन पर भारत का न्यायपूर्ण अधिकार था। पर युद्धकाल में ही हमें हमारे पौंड-पावनों का भुगतान सम्भव नहीं था क्योंकि इंगलैंड उस समय भुगतान करने में समर्थ नहीं था। उसे स्वयं अमरीका का दरवाजा खटखटाना पड़ रहा था। युद्ध समाप्त होने पर पौंड-पावनों के भुगतान में इंगलैंड की सरकार आनाकानी करने लगी। मिस्टर चर्चिल ने, जो उस समय भी इंगलैंड के प्रधान मन्त्री थे; इस पूंजी के भुगतान का घोर विरोध किया। उसकी मुख्य दलीलें इस प्रकार थीं :—

(क) चूंकि भारत की रक्षा के लिए इंगलैंड ने प्रयत्न किया था इसलिए ऋण में कमी की जानी चाहिए:

(ख) इंगलैंड की आर्थिक स्थिति तथा ऋण भुगतान करने की शक्ति घट गई थी इसलिए इन ऋणों में कमी हो जानी चाहिए।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करके देखा जाए तो इन दलीलों में कोई तथ्य नहीं था। ये तो इंगलैंड के राजनीतिज्ञों की परम्परागत चालबाजी की तरकीबें थीं। इन्हीं तरकीबों के कारण हमारे पौंड-पावनों का भुगतान टलता रहा। भारत सरकार एवं भारतवासियों को भय बना रहा कि कहीं चर्चिल सरकार एक कलम चलाकर हमारी सम्पत्ति का निबटारा न कर दे और हमें अब भी केवल यातनाएँ ही भोगनी पड़े। परन्तु भारत का भाग्य! इंगलैंड के चुनावों में चर्चिल पार्टी हार गई और वहां के शासन की बागडोर श्रम-दल के हाथ लगी। मि० एटली प्रधान मन्त्री हुए। नई सरकार ने हमारे पौंड पावनों का सम्मानपूर्वक भुगतान चुकाने का निर्णय किया। पर इंगलैंड इतनी बड़ी राशि का भुगतान एक साथ ही नहीं चुका सकता था क्योंकि उसकी आर्थिक स्थिति अधिक अच्छी नहीं थी। दूसरे, भारत को ऐसे पूंजीगत माल की आवश्यकता थी जो इंगलैंड में उपलब्ध नहीं था। अतः भारत का काम भी इङ्गलैंड से ही माल मंगाकर पौंड-पावना चुका लेने से नहीं चल सकता था। अतः निश्चय किया गया कि इंगलैंड की सरकार भारत सरकार से सम्मेलन करके शनैः शनैः दोनों की सुविधानुसार इनका भुगतान चुका दे। इसके लिए दोनों सरकारों के बीच में जो समझौते हुए वे इस प्रकार हैं।

पौंड-पावनों का भुगतान—१९४७ का समझौता

जनवरी १९४७ में दोनों सरकारों के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार भारत को पौंड-पावनों के बदले में स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र से माल खरीदने का अधिकार मिला। यह समझौता अधिक दिन न चल सका। इसी बीच इंगलैंड और अमरीका में एक आर्थिक समझौता हुआ। इससे परिस्थिति विल-

कुल बदल गई और इंगलैंड को भारत के साथ एक नए सिरे से समझौता करना पड़ा। यह समझौता १४ अगस्त, १९४७ को हुआ। इस समझौते के अनुसार इंगलैंड की सरकार ने हमारे पौंड-पावनों के दो खाते खोल दिए। खाता नं० १ में ६½ करोड़ पौंड जमा किया गया जिनको खर्च करके किसी भी देश से माल खरीदा जा सकता था। बचा हुआ कोष ११६ करोड़ पौंड बराबर आंका गया और इसे खाता नं० २ में जमा कर दिया गया। खाता नं० २ की राशि केवल पूंजीगत माल खरीदने के काम आ सकती थी। यह भी तय किया गया कि खाता नं० २ की राशि पर साधारण व्याज-दर से अधिक व्याज मिलेगा। यह समझौता पत्र-व्यवहार द्वारा आगामी ६ महीने के लिए बढ़ा दिया गया। भारत को १ करोड़ पौंड और मिले। इस विषय में यह बात समझने योग्य है कि एक वर्ष के अन्दर भारत को जो स्टर्लिङ्ग खर्च करने के लिए मिला वह खर्च नहीं हो सका। उसका कारण यह था कि न तो सरकार के पास माल आयात करने की कोई योजना थी और न पूंजीपतियों को इतना समय मिल सका कि वे बाहर से माल मंगा सकते।

जुलाई सन् १९४८ का समझौता

इस समझौते की शर्तें १५ जुलाई को एक साथ भारत और ब्रिटेन में प्रकाशित कर दी गई थीं। समझौते की मुख्य शर्तें यह थीं :—

(क) १ अप्रैल १९४७ को अविभाजित भारत की सरकार ने इंगलैंड द्वारा भारत में छोड़े गए सभी फौजी सामान को अपने अधिकार में ले लिया था। इसका मूल्य उस समय निश्चित नहीं किया गया था वरन् यह बात बाद में निश्चित करने के लिए छोड़ दी गई थी। इसका मूल्य ३७½ करोड़ पौंड या ५०० करोड़ रुपये आंका गया किन्तु १० करोड़ पौंड या १३३·३ करोड़ रुपये में यह मूल्य तय हो गया। यह राशि हमारे पौंड-पावनों में से कम कर दी गई।

(ख) समझौते का दूसरा भाग पेंशनों के विषय में है। भारत स्वतंत्र

होने के बाद बहुत से अंग्रेज अफसर रिटायर (retire) हो गए। इनकी पेंशन देने का भार भारत सरकार पर था। समझौते के अनुसार पेंशनों का मूल्य १४ करोड़ ६५ लाख पौन्ड या १६७ करोड़ रुपये निश्चित किया गया। पेंशन चुकाने के लिए भारत सरकार ने इङ्गलैंड की सरकार से एक वार्षिकी (Annuity) खरीद ली जिसके लिए १६७ करोड़ रुपये की राशि पौण्ड-पावनों में कम कर दी गई। यह राशि केन्द्रीय अफसरों की, जो रिटायर्ड हो गए थे, पेंशनों के चुकाने के लिए निश्चित की गई थी। इसके अतिरिक्त भारत ने प्रान्तीय सरकारों के अंग्रेज अफसरों की पेंशन चुकाने के लिए भी ५७ करोड़ रुपयों की एक वार्षिकी खरीद ली और यह राशि भी पौण्ड-पावनों में कम कर दी गई। इस प्रकार वार्षिकी के खाते पर कुल २२४ करोड़ रुपये कम किए गए। यह भी निश्चित किया गया कि वार्षिकी के बदले इङ्गलैंड की सरकार भारत सरकार को प्रतिवर्ष एक निश्चित राशि दिया करेगी। यह राशि ६० वर्ष तक हमें मिलती रहेगी। परन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि यह एक आर्थिक समझौता ही था—जहां तक पेंशन देने की जिम्मेदारी का प्रश्न है वह तो भारत सरकार ही की है।

(ग) इससे पिछले समझौतों के अनुसार भारत को १११ करोड़ रुपयों के पौण्ड-पावने लेने का अधिकार मिला था परन्तु इससे केवल ४ करोड़ रुपये की राशि का ही उपयोग किया जा सका। अतः इसमें से १०७ करोड़ भारत और ले सकता था। इनके अतिरिक्त अगले तीन वर्षों के लिए इंगलैंड ने इस समझौते के अनुसार १०७ करोड़ रुपये के पौण्ड-पावने देना और स्वीकार किया। अतः कुल मिलाकर जून १६५१ तक हमें २१४ करोड़ रुपये के पौण्ड-पावनों का उपयोग करने का अधिकार मिला। यह भी निश्चित किया गया कि व्यापार-सतुलन से भारत का जो आधिक्य होगा उसकी राशि का प्रयोग भी माल मंगाने में किया जा सकेगा।

इस समझौते के समय पौण्ड-पावनों की राशि १५५० करोड़ रुपये आंकी गई थी। इसमें से फौजी सामान के १३३ करोड़ रुपये, पेंशनों के २२४ करोड़ रुपये तथा पाकिस्तान के हिस्से के लगभग १२६ करोड़ रुपये

निकालकर शेष १०६७ करोड़ रुपये के पौण्ड-पावने शेष रहते थे। इस राशि में से २१४ करोड़ रुपये जून १९५१ तक निकालना तय किया गया। इस प्रकार ८५३ करोड़ रुपये के पौण्ड-पावने शेष समझे गए। निम्न तालिका से यह हिसाब सरलता से समझा जा सकेगा :—

इस समझौते के समय पौण्ड-पावनों का मूल्य		१५५० करोड़ रु०
व्यय—(१) फौजी सामान खरीदने में	१३३ करोड़ रु०	
(२) पेशनों के लिए वार्षिकी	२२४ ,,	
(३) पाकिस्तान का हिस्सा	१२६ ,,	४८३ ,,
शेष		१०६७ करोड़ रु०
जून ११५१ तक मिलने की निश्चित की गई राशि		
(१) पिछले समझौतों का शेष	१०७ करोड़ रु०	
(२) इस समझौते की नई राशि	१०७ करोड़ रु०	
		२१४ करोड़ रु०
जून १९५१ को बचनेवाली अनुमानित राशि		८५३ करोड़ रु०

इस समझौते के अनुसार तय किया गया कि जून १९५१ तक मिलनेवाली १०७ करोड़ रुपये की नई राशि में से अगले वर्ष में केवल २० करोड़ रुपये के पौण्ड-पावने डॉलर या अन्य किसी दुर्लभ-मुद्रा में बदले जा सकते थे। यद्यपि एक वर्ष में २० करोड़ रुपये के मूल्य के ६ करोड़ डॉलर आवश्यकता से बहुत कम थे परन्तु एक वर्ष में इससे अधिक राशि इंगलैंड दे भी नहीं सकता था।

इस समझौते का भारत में मिश्रित स्वागत हुआ। एक ओर तो कई व्यापारिक संस्थाओं, उद्योगपतियों एवं अर्थ-शास्त्रियों ने इसे भारत के हित में बताया और दूसरी ओर कई अर्थ-शास्त्रियों एवं राजनीतिज्ञों ने इसे भारत के अहित में कहा। भारत की विधान-सभा में इस समझौते पर काफी वाद-विवाद हुआ। आलोचकों में श्री मनु सूबेदार तथा श्री के० टी० शाह मुख्य

थे। कुछ भी हो, भारत को उस समय राशि की आवश्यकता थी और इस समझौते से माल आयात करने के लिए राशि मिल गई।

१६४६ का स्टर्लिङ्ग समझौता

जुलाई १६४६ में स्टर्लिङ्ग प्राप्त करने के सम्बन्ध में लन्दन में फिर बातचीत हुई और एक नया समझौता हुआ। यह समझौता उस समय हुआ जब कि ब्रिटेन के आकाश में भीषण आर्थिक संकट के काले बादल छाये हुए थे। इंगलेंड में डॉलर-सम्पत्ति की विशेष कमी थी। इस समझौते के अनुसार भारत को १६४८-४६ में ८ करोड़ १० लाख पौंड मिलने का निश्चय हुआ। इसके साथ दोनों अगले वर्षों में अर्थात् जून १६५० के अंत तक और जून १६५१ के अंत तक ५ करोड़ पौंड प्रतिवर्ष मिलने का तय हुआ। इसके अतिरिक्त हमें लगभग ५ करोड़ पौंड की राशि मिलनी और तय हुई जो 'ओपन जनरल लाइसेन्स' (११) के अन्तर्गत जुलाई १६४६ के पहिले मँगाए हुए माल के बदले में भुगतान चुकाने के लिये दी गई थी। अब रहा स्टर्लिङ्ग को डॉलर या दुर्लभ मुद्रा में बदलने का प्रश्न। भारत को केन्द्रीय कोष (Central Reserve) से १४ या १५ करोड़ डॉलर देने की व्यवस्था की गई। इसके साथ-साथ हमारे ऊपर एक जिम्मेदारी भी दी गई। जिम्मेदारी यह थी कि भारत ने जितने मूल्य का माल डॉलर-क्षेत्रों से १६४८ में मँगाया था, उसका ७५% ही अगले वर्षों में मँगाया जाय अर्थात् अमरीका से होने वाले १६४८ के आयात में २५% कमी करके ही आयात किया जाय। लेकिन इस बात की छूट दे दी गई कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से उधार लेकर कितना ही माल आयात किया जा सकता था।

इस नये समझौते के अनुसार १६४८-४६ में हमें ८ करोड़ १० लाख पौंड मिले जो हमने जुलाई १६४६ से पहिले ही खर्च कर दिए थे और जिनके लिए जुलाई १६४८ वाले समझौते में कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। इस समझौते के अनुसार १६५० और १६५१ में प्रतिवर्ष जून के अन्त तक ५ करोड़ पौंड मिलने तय हुए जब कि पिछले समझौते के अनुसार केवल ४

करोड़ पौंड प्रतिवर्ष मिलने की ही व्यवस्था की गई थी। १९४८ के समझौते के अनुसार केवल ६ करोड़ डॉलर १९४८-४९ जून तक मिलने की व्यवस्था की गई थी परन्तु नए समझौते के अनुसार १४ या १५ करोड़ डॉलर मिलने की व्यवस्था की गई। इस प्रकार नया समझौता पुराने समझौते की अपेक्षा अधिक हितकर था। इंगलैंड के अखबारों ने तो इस समझौते के समाप्त होने पर इंगलैंड की सरकार के विरुद्ध आरोप लगाया था कि भारत सरकार को आशा से अधिक स्टर्लिङ्ग-राशि दे दी गई। इसमे सन्देह नहीं कि ऐसी परिस्थित में इससे अच्छा और हितकर समझौता और दूसरा नहीं हो सकता था। परन्तु जो स्टर्लिङ्ग हमे डॉलरों में बदलने के लिए मिले थे उनका मूल्य स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन होने के कारण ३०·५ प्रतिशत कम हो गया। इसी प्रकार यदि बचे हुए पौंड-पावनों को डालरों में बदलवाया जाय तो उनका मूल्य ३०·५% कम हो जायगा।

१९५२ का समझौता

८ फरवरी, १९५२ के अन्तिम आंकड़ों के अनुसार भारत की कुल स्टर्लिङ्ग पूंजी ५७ करोड़ पौंड अर्थात् ७५१ करोड़ रुपये थी। भारत सरकार के वित्त-मंत्री ने अपने पिछले इंगलैंड के दौरे पर, जहाँ वह कॉमनवेल्थ वित्त-मन्त्रियों के सम्मेलन में भाग लेने गए थे, इंगलैंड की सरकार से एक और समझौता किया जिसकी अवधि ३० जून, १९५७ तक है। इस समझौते के अनुसार भारत अपने पौंड-पावनों में से ३० जून, १९५७ तक ३½ करोड़ पौंड प्रति वर्ष के हिसाब से निकाल सकेगा। ब्रिटिश सरकार प्रतिवर्ष ३½ करोड़ पौंड स्थिर खाते नं० २ में से खाता नं० १ में जमा करेगी। इसके अतिरिक्त नं० २ खाते में से ३१ करोड़ पौंड की एक और राशि नं० १ खाते में जमा की जायगी। यह राशि सुरक्षित राशि के तौर पर होगी तथा इसमें से केवल संकटकालीन स्थिति में ही इंगलैंड की सरकार की पूर्व सलाह के साथ राशि निकाली जा सकेगी। १९५७ में इस समझौते की अवधि समाप्त होने पर

पुनः वार्ता की जाएगी, जिसमें इस समझौते की अवधि बढ़ने या इसके स्थान पर दूसरा समझौता करने पर विचार होगा।

इस समझौते की घोषणा से वे समस्त सन्देह तथा भय दूर हो गए जो इंगलैंड में चर्चिल सरकार के बन जाने के कारण उत्पन्न हो गए थे। अब इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं रहा कि हमारे पौंड-पावने हमें सम्मानपूर्वक वापिस मिल जाएँगे। पहिले यह भय होता था कि कहीं इंगलैंड की सरकार इनको चुकाने से मना न कर बैठे परन्तु अब इस प्रकार का कोई भय नहीं है।

१९५३ की पौंड-वार्ता

जुलाई १९५३ में पौंड-पावने सम्बंधी १९५२ के समझौते की पुनरावृत्ति की गई। केन्द्रीय सरकार के वित्त-मन्त्री श्री देशमुख ने घोषित किया है कि अगले वर्षों में पौंड-पावनों का भुगतान १९५२ के समझौते के अनुसार ही होता रहेगा। उन्होंने अब ७२५ करोड़ रुपये के पौंड-पावने आके हैं जिनका भुगतान भारत सरकार १९५७ तक चुका लेगा। योजना-कमीशन ने पंच-वर्षीय योजना में २९० करोड़ रुपये अपने पौंड-पावनों में से लेकर व्यय करने की व्यवस्था की है। आशा है शेष पौंड-राशि का हमारी सरकार अधिक से अधिक सदुपयोग करेगी।

प्रश्न

१—"पौंड पावना" किसे कहते हैं? ये कहाँ सग्रह हुए? ब्योरेवार उत्तर लिखो। (राज० १९४८, म०भा० १९५०)

अध्याय १८

रुपये का अवमूल्यन

(Devaluation of Rupee)

डॉलर-संकट को दूर करने के लिए इङ्गलैंड ने सितम्बर १९४९ में स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन किया—स्टर्लिङ्ग के डॉलर-मूल्य में ३०.५ प्रतिशत की कमी कर दी। जो स्टर्लिङ्ग पहले ४ डॉलर ३ सेंट के बराबर था वह अवमूल्यन के पश्चात् २ डॉलर ८० सेंट के बराबर हो गया। स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन होते ही भारत सरकार ने भी रुपये का अवमूल्यन घोषित कर दिया। रुपये का डॉलर-मूल्य भी ३०.५ प्रतिशत कम कर दिया गया। जो रुपया पहिले ३० सेंट के बराबर था वह अवमूल्यन के पश्चात् २१ सेंट के बराबर रह गया। एक डॉलर का मूल्य ३ रुपये ५ आने से बढ़कर लगभग ४ रुपये १३ आने हो गया। प्रश्न यह है कि अवमूल्यन क्यों किया गया? अवमूल्यन का एकमात्र उद्देश्य डॉलर के अभाव को दूर करना था। डॉलर-संकट ने अनेक देशों को, विशेषकर स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र के प्रदेशों को, बुरी तरह ग्रस रक्खा था। इसी संकट को टालने के लिए ऐसा किया गया था।

डॉलर की कमी को दूर करने के लिए इङ्गलैंड ने सितम्बर १९४९ में स्टर्लिङ्ग के डॉलर-मूल्य में ३०.५ प्रतिशत की कमी की। जो स्टर्लिङ्ग पहिले ४ डॉलर ३ सेंट के बराबर था वह अब २ डॉलर ८० सेंट के बराबर रह गया। इङ्गलैंड द्वारा स्टर्लिङ्ग के अवमूल्यन का उद्देश्य अमरीका तथा डॉलर-प्रदेशों में निर्यात बढ़ाकर डॉलर कमाना था जिससे डॉलर का संकट टल सके। स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन इंगलैंड के अपने स्वार्थ में था पर इसका सम्बन्ध संसार की डॉलर समस्या से भी उतना ही निकट था जिसके सुलझाए बिना संसार भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विभाजित होता जा रहा था। स्टर्लिङ्ग का

अवमूल्यन होते ही भारत सरकार ने भी रुपये के डॉलर मूल्य में ३०·५ प्रतिशत की कमी कर दी। जो रुपया पहले ३० सेंट के बराबर था वह अवमूल्यन के पश्चात २१ सेंट के बराबर रह गया। एक डॉलर का मूल्य ३ रुपये ५ आने से बढ़कर लगभग ४ रुपये १३ आने हो गया। हमारे देश में डॉलर क्षेत्र से आनेवाली कोई वस्तु यदि पहले ३२२ रुपये में मिलती थी तो उसका मूल्य ४६३ रुपये हो गया और इसी अनुपात में हमारी वस्तुएं अमरीका में सस्ती हो गईं। डॉलर-क्षेत्र में हमारे निर्यात बढ़ने लगे पर डॉलर-क्षेत्र के आनेवाले आयात महंगे हो गये। कुछ वर्गों ने अवमूल्यन नीति का विरोध किया और कहा कि रुपये की दर गिराने से हमारे निर्यात बढ़ेंगे अवश्य पर आयात मंहगे हो जायेंगे। इससे देश को हानि रहेगी। अनुमान लगाया गया कि इंगलैंड में जमा हमारे पौंड-पावनों को डॉलरों में बदलवाने में हमें हानि रहेगी। आलोचकों ने यह भी कहा कि जब देश को पूंजीगत माल की कठिन आवश्यकता है और यह माल अमरीका से आता है तो अवमूल्यन से इसका पहले से अधिक मूल्य चुकाना पड़ेगा। पर आलोचक कुछ भी कहें उस समय परिस्थिति ही बिल्कुल भिन्न थी। वास्तव में तो भारत सरकार के सामने उस समय तीन उपाय थे—

(१) रुपये का अवमूल्यन नहीं किया जाता और स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन होने पर भी रुपये का डॉलर-मूल्य उतना ही रखा जाता जितना पहले था। ऐसा करने से देश के सामने एक कठिनाई आ जाती। भारत का निर्यात इंगलैंड तथा स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र के देशों में मंहगा हो जाता और तब बिलकुल बन्द हो जाता। भारत का ६० प्रतिशत निर्यात स्टर्लिङ्ग क्षेत्र में होता है। यदि रुपये का अवमूल्यन न किया जाता तो ये निर्यात बन्द हो जाते। अमरीका में तो हमारे माल की खपत पहले ही कम थी। स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र में भी हमारे माल की खपत कम हो जाती जिससे देश के व्यापार को धक्का लगता।

(२) दूसरा उपाय यह था कि सरकार रुपये का स्टर्लिङ्ग-मूल्य कम करके रुपये की विनिमय-दर १ शि० ४ पे० बना देती। इससे यह होता कि

स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र से जानेवाले भारत के भाव हमारे देश में बढ़ जाते और जनता को बड़ी कठिनाई होती।

(३) तीसरा उपाय था कि रुपये की स्टर्लिङ्ग-दर उतनी ही बनाए रखने के लिए स्टर्लिङ्ग के साथ-साथ रुपये का भी अवमूल्यन कर दिया जाता। सरकार ने यही उपाय किया। स्टर्लिङ्ग और रुपये के साथ-साथ कुछ अन्य देशों की मुद्राओं का भी अवमूल्यन किया गया। कनाडा ने भी अपने डॉलर का मूल्य १० प्रतिशत कम कर दिया था।

भारत सरकार को अवमूल्यन करने के लिए इंगलैंड, अमरीका अथवा अन्य किसी बाह्य शक्ति ने बाध्य नहीं किया था। यह तो स्वतन्त्र भारत की स्वतन्त्र रुपये के लिये स्वतन्त्र नीति थी जिसे सरकार को परिस्थितियों से विवश होकर अपनाना पड़ा। युद्ध के पहिले भारत अमरीका से आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक करता था। युद्धकाल में भी यही बात थी। युद्धकालीन ६-७ वर्षों में हमने साम्राज्य-डॉलर-कोष में ६२ करोड़ रुपये के डॉलर जमा किए थे। पर युद्ध के पश्चात् पासा पलट गया। १९४६ में हमें ५ करोड़ रुपये के डॉलरों की कमी पड़ी और १९४७ में यह कमी ८६ करोड़ रुपये की थी। जून १९४९ को समाप्त होनेवाले वर्ष में हमें ६३ करोड़ रुपये के डॉलरों की कमी थी। इस कमी को पूरा करने के लिए हमने कुछ तो अपने पौण्ड-पावनों को डॉलरों में बदलवाया और कुछ अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से मुद्रा-कोष से लिया। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से भी ऋण लिए गए। पर किसी भी प्रकार से डॉलर की समस्या हल न हो सकी। इसके लिए तो डॉलर कमाने की आवश्यकता थी। डॉलर तभी कमाए जा सकते थे जब कि डॉलर-क्षेत्र में निर्यात बढ़ाया जाता। अतः निर्यात बढ़ाने के लिए रुपये का डालर-मूल्य कम कर दिया गया जिससे डॉलर कमाए जा सकें। अवमूल्यन से अधिकाधिक लाभ उठाने के लिए सरकार ने ८ सूत्री योजना बनाई जिसमें निम्न बातें थीं :—

(१) देश की वैदेशिक व्यापार नीति ऐसी रक्खी जाय जिसमें मुद्राओं की कम से कम आवश्यकता पड़े;

(२) अमरीका तथा डॉलर-क्षेत्रीय अन्य देशों से कम से कम माल आयात किया जाय,

(३) जो माल दुर्लभ-क्षेत्रों में निर्यात किया जाये उस पर निर्यात-कर लगाकर आय बढ़ाई जाय;

(४) देश में खाद्य-नियन्त्रण करके वस्तुओं के मूल्य-स्तर नीचे करने के प्रयत्न किए जाएं—यदि आवश्यक हो तो इसके लिए सरकारी कानून भी बनाए जायें,

(५) उत्पादन बढ़ाया जाय—लोगों को बचत करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय तथा देहातों में बैंकों की सुविधाएँ बढ़ाई जायें,

(६) जिन लोगों ने युद्धकाल में टैक्स की चोरी की थी उसने फैसला करके रुपया निकलवाया जाय और फिर उसे उत्पादन कार्यों में लगवाया जाय,

(७) सरकारी व्यय कम कर दिया जाय;

(८) देश में वस्तुओं के भाव नीचे लाए जायें—अन्न, पक्का माल तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के भाव कम से कम दस प्रतिशत कम कर दिए जायें।

इस प्रकार सरकार ने अवमूल्यन से पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए सब प्रकार से उपाय किए। अवमूल्यन से हमारे डॉलर-आयात मँहगे हो गए और बदले में अधिक रुपया चुकाना पड़ा। पौंड-पावनों को डॉलरों में बदलवाने में भी हमें हानि रही। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से लिये हुये ऋणों को चुकाने में भी अधिक रुपये देने पड़ेंगे। आयात मँहगे होने से हमारे मूल्य-स्तरों पर भी प्रभाव पड़ा। ये सब अवमूल्यन के अभिशाप रहे। पर अव-मूल्यन न करने से हमारी समस्याएँ और भी जटिल बन जातीं। हमारा निर्यात-व्यापार बिल्कुल ठप्प हो जाता। हमारा माल न अमरीका जाता, न डॉलर-क्षेत्र में बिकता और न स्टर्लिङ्ग क्षेत्र में ही खपता। न हमारे पास सोना रहता और न डॉलर होते। हमारा वैदेशिक व्यापार समाप्त सा हो जाता, उद्योग बन्द हो जाते, बेकारी फैल जाती और व्यवसाय ठप्प हो जाता।

इस भीषणता का अनुमान लगाकर रुपये का अवमूल्यन करना अपने हित में सोचा गया।

रुपये का अवमूल्यन तो हुआ पर पड़ोसी पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया। भारत के रुपये और पाकिस्तान के रुपये में पारस्परिक विषमता आ गई। भारत के सौ रुपये पाकिस्तान के ६९.५ रुपये के बराबर हो गए। या यूं कहिए कि पाकिस्तान के सौ रुपये हमारे १४४ रुपयों के बराबर हो गए। भारत सरकार ने इस नई विनिमय-दर को न माना। परिणामतः भारत और पाकिस्तान का पारस्परिक व्यापार अस्त-व्यस्त होने लगा। पाकिस्तान से भारत आने वाला माल जैसे कपास, पटसन, चमड़ा, चावल, गेहूं आना बन्द हो गया और भारत से पाकिस्तान जाने वाला माल जैसे कोयला, कपड़ा, चीनी आदि बन्द हो गया। विनिमय-दर की विषमता के कारण पारस्परिक व्यापार बन्द हो जाने से दोनों देशों को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। प्रयत्न किए गए कि किसी प्रकार दोनों सरकारें समझौता करके विनिमय-दर की समस्या को सुलझा लें। पर कोई समझौता न हो सका। अन्त में इस मामले को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष में ले जाया गया। कोष के अधिकारियों ने इस प्रश्न पर विचार ही न किया। जनवरी १९५१ तक बात टलती रही। भारत सरकार को अन्न, पटसन और कपास की तीव्र आवश्यकता थी अतः उन्होंने इस स्थिति को बढ़ाना उचित न समझा। अन्त २६ फरवरी १९५१ को दोनों सरकारों ने करांची में एक व्यापार-समझौता किया जिसके अन्तर्गत भारत ने कोयला, लोहा, सीमेंट आदि भेजना निश्चित किया और पाकिस्तान ने चावल, गेहूं, पटसन कपास और चमड़ा देना स्वीकार किया। भारत सरकार ने पाकिस्तानी रुपये की दर को स्वीकार कर लिया। समझौता ३० जून १९५२ तक के लिए किया गया था। २६ फरवरी १९५१ से रिजर्व बैंक ने अपने बम्बई, कलकत्ता दिल्ली, मद्रास तथा कानपुर के कार्यालयों पर भारतीय रुपये के बदले में पाकिस्तानी रुपये की खरीद-बेच आरम्भ कर दी। रिजर्व बैंक अधिकृत लोगों को १०० रुपयों के बदले में पाकिस्तान के ६९ रु० ६ आ० ६ पा० बेचने

लगा तथा १०० रुपयों के बदले में पाकिस्तान के ६६ रु० ८ आ० ३ पा० खरीदने लगा। इसी प्रकार २७ फरवरी १९५१ से 'स्टेट बैंक ऑव पाकिस्तान' अपने करॉची, लाहौर, ढाका और चिटगॉव के कार्यालयों पर १०० पाकिस्तानी रुपयों के बदले में भारत के १४४ रुपये ६ पा० खरीदने लगा तथा १४३ रुपये १३ आने ३ पाई बेचने लगा। दोनों देशों ने एक दूसरे की विनिमय-दर मान ली और आपस का लेन-देन फिर आरम्भ हो गया। जैसे ही भारत ने पाकिस्तानी दर को स्वीकार किया वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने भी पाकिस्तानी दर को मान्यता दे दी। हमने तो अपने हितों की रक्षा में ही पाकिस्तान की दर स्वीकार की थी। अवमूल्यन से भारत का कुछ विशेष फल मिला उसका वर्णन अगली पंक्तियों में किया गया है।

अवमूल्यन के परिणाम

जैसी कि आशा थी अवमूल्यन के पश्चात् भारत के निर्यात बढ़ने लगे। अवमूल्यन से पहले १९४९ में डॉलर-प्रदेशों में ५·९२ करोड़ रुपये का माल भेजा था और वहाँ से १४ करोड़ रुपये का माल मॅगवाया था। परन्तु अवमूल्यन के पश्चात् १९५१ तक ५५ करोड़ रुपये के डॉलर भारत ने कमाए। सूती कपड़ा, मसाले, तम्बाकू, भुड़भुड़, मैंगनीज तथा ऊन का निर्यात खूब बढ़ा। अक्टूबर १९४८ से अगस्त १९४९ तक लगभग ४ करोड़ रुपये का सूती कपड़ा निर्यात किया गया था परन्तु अवमूल्यन के पश्चात् अगस्त १९५० तक १८ करोड़ रुपये का कपड़ा निर्यात किया गया। जितने मसाले अगस्त १९४९ को समाप्त होनेवाले वर्ष में निर्यात किए गए थे ठीक उसकी दुगुनी राशि के मसाले अगस्त १९५० को समाप्त होनेवाले वर्ष में निर्यात किए गए। भुड़भुड़, मैंगनीज, ऊन तथा चमड़े का निर्यात भी अवमूल्यन के पश्चात् बहुत हुआ। १९५० में हमारे वैदेशिक व्यापार की स्थिति इस प्रकार रही—

	(करोड़ रुपयों में)		
	१९४९	१९५०	
निर्यात	४४१.३१	५४१.४४	+१००
आयात	६२८.८६	४९४.२६	—१३४
शेष	-१८७.५२	+४६.६५	

१९४९ में भारत के वैदेशिक व्यापार में १८८ करोड़ रुपये की कमी थी। यह कमी १९५० में दूर हो गई और ४३ करोड़ रुपये का आधिक्य रहा। इससे एक बात यह हुई कि १९५० में १९४९ की अपेक्षा १३४ करोड़ रुपये के आयात कम हुये। इस बात में अवमूल्यन सफल रहा। भारत का निर्यात सुलभ और दुर्लभ दोनों ही क्षेत्रों में बढ़ा। १९४९ में सुलभ-मुद्रा-क्षेत्र के देशों के साथ भारत के वैदेशिक व्यापार में १२८ करोड़ रुपये का कमी थी। १९५० में यह कमी पूरी हो गई और ३१ करोड़ रुपये का अधिक्य और रहा। इसी प्रकार दुर्लभ-मुद्रा-क्षेत्र वाले देशों के साथ १९४९ की अपेक्षा १९५० में १७ करोड़ रुपये की बचत रही। अमरीका में भारत का निर्यात १९४९ की अपेक्षा १९५० में ३० करोड़ रुपये अधिक हुआ। १९५० में पिछली कमी पूरी हो गई और दो करोड़ रुपये की बचत और रही। इस प्रकार भारत को पौण्ड भी मिले और डॉलर की समस्या भी उतनी भीषण न रही जितनी अवमूल्यन से पहली थी। पर हमारे आयात मंहगे हो गये और इसलिये कम भी हुये। डॉलर-प्रदेशों तथा पाकिस्तान से आनेवाला अन्न मंहगा पड़ने लगा। पूंजीगत माल आयात करने में भी हमें हानि रही। पाकि-

स्तानी रुपये को मान्यता देने से पहिले पटसन और कपास के अभाव में हमारे कारखानों को हानि उठानी पड़ी। भुगतान-विषमता तो दूर हो गई पर देश के मूल्य-स्तर में कोई विशेष सुधार न हुआ। आयात मंहगे होने के कारण मूल्य-स्तर और भी बढ़ गये। कहीं नदियों में बाढ़ आ जाने के कारण, कहीं वर्षा न होने के कारण और कहीं भूचाल के कारण मूल्य और बढ़ने लगे। कोरिया के युद्ध ने, योरप में पुनः शस्त्रीकरण की योजना ने तथा अमरीका की कच्चे माल को सञ्चय करने की नीति ने परिस्थिति और गम्भीर बना दी। अक्टूबर १९५० में मूल्यांक ४१४.४ था। कुछ लोगों का तर्क है कि हमारे निर्यात बढ़ाने में अवमूल्यन का हाथ इतना नहीं जितना कोरिया-युद्ध का था। यह ठीक है कि कोरिया के युद्ध से हमारे निर्यात बढ़े हों परन्तु किसी भी एक कारण को उठाकर निर्यात वृद्धि का समूचा श्रेय उसी को नहीं दिया जा सकता। अवमूल्यन के वास्तविक परिणामों को पहचानने के लिए पक्षपातहीन अध्ययन की आवश्यकता है। भुगतान-विषमता को दूर करने में डालर कमाने में अवमूल्यन का जो सहयोग रहा वह किसी से छुपाया नहीं जा सकता। अवमूल्यन एक ऐसा कृत्रिम साधन है जिसके द्वारा देश का माल विदेशों में सस्ता बेचकर निर्यात बढ़ाया जा सकता है। सच्चा और स्थायी साधन तो उत्पादन बढ़ाना है और वह भी ऐसा जिसमें लागत व्यय कम हो। उत्पादन बढाकर ही अवमूल्यन को और अधिक सार्थक बनाया जा सकता है।

प्रश्न

१—'अवमूल्यन' किसे कहते हैं ? १९४९ में रुपये का अवमूल्यन क्यों किया गया ? उसका क्या परिणाम निकला ? (म० भा० १९५१)

———

भाग २

बैंकिंग

बैंक एवं उनकी क्रियाएं

(Banks and their Functions)

बैंक की परिभाषा

बैंक प्रायः उस संस्था को कहते हैं जो मूलतः जनता से राशि जमा करने तथा जनता को ऋण देने का काम करती है। लोग अपनी-अपनी बचत-राशि को सुरक्षा की दृष्टि से अथवा ब्याज कमाने के हेतु, इन संस्थाओं में जमा करते और आवश्यकतानुसार समय-समय पर निकालते रहते हैं। ये संस्थाएं इस प्रकार जमा की हुई राशि को व्यापारियों एवं उद्योगपतियों को ऋण देकर ब्याज कमाती हैं। जमा लेने तथा ऋण स्वीकृत करने के अतिरिक्त बैंक अन्य काम भी करते हैं जैसे—सुरक्षा के लिए लोगों से उनके आभूषणादि बहुमूल्य वस्तुएं जमा रखना, चेकों का संग्रहण करना, अपने ग्राहकों के बीमे की प्रव्याजि प्रेषित करने की व्यवस्था करना, व्यापारिक बिलों की कटौती करना, एजेंसी का काम करना, गुप्त रीति से ग्राहकों की आर्थिक स्थिति की जानकारी लेना-देना, आदि। अतः यह कहना चाहिए कि कोई भी संस्था, जो जनता से राशि जमा करने तथा चेकों द्वारा उसका भुगतान करने का काम करे, बैंक कहलाती है। इस कार्य के साथ-साथ वह मुद्रा और साख सम्बन्धी कोई भी लेन-देन कर सकती है।

बैंक की क्रियाएं

बैंक की क्रियाओं और सेवाओं को चार वर्गों में बांटा जा सकता है :—
(१) जनता से राशि जमा करना, (२) जनता को ऋण स्वीकृत करना,

(३) ग्राहकों के लिए एजेंट बनकर काम करना, (४) विविध सेवाएँ करना।

(१) **जनता से राशि जमा करना**—लोग अपनी अतिरेक बचत-राशि को बैंकों में या तो सुरक्षा की दृष्टि से और या ब्याज कमाने के उद्देश्य से जमा करते हैं। कभी-कभी दोनों उद्देश्यों को लेकर राशि बैंकों में जमा की जाती है। आजकल तो बहुत से बड़े-बड़े व्यापारी और उद्योगपति बैंकों में राशि इसलिए जमा करने लगे हैं कि उन्हें बैंकों के द्वारा भुगतान लेन-देन में तथा राशि एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रेरित करने में बड़ी सुविधा होती है। राशि जमा करने में बैंक प्रायः तीन प्रकार के लेखे खोलते हैं—(१) चल-लेखा, (२) स्थिर-लेखा, (३) बचत-लेखा। चल लेखे में जो राशि जमा की जाती है वह जमा करनेवालों की माग पर किसी समय भी बैंक को भुगतान करनी पड़ती है। यह जमा-राशि प्रायः चेकों द्वारा निकाली जाती है। इस प्रकार की जमा राशि को बैंक की 'माग-देनदारी' (Demand Liability) कहते हैं। चल लेख में जमा-राशि पर सामान्यतः ब्याज नहीं दिया जाता; यहां तक कि कभी-कभी यह शर्त भी रहती है कि जमा करने वाले उसमें से न्यूनतम राशि कभी भी नहीं निकाल सकेंगे। कुछ ऐसे भी बैंक होते हैं जो चल-लेखे की जमा पर ब्याज देते हैं।

स्थिर-लेखे में जो राशि जमा की जाती है वह एक निश्चित अवधि के लिए जमा होती है और उस अवधि के समाप्त होने से पहले नहीं निकाली जा सकती है। पर यदि कोई जमा करनेवाला अवधि समाप्त होने से पहले राशि निकालना ही चाहें तो उसे मिल भी सकती है पर उस स्थिति में जमा राशि पर ब्याज नहीं दिया जाता। इस प्रकार की जमा-राशि को बैंक की 'काल देनदारी' (Time Liability) कहते हैं। बैंक प्रायः काल-देनदारी पर माग-देनदारी की अपेक्षा अधिक ब्याज-दर देते हैं।

तीसरे प्रकार की जमा बचत-लेखे में की जाती है। बचत-लेखे में निर्धारित सीमा से अधिक राशि जमा नहीं की जा सकती। इस जमा पर ब्याज

की दर अपेक्षाकृत नीची होती है। इस प्रकार के लेखे कम आयवाले लोगों को बचत करने की सुविधा देने के लिये खोले जाते हैं। कुछ बैंक इसमें चेकों के प्रयोग की सुविधा भी देने लगे हैं।

उक्त तीन प्रकार के जमा-लेखों के अतिरिक्त कुछ विशेष प्रकार की विधियां निकाली गई हैं जिनसे सामान्य लोग मितव्ययी बनकर बचत करना सीखते हैं। इन विधियों में "गोलक-लेखा" (Home Safe Account) आजकल बहुत प्रचलित हैं। जब कोई व्यक्ति किसी बैंक में गोलक-लेखा खोलता है तो बैंक एक सुन्दर और सुदृढ़ गोलक (Box) दे देता है जिसे वह व्यक्ति अपने घर ले जाता है और जिसमें वह समय-समय पर अपनी बचत राशि डालता रहता है। इस गोलक की चाबी बैंक अपने पास रखता है। जब गोलक भर जाता है तो उसे बैंक में लाकर खुलवाया जाता है और उसमें से जमा-राशि निकालकर बैंक उस व्यक्ति के लेखे में जमा कर लेता है—गोलक-लेखे का उद्देश्य प्रायः बालकों में बचत करने की आदत डालना होता है। इस लेखे में जमा-राशि पर उसी प्रकार ब्याज दिया जाता है जिस प्रकार बचत-लेखे पर दिया जाता है।

कभी-कभी विशेष कार्यों के लिए विशेष प्रकार के लेखे खोले जाते हैं। उदाहरणार्थ, विवाह के लिए धनराशि संग्रह करने के लिए विवाह-लेखा, शिक्षा के लिए राशि संग्रह करने के हेतु शिक्षा-लेखा आदि-आदि।

(२) **ऋण स्वीकृत करना**—बैंक का दूसरा मुख्य और महत्वपूर्ण कार्य जनता को राशि उधार देना होता है। बैंक अपने पास जमा राशि को ऋण देकर ब्याज कमाते हैं, वे सामान्यतः अपनी पूंजी उधार नहीं देते। इस विषय में ओवर्स्टन नामक प्रसिद्ध बैंक-शास्त्री ने कहा कि "बैंक-संचालन में मेरी स्वयं की बुद्धि और दूसरों की राशि काम आती है।" बैंक द्वारा ऋण देने की क्रिया का महत्व दर्शाते हुए रिकार्डो नामक एक विख्यात अर्थशास्त्री ने लिखा है—"कोई भी व्यक्ति अथवा संस्था बैंकर तभी बन सकता है जब वह दूसरों को ऋण स्वीकृत करे।" वास्तव में बात यह है कि

बैंक को अपना नकद कोष रखने तथा अन्य आवश्यक सामग्री जुटाने के पश्चात् अपनी स्वय की पूंजी ऋण देने के लिए बचती ही नहीं। अतः वे जमा-राशि को ही ऋण देने में काम लाते हैं। बैंक प्रायः तीन प्रकार से ऋण देते हैं—एक, ऋण मागनेवाले की वैयक्तिक साख पर: दूसरे, ऋण मागनेवाले की साख के अतिरिक्त अन्य सिफारिशियों की साख पर; तीसरे, सिक्यूरिटियों, अशों तथा अन्य चल-अचल सम्पत्ति की साख पर।

ऋण कई रूपों में स्वीकृत किया जाता है—(१) सामान्य ऋण एवं अग्रिम राशि स्वीकृत करके (Loans and Advances), (२) अधिविकर्ष द्वारा (Overdraft), (३) नकद-साख द्वारा (Cash Credit), (४) बिलों की कटौती करके (Bill discounting)।

बैंक अपने ग्राहकों तथा अन्य विश्वसनीय व्यक्तियो तथा संस्थाओं को केवल व्यवसाय एवं उत्पादन सम्बन्धी कार्यों के लिए ऋण देते हैं। ऋण सामान्यतः नकद राशि के रूप में नहीं दिए जाते वरन् ऋण देनेवाले के नाम से एक लेखा खोलकर ऋण-राशि उसके नाम कर दी जाती है और दूसरा ओर उसके चल लेखे में जमा कर दी जाती है जिसके बल पर ऋण लेनेवाला आवश्यकतानुसार समय-समय पर चेक लिखकर राशि लेता रहता है। इस प्रकार बैंक को सम्पूर्ण ऋण-राशि एक साथ ही देने की आवश्यकता नहीं होती जिससे बैंक का हानि-भय (Risk) कम हो जाता है। इस प्रकार ऋण देने से पहिले बैंक ऋण लेनेवाले से ऐसी जमानत ले लेता है जिनमें समय की गति के साथ-साथ विशेष मूल्य-ह्रास न हो और जो समय पड़ने पर सरलता पूर्वक बेची भी जा सके। कभी-कभी ऋण लेने वाले की वैयक्तिक साख पर भी ऐसे ऋण स्वीकृत कर दिए जाते हैं।

बैंक द्वारा ऋण स्वीकृत करने का दूसरा रूप अधिविकर्ष (Overdraft) है इसके अन्तर्गत बैंक अपने ग्राहक को उसके चल-लेखे में जमा राशि से अधिक एक निश्चित राशि निकालने का अधिकार दे देता है। पर ऐसा अधिकार प्राप्त करने से पूर्व ग्राहक को अपने बैंक के साथ अधिविकर्ष की

राशि, उसकी अवधि, ब्याज-दर आदि के विषय में निश्चित सम्मेल करना पड़ता है। इस प्रकार ग्राहक अपने चल-लेखे में जमा राशि से अधिक राशि निकाल सकता है परन्तु सम्मेल द्वारा निश्चित की गई निर्धारित राशि से अधिक नहीं निकाल सकता।

नकद-साख (Cash Credit) पद्धति के अन्तर्गत बैंक ऋण मांगनेवाले की वैयक्तिक साख पर ऋण नहीं देते वरन् व्यावसायिक माल के बल पर लिखे गए प्रण-पत्रों तथा साख-पत्रों की साख पर ऋण देते हैं। कभी-कभी बैंक व्यावसायिक माल को अपने गोदामों में रखवाकर उसकी साख पर ऋण देते हैं और जैसे-जैसे ऋण का भुगतान होता जाता है तैसे-तैसे गोदाम से माल निकालकर ऋणी को दे दिया जाता है। पर इस प्रकार ऋण देने से पहिले बैंक माल के मूल्य पर छूट (margin) लगा लेते हैं—यदि १०० रु० के मूल्य का माल गोदाम में है तो उस पर केवल ८० रु० ऋण देकर २०% छूट काट ली जाती है। ऐसा करने में बैंक का एकमात्र उद्देश्य माल के मूल्य में कमी-बेशी होने से अपने आपको अनुमानित हानि-भय से सुरक्षित रखना होता है। इस प्रकार ऋण देने की प्रणाली स्काटलैण्ड में बहुत प्रिय और प्रचलित रही है। हमारे देश में भी इस प्रकार ऋण दिए जाते हैं।

बिलों की कटौती कराके बैंक से ऋण प्राप्त करने की प्रणाली आजकल बहुत लोकप्रिय हो गई है। कोई भी माल-विक्रेता अपने खरीदार के नाम विनिमय-बिल लिखकर उस पर उसकी स्वीकृत प्राप्त कर लेता है और फिर यदि चाहे तो किसी भी बैंक से उसकी कटौती कराके राशि प्राप्त कर सकता है। कटौती करने में बैंक अपना कमीशन काटकर बिल की शेष राशि बिल-धारक को दे देते हैं और फिर बिल की अवधि समाप्त होने पर उन्हें बिल के स्वीकृतिकर्त्ता से पूरी राशि मिल जाती है। बिल की कटौती करने से पहले बैंक यह देख लेता है कि उस बिल से सम्बन्धित व्यक्ति विश्वसनीय है या नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तो उस बिल पर किसी विश्वसनीय व्यक्ति अथवा संस्था के हस्ताक्षर कराने आव[illegible] होते हैं। इंगलैण्ड में इस प्रकार की

"स्वीकृति-संस्थाएं" अलग होती हैं। हमारे देश में यह काम देशी बैंकर करते हैं। बिलों की कटौती करके ऋण देना बैंक अपने लिए बहुत लाभप्रद समझते हैं क्योंकि—(१) बिल की अवधि समाप्त होने पर उसका भुगतान मिलना प्रायः निश्चित होता है, (२) बिल पर मिलनेवाली राशि निश्चित रहती है, उसमें किसी प्रकार की कमी-वेशी नहीं होती, (३) आवश्यकता होने पर बैंक उन बिलों की केन्द्रीय बैंक से पुनः कटौती कराके अवधि से पहिले भी राशि प्राप्त कर सकता है, (४) बिलों पर दिया गया ऋण अल्पकालीन होता है।

किसी भी प्रकार से ऋण देने में बैंक के व्यवस्थापकों को पूर्ण विचार, दूरदर्शिता एवं नियम-पालन से काम लेना चाहिए। व्यवस्थापक विज्ञ हों, चतुर हों तथा व्यवसाय का अच्छा ज्ञान रखते हों। प्रो० टॉसिग का कथन है कि "बैंक-व्यवस्थापकों को ऋण देने में साहसी और कायर भी होना चाहिए।'

(३) एजेन्सी-कार्य करना—बैंक अपने ग्राहकों के लिए एजेंसी का काम भी करता है परन्तु ऐसा करने से पहिले वह अपने ग्राहकों से उस कार्य-विशेष को करने की लिखित अनुमति प्राप्त कर लेता है। बैंक की एजेंसी सम्बन्धी क्रियाएं इस प्रकार हैं—(१) अपने ग्राहकों के लिए बिल, चेक तथा प्रण-पत्रों की राशि वसूल करना तथा अपने ग्राहकों की ओर से चुकाए जानेवाले बिल, चेक तथा प्रण-पत्रों का भुगतान करना; (२) ग्राहकों के लिए उनके आदेशानुसार उनके लेखे में से किसी व्यक्ति अथवा संस्था को नियमित रूप से एक निश्चित राशि भुगताना, बीमा कम्पनियों को प्रव्याजि की राशि चुकाना, सरकार को ग्राहक की ओर से आय-कर चुकाना तथा उनकी ओर से मालगुजारी चुकाने की व्यवस्था करना; (३) ग्राहकों के लिए कम्पनी के अंशों पर लाभांश तथा ऋण-पत्रों पर ब्याज वसूल करना और ग्राहकों की ओर से सरकारी सिक्यूरिटियों का क्रय-विक्रय करना; (४) अपने ग्राहकों के लिए राशि का स्थानान्तरण करना, (५) प्रबन्धक, प्रन्यासी (Trustee)

तथा व्यवस्थापक का कार्य करना; (६) अपने ग्राहकों के लिए सलाहकार तथा प्रतिनिधि की हैसियत से काम करना।

(४) **विविध सेवाएं**—उक्त क्रियाओं के अतिरिक्त बैंक जनता की विविध प्रकार से अनेक सेवाएं करते हैं। ये विविध सेवाएं इस प्रकार हैं—(१) अपने ग्राहकों की आभूषणादि बहुमूल्य वस्तुएं, कानूनी पत्रादि, दस्तावेज तथा अन्य मूल्यवान् वस्तुएं सुरक्षित रखना; (२) अपने ग्राहकों पर लिखे गए बिलों की स्वीकृति करना तथा अवधि समाप्त होने पर उनका भुगतान करना; (३) सरकार तथा अन्य जनसंस्थाओं द्वारा लिये जानेवाले जन ऋण की व्यवस्था करना; (४) कम्पनियों के अंशों की बिक्री का भार लेना; (५) साख पत्रों (Letters of Credit) द्वारा राशि का स्थानान्तरण एवं हस्तांतरण करना; (६) विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करना तथा ग्राहकों को विदेशी विनिमय प्राप्त करने की सुविधाएं देना; (७) अपने ग्राहकों की आर्थिक स्थिति की जानकारी लेना-देना, (८) व्यापार एवं उद्योग सम्बन्धी आंकड़े एकत्रित करके उन्हें प्रसारित करना, उनका विश्लेषण करना तथा उन पर टिप्पणी तैयार करना।

बैंक की उक्त क्रियाओं और सेवाओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि बैंक देश की बिखरी और निठल्ली सम्पत्ति को केन्द्रित करके देश में उत्पादन के कार्यों में लगाते हैं जिससे देश में पूंजी निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है और उत्पादन को प्रगति मिलती है। बैंक एक प्रकार से पूंजी और साहस के बीच में मध्यग का काम करते हैं—जिन के पास राशि होती है पर व्यापारिक साहस नहीं होता वे अपनी राशि बैंक में जमा करते हैं और जिनके पास साहस होता है पर राशि नहीं होती वे बैंक से ऋण लेते हैं। इस प्रकार बैंक राशि और व्यापारिक साहस को समीप लाकर मिला देते हैं। बैंक देश में साख को जन्म देते हैं और साख का प्रबन्ध एवं संचालन उन्हीं के द्वारा होता है। इन सुविधाओं के कारण किसी भी देश की अर्थ व्यवस्था में बैंकों का एक महत्वपूर्ण स्थान होता है।

बैंकों के भेद

आधुनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विशिष्टता पाई जाती है। यही बात बैंकों के साथ भी है। कुछ बैंक सामान्य बैंकिंग कार्य करते हैं और कुछ दूसरे बैंक विशेष प्रकार की सेवाएं करते हैं। यह सत्य है कि आधुनिक बैंक अनेक प्रकार के कार्य और सेवाएं करता है पर तो भी एक ही बैंक के लिए व्यापार, वाणिज्य, उद्योग व कृषि को समुचित वित्त सहायता देना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अतएव विशिष्ट कार्यों के लिए अलग-अलग बैंक स्थापित किए जाते हैं, जैसे—व्यापार में सहायता देने के लिए व्यापारिक बैंक, कृषि के लिए कृषि बैंक, उद्योगों को वित्त-सहायता देने के लिए औद्योगिक बैंक, विदेशी व्यापार के लिए विदेशी विनिमय बैंक तथा लोगों को बचत सिखाने के लिए बचत बैंक आदि। इन सब प्रकार की बैंकों को नियमपूर्वक चलाने तथा उनमें पारस्परिक ताल-मेल बनाए रखने के लिए 'केन्द्रीय बैंक' होता है जो देश भर की बैंकिंग व्यवस्था का संचालन करता है। मूलतः बैंको के निम्न भेद हो सकते हैं :—

(१) व्यापारिक बैंक, (२) औद्योगिक बैंक, (३) कृषि बैंक, (४) विनिमय बैंग, (५) बचत बैंक, (६) केन्द्रीय बैंक, (७) विविध बैंक।

(१) **व्यापारिक बैंक**—जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है व्यापारिक बैंक व्यापार सम्बन्धी कार्यों के लिए अल्पकालीन ऋण स्वीकृत करते हैं। ये बैंक एक ओर तो राशि जमा करते हैं और दूसरी ओर उस जमा राशि को अल्प काल के लिए ऋण देते है। चूंकि इसके पास जो राशि जमा होती है वह अधिकाश में 'माग-देनदारी' होती है इसलिए ये बैंक ऋण देने से पहिले माग-देनदारी का कुछ भाग नकद कोष के रूप में अपने पास रख लेतें हैं। इन बैंकों का काम तो उद्योगो को स्थायी पूंजी देना होता है और न व्यापार के लिए दीर्घकालीन ऋण देना होता है। ये बैंक वास्तविक व्यापारियो को ऋण देते हैं, सटोरियों को नहीं। हमारे देश में अधिकतर ऐसे ही बैंक पाए जाते हैं।

(२) **औद्योगिक बैंक**—इन बैंकों का काम उद्योगों की वित्त-सहायता करना होता है। उद्योगों में प्रायः दीर्घकाल के लिए पूंजी की आवश्यकता होती है अतः व्यापारिक बैंक अपने विशेष दायित्व के कारण उस आवश्य कता को पूर्ण नहीं कर पाते। औद्योगिक बैङ्कों के पास दीर्घकाल के लि राशि जमा होती है और साथ ही उनके पास औद्योगिक विशेषज्ञ भी होते जिससे वे उद्योगों की दीर्घकालीन आवश्यकताओं की भली-भांति पूर्ति क सकते हैं। ये बैंक औद्योगिक कम्पनियों को प्रारम्भिक पूंजी उधार देते हैं उनके अंश तथा ऋण-पत्र खरीदते एवं बिकवाते हैं तथा ग्राहकों को कम्प नियों के अंश खरीदने के लिए सलाह देते हैं। योरपीय देशों में ऐसे बैं बहुत पाए जाते हैं। जर्मनी में तो उद्योगों और व्यापार—दोनों को एक सा वित्त-सहायता देनेवाले मिले-जुले बैंक हैं जो दोनों काम एक साथ करते हैं इंगलैण्ड तथा अमरीका में औद्योगिक बैंक बहुत पाए जाते हैं। हमारे देश में इस प्रकार के बैंकों का बहुत अभाव रहा है पर अब सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है और वह "औद्योगिक वित्त-कारपोरेशन" स्थापित करने लगी है।

(३) **कृषि-बैंक**—कृषि के लिए वित्त की आवश्यकता तीन प्रकार से होती है—(१) अल्पकालीन, (२) मध्यकालीन, (३) दीर्घकालीन। इन तीनों प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति न तो व्यापारिक बैङ्क कर सकते हैं और न औद्योगिक बैङ्क ही कर पाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि कृषि-धंधा एक अनिश्चित धंधा होने के कारण इसमें हानि-भय की संभावना अधिक होती है। दूसरे, इसमें निरंतर-साख की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति उक्त बैंक नहीं कर सकते। अतः कृषि-उत्पादन के लिए एक विशेष प्रकार की साख-संस्था की आवश्यकता होती है जो कृषि सम्बन्धी आवश्यकताओं का भली प्रकार अध्ययन कर सके और आवश्यकता-नुसार कृषकों को ऋण दे सके। ऐसी संस्थाएं कृषि बैंक हो सकती हैं। कृषि-बैंक केवल कृषि-कार्यों के लिए ऋण देते हैं। पाश्चात्य देशों में विभिन्न प्रकार की कृषि-साख-संस्थाएं हैं, जैसे—कृषि-

साख-संस्था, भूमि-बन्धन बैंक, सहकारी बैंक। इंगलैण्ड में 'लैंड मॉरगेज कारपोरेशन' तथा फ्रांस, जर्मनी, हालैण्ड तथा डेनमार्क में कृषि-बैंक स्थापित किए गए हैं। हमारे देश में भी बहुत से सहकारी बैंक तथा भूमि-बन्धक बैंक हैं। हमारे देश में यह काम 'सहकारी आन्दोलन' के अन्तर्गत हुआ है। ये कृषि-बैंक क्रमशः अल्पकालीन ऋण स्वीकार करते हैं। सहकारी बैंक कृषकों के अपने बैंक होते हैं जिनमें वे ही सदस्य और वे ही ऋणदाता होते हैं। सहकारी आन्दोलन को आज लगभग ५० वर्ष हो गए पर देश भर के कृषकों की साख-व्यवस्था सन्तोषप्रद नहीं है। अब भारत सरकार 'कृषि-साख मारगेज कॉरपोरेशन' खोलने के प्रस्ताव पर विचार कर रही है।

(४) **विनिमय बैंक**—विनिमय बैंक मूलतः विदेशी व्यापार को वित्त-सहायता पहुचाते तथा भिन्न-भिन्न देशों के पारस्परिक लेन-देन का भुगतान लेते-देते हैं। हमारे देश में ये बैंक अन्तर्देशीय व्यापार में भी वित्त-सहायता देते हैं। विनिमय बैंकों की शाखाएं प्रायः सभी देशों में होती हैं क्योंकि उन्हें देश-देश के आयात-निर्यात में वित्त-सहायता देनी होती है। यही कारण है कि इन बैंकों में बहुत अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है। फिर विनिमय का व्यवसाय भी कुछ पेचीदा होता है जिसके लिए इन्हें कुशल, अनुभवी तथा चतुर कार्य-कर्त्ताओं की आवश्यकता होती है। ये बैंक विदेशी विनिमय-बिलों का क्रय-विक्रय करके विदेशी व्यापार में सहायता पहुचाते हैं। हमारे देश में विदेशों के अनेक विनिमय बैंक हैं। पिछले दिनों तक भारतीय बैंक विनिमय का व्यवसाय नहीं करते थे पर अब हमारे बैंकों ने विदेशों में शाखाएं स्थापित करके विनिमय का व्यवसाय भी आरम्भ कर दिया है।

(५) **बचत बैंक**—यदि सच पूछा जाय तो ये बैंक नहीं होते वरन् व्यापारिक बैंकों तथा सरकारी डाकखानों के साथ लगे हुए विभाग होते हैं जिनका उद्देश्य जनता को उनकी आय में से बचत करना सिखाकर राशि

संचय करना होता है। ये बचत-विभाग 'बचत-बैंक' के नाम से प्रचलित हैं। कहीं-कहीं पर केवल इसी उद्देश्य को लेकर अलग से बचत-बैंक भी स्थापित किए जाते हैं। इन बैंकों का मूल उद्देश्य कम आयवाले लोगों को मितव्ययी बनाकर बचत करना सिखाना होता है। उनकी बचत-राशि को ये बैंक जमा करके उस पर ब्याज देते हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में अनेक प्रकार के बचत-बैंक हैं। इंगलैण्ड में डाकघर यह काम करते हैं। हमारे देश में भी डाकघर तथा व्यापारिक बैंको ने ऐसी सुविधाएं दे रक्खी हैं।

(६) **केन्द्रीय बैंक**—केन्द्रीय बैंक उक्त सभी प्रकार के बैंकों का दिग्दर्शक, पथ-प्रदर्शक तथा बैंकर होता है। देश की सभी बैंकिंग व अन्य वित्तीय संस्थाएं वित्त-सहायता के लिए केन्द्रीय बैंक पर निर्भर होती हैं। जिस प्रकार सौर्यमण्डल के सब ग्रह-उपग्रह सूर्य के चारों ओर चलते हैं उसी प्रकार देश की सभी बैंकिंग संस्थाएं केन्द्रीय बैंक पर निर्भर होतीं तथा उसके आदेशानुसार कार्य करती हैं। केन्द्रीय बैंक देश में केवल एक होता है जो सरकारी बैंक के रूप में काम करता तथा बैंकों का बैंक भी माना जाता है। अन्य बैंकों की तुलना में इस बैंक को कुछ विशेष कार्य करने का अधिकार मिला होता है; जैसे, देश में नोट-संचालन करना, सरकार के बैंकिंग कार्य करना, बैंकों का बैंक होना तथा देश में साख का संचालन करना। देश के धात्वीय कोष केन्द्रीय बैंक के पास जमा रक्खे जाते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना नहीं वरन् देश-हित में कार्य करते हुए देश की मौद्रिक इकाई का बाह्य एवं आन्तरिक मूल्य स्थायी बनाना होता है जिससे देश में मूल्यस्तर का समुचित नियमन होकर उत्पादन-कार्यों को प्रगति मिल सके।

सारांश

(१) बैंक प्रायः उस संस्था को कहते हैं जो जनता से राशि जमा करने तथा जनता को राशि उधार देने का काम करे। जमा लेने तथा ऋण देने के अतिरिक्त बैंक अन्य काम भी करते हैं, जैसे—सुरक्षा के लिए लोगों से

उनके आभूषणादि जमा रखना, ग्राहकों के लिए चेकों, बिलों तथा ड्राफ्टों का संग्रहण करना, व्यापारिक-बिलों की कटौती करना, एजेंसी का काम करना, गुप्त रीति से ग्राहकों की आर्थिक स्थिति की जानकारी लेना-देना आदि। संक्षेप में, बैंक ऐसी मौद्रिक संस्था होती है जो मुद्रा का क्रय-विक्रय करती है। ऋण लेने-देने के अतिरिक्त बैंक मुद्रा और साख सम्बन्धी कोई भी लेन-देन कर सकता है।

(२) बैंक की क्रियाओं और सेवाओं को चार वर्गों में बाटा जा सकता है—(१) जनता से राशि जमा करना; (२) जनता को ऋण स्वीकृत करना; (३) ग्राहकों के लिए एजेंट के रूप में काम करना; (४) विविध सेवाएं करना राशि जमा करने में बैंक अपने ग्राहकों के तीन प्रकार के लेखे खोल सकते हैं—स्थिर-लेखा, चल-लेखा और बचत-लेखा। स्थिर-लेखे में राशि एक निश्चित अवधि के लिए जमा होती है। इस अवधि के समाप्त होने से पहिले वह राशि सामान्यतः नहीं निकाली जा सकती पर यदि जमा करने वाला वह राशि लेना ही चाहे तो उस पर उसे व्याज नहीं दिया जाता। चल लेखे में राशि कभी भी जमा की जा सकती है और चेकादि द्वारा कभी भी निकाली जा सकती है। बचत-लेखे में अपेक्षाकृत कम राशि जमा होती है और यह लेखा थोड़ी आय वाले लोगो को मितव्ययिता सिखाकर राशि सञ्चय रखने की सुविधा देने के लिए खोला जाता है। इन तीनों लेखों के अतिरिक्त एक 'गोलक-लेखा' भी होता है जो प्रायः बालकों को मितव्ययी बनाने के लिए खोला जाता है।

बैंक प्रायः तीन प्रकार से ऋण देते हैं—(१) ऋण मागनेवाले की वैयक्तिक साख पर; (२) ऋण मागनेवाले की साख के अतिरिक्त अन्य सिफारिशियो की साख पर; (३) चल-अचल सम्पत्ति की साख पर। ऋण कई रूपों मे स्वीकृत किया जाता है—जैसे, अग्रिम राशि स्वीकृत करके, अधिविकर्ष द्वारा, नकद-साख द्वारा तथा बिलों की कटौती करके। एजेंसी के कार्यों में बैंक अपने ग्राहकों के चेक, बिल आदि संग्रहण करता है, बीमे की प्रव्याजि भुगताने की व्यवस्था करता है, ग्राहको के आदेशानुसार कम्पनियों के अंश

क्रय-विक्रय करता है तथा ग्राहको की राशि का हस्तान्तर तथा स्थानान्तरण करता है। विविध सेवाओं के अन्तर्गत बैंक सरकारी कार्य करता है, सरकारी जन ऋण की व्यवस्था करता है, विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करता है, ग्राहकों की आर्थिक जानकारी लेता-देता है तथा व्यापार सम्बन्धी शोध करके तत्सम्बन्धी आंकड़े प्रकाशित करता है।

(३) बैंक कई प्रकार के होते है, जैसे—व्यापारिक बैंक, औद्योगिक बैङ्क, कृषि बैंक, विनिमय-बैंक, बचत-बैंक, केन्द्रीय बैंक और विविध बैंक। प्रत्येक प्रकार के बैंक के अपने अलग कार्य और सेवाएं हैं और ये भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में ही अपना लेन-देन सीमित रखते हैं।

प्रश्न

१—बैंक का हमारी अर्थ-व्यवस्था में क्या स्थान है? समझाकर लिखिए। (यू० पी० १९५४, १९५२)

२—(अ) बैङ्क किसे कहते हैं?

(ब) भिन्न-भिन्न प्रकार के बैंको तथा उनके कार्यों को लिखिए।

(यू० पी० १९५३, १९४३; राज० १९५१; म०भा० १९५०)

३—अपने ग्राहकों के लिए बैंक क्या-क्या करता सेवाएं करते हैं? विस्तार पूर्वक लिखिए। (यू० पी० १९४४)

४—आधुनिक बैंकों की क्रियाओं का उल्लेख कीजिए।

(राज० १९४८, १९४७; म०भा० १९५०)

५—बैंक अपनी जमाराशि किस प्रकार प्राप्त करते हैं? (यू०पी० १९५३)

६—बैंक में चालू लेखा किस प्रकार खोला जाता है?

(यू० पी० १९५१, १९५०)

अध्याय २०

बैंक द्वारा साख-सृजन

Cred.

(Ceation of Loan by Banks)

बैंक मूलतः साख का लेन-देन करते हैं—साख पर जनता से उनकी अतिरिक्त बचत-राशि जमा करते तथा उस जमाराशि को अन्य ऋण-याचकों को ऋण रूप में देते हैं। इस प्रकार राशि लेन-देन के क्रम में बैंक साख का सृजन करते और 'साख के सृजनकर्त्ता' कहे जाते हैं। सेलिग्मन ने लिखा है कि "साख-सृजन में जमा, कटौती तथा निर्गमन—ये तीन कार्य सन्निहित होते हैं।" वैसे तो बैंक तीन प्रकार के लेखे खोलकर जनता से जमा-राशि प्राप्त करते हैं पर जमा प्राप्त करने के सामान्यतः दो मूल सिद्धान्त हैं। एक, बैंक ग्राहक से नकद राशि लेकर और फिर उसके नाम से लेखा खोल-कर जमा प्राप्त करते हैं। कभी-कभी बैंक नकद राशि न लेकर ग्राहक से चेक, बिल तथा ऋण-पत्र प्राप्त कर लेते हैं और फिर उनकी राशि संग्रह करके ग्राहक के नाम से लेखा खोलकर जमा प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार जो जमा-राशि बैंक को प्राप्त होती है उसे 'मूल-जमा' (Primary Deposit) कहते हैं। प्रोफेसर कीन्स ने इस प्रकार की जमा को 'निष्क्रिय जमा' (Passive Deposit) कहा है। दूसरे प्रकार की जमा बैंक द्वारा ऋण देने से अथवा विनिमय-बिलों की कटौती करने से बनती है। जब बैंक किसी व्यक्ति या संस्था को ऋण स्वीकृत करता है तो वह सामान्यतः ऋण-राशि नकद रूप में एक साथ ही नहीं देता वरन् ऋण-राशि को, ऋण मांगनेवाले का लेखा खोलकर उसमें जमा कर लेता है और ऋण-याचक को अधिकार दे दिया जाता है कि वह अपनी आवश्यकतानुसार चेक लिखकर ऋण-राशि निकालता रहे। इस प्रकार एक ओर ऋण स्वीकृत किया जाता है और

दूसरी ओर उसी ऋण की राशि से जमा सृजित कर ली जाती है। अतः कहते हैं कि "ऋण जमा को जन्म देते हैं।" इस प्रकार बैंक जो जमा निर्माण करता है उसे 'सृजित जमा' (Created Deposit) कहते हैं। प्रोफेसर कीन्स ने इस प्रकार की जमा को 'सक्रिय जमा' (Active Deposit) कहकर उद्बोधित किया है। इस सम्बन्ध में प्रोफेसर कीन्स ने कहा है कि "ऋण जमा के जन्मदाता और जमा ऋण की जन्मदात्री होती है" (Loans are the Children of Deposits and Deposits are the Children of Loans)। कीन्स का यह कथन अक्षरशः सत्य है। जब बैंक अपनी 'मूल-जमा' या 'नकद-जमा' में से ऋण-याचकों को ऋण देता है तो उस समय जमा ऋण की जन्मदात्री होती है और जब बैंक ऋण स्वीकृत करके जमा का निर्माण करते हैं, जैसा कि 'सृजित जमा' की व्याख्या करते हुए अभी-अभी बतलाया गया है, तो उस समय ऋण जमा के जन्मदाता बन जाते हैं। वास्तव में बैंक की जमा (Deposits) दो प्रकार की होती हैं—नकद-जमा (Cash Deposits) और साख-जमा (Credit Deposits)। साख-जमा ऋण स्वीकृत करके बनाई जाती है और ऋणों का आधार नकद जमा होती है। अतः कीन्स का कथन कि "जमा और ऋण दोनों एक दूसरे के जन्मदाता हैं"—ठीक ही है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि बैंक नकद ऋण देकर तथा साख-जमा द्वारा साख का सृजन करते हैं। साख-सृजन की तीसरी विधि और है जिसमें बैंक नोट-निर्गमन करके साख का सृजन कर सकते हैं। पर आजकल यह अधिकार केवल देश के केन्द्रीय बैंक को ही मिला होता है अतः अन्य बैंक इस विधि के अनुसार साख-सृजन नहीं कर सकते। आजकल अधिकांश साख-सृजन साख-जमा (Credit Deposit) विधि के अनुसार होता है। यदि बैंक की व्यवहारिक कार्य-पद्धति का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाय तो जान पड़ेगा कि बैंकों के पास जितनी भी जमा-राशि होती है उसका बहुत कम अंश ऐसा होता है जो जमाकर्त्ताओं द्वारा नकद रूप में जमा किया गया हो। अधिकांश जमा बैंक द्वारा सृजित की हुई होती है जिसे बैंक साख पर ऋण

स्वीकृत करके निर्माण करते हैं। हार्टले ह्विदर्स लिखता है कि इङ्गलैण्ड में अधिकाश बैंक ऋण स्वीकृत करके 'साख-जमा बनाते और इस प्रकार साख का सृजन करते हैं।' उनका कथन है कि "आधुनिक अंगरेजी वाणिज्य-क्षेत्र में प्रयाग को जानेवाली मुद्रा 'चेक' है और लन्दन मुद्रा-मंडी में जिस साख का प्रायः व्यवहार होता है वह है चेक लिखकर राशि निकालने का अधिकार।" इससे स्पष्ट है कि लन्दन के बैंक 'साख-जमा' बनाकर साख-सृजन करते हैं। ठीक भी है, आधुनिक व्यापार में भुगतान लेन-देन के लिए चेक एक सुविधाजनक एवं मितव्ययी व सरल साधन समझा जाता है जिससे मुद्रा की गति में वृद्धि होती है। अतः बैंक अपनी जमा-राशि में से ऋण देने तथा ऋण देकर जमा बढ़ाने का चक्र घुमाते ही रहते हैं जिससे साख का सृजन होता है और जनता में वित्त-शक्ति का संचार होकर मुद्रा की गतिशीलता बढ़ती है।

साख सृजन की मर्यादाएं—यद्यपि प्रत्येक बैंक अपनी साख-सृजन नीति में स्वतन्त्र होता है और अपने हितों की रक्षा करते हुए किसी सीमा तक साख का सृजन कर सकता है तो भी कुछ ऐसे कारण होते हैं जिनसे बैंक को अपनी साख-सृजन शक्ति सीमित करनी पड़ती है। साख-सृजन शक्ति को मर्यादित रखनेवाले घटक इस प्रकार हैं:—

(१) **बैंक द्वारा रक्खा जानेवाला नकद कोष**—प्रत्येक बैंक को अपने पास जमा-राशि का भुगतान करने के लिए कुछ न कुछ नकद कोष रखना पड़ता है जिससे जमाकर्त्ताओं की मांग को पूरा किया जा सके। कभी कभी नकद कोष की सीमा कानून द्वारा निर्धारित कर दी जाती है। उस अवस्था में बैंक को अपने पास रखे हुए नकद-कोष को ध्यान में रखकर साख-सृजन करना पड़ता है। जब नकद-कोष की मात्रा कानून द्वारा निर्धारित नहीं होती तो बैंक अपनी वैयक्तिक स्थिति के अनुसार कोष बनाकर रखते हैं। यदि कोष अधिक रखना पड़ा तो साख-सृजन की गति मन्द करनी होती है और यदि कोष की मात्रा कम ही रखनी पड़ी तो साख की

मात्रा और गति बढ़ाई जा सकती है। तात्पर्य यह है कि साख-सृजन बैंक की नकद-कोष की मात्रा द्वारा मर्यादित होता है।

(२) केन्द्रीय बैंक के पास जमा बैंकों का कोष—प्रत्येक बैंक को अपनी मांग और काल-देनदारी का कुछ प्रतिशत भाग देश के केन्द्रीय बैंक के पास जमा रखना होता है। इस प्रतिशत से बैंकों की साख-सृजन की सीमा निर्धारित होती है। यदि अपेक्षाकृत कम प्रतिशत भाग केन्द्रीय बैंक के पास रखा गया तो बैंक अधिक मात्रा में साख का निर्माण कर सकते हैं और यदि केन्द्रीय बैंक के पास अपेक्षाकृत अधिक प्रतिशत दर से कोष रखा गया तो बैंकों की साख निर्माण करने की शक्ति कम हो जाती है।

केन्द्रीय बैंक के साख-नियन्त्रण के साधनों द्वारा भी बैंकों की साख-शक्ति सीमित रहती है क्योंकि केन्द्रीय बैंक अपनी विभिन्न क्रियाओं द्वारा देश में साख का प्रसार एवं संकुचन करता रहता है।

(३) धातु-कोष—नोट-निर्गमन द्वारा साख का जो सृजन किया जाता है वह नोटों के आधार पर रखे हुए धातु-कोष द्वारा सीमित रहता है। यदि धातु-कोष अधिक हुआ तो पत्र-मुद्रा की मात्रा बढ़ाई जा सकती है और यदि धातु-कोष कम हो गया तो पत्र-मुद्रा की मात्रा कम करनी होती है।

(४) ऋण-याचकों की साख—ऋण स्वीकृत करने से पहिले बैंक ऋण याचकों की साख अथवा जमानत के विषय में काफी सतर्क रहता है। यदि ऋण-याचक की साख तथा जमानत उत्तम हुई तो बैंक पर्याप्त मात्रा में ऋण स्वीकार करके साख-सृजन कर सकता है अन्यथा उसे साख की मात्रा कम रखनी होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि बैंक द्वारा सृजित की गई साख की मात्रा ऋण-याचकों की वैयक्तिक साख एवं जमानत द्वारा सीमित रहती है।

(५) सामान्य आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति—ऋण स्वीकृत करने से पहिले बैंक देश की सामान्य आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति के

विषय में सतर्कता से अध्ययन कर लेता है। यदि राजनीतिक स्थिति शान्ति-पूर्ण रही और उद्योग-धन्धों में प्रगति का रुख रहा तो बैंक अधिक मात्रा में साख का सृजन कर सकेंगे और अगर सामान्य व्यवसाय में मन्दी का वातावरण रहा तथा राजनीतिक हलचल बनी रही तो बैंक अपनी राशि ऋण रूप में देना नहीं चाहेंगे और तब उनकी साख-शक्ति अपेक्षाकृत कम रहेगी। अतः देश की सामान्य आर्थिक तथा राजनीतिक स्थितिया भी बैंकों द्वारा सृजित साख की सीमा निर्धारित करती हैं।

बैंक द्वारा साख-सृजन के विषय में भ्रान्ति—कुछ विद्वानों के मन में बैंक द्वारा साख-सृजन के विषय में एक भ्रान्ति बनी हुई है। इसमें वाल्टर लीफ और केनन प्रमुख हैं। वाल्टर लीफ का मत है कि बैंक द्वारा साख-सृजन की शक्ति जमाकर्त्ताओं की इच्छा पर निर्भर होती है क्योंकि यदि जमाकर्त्ता बैंकों में राशि जमा करना बन्द कर दे तो फिर बैंक ऋण देकर साख-सृजन कर ही नहीं सकते। अतः लीफ के शब्दों में "साख-सृजन करनेवाले बैंक नहीं वरन् जमाकर्त्ता होते हैं।" इसी प्रकार केनन का मत है कि "बैंक न साख का सृजन करते हैं और न वे मुद्रा के सृजनकर्त्ता ही होते हैं। बैंक तो केवल मध्यस्थ का काम करते हैं—वे उन लोगों से, जो अपनी राशि का समुचित उपयोग अपने आप नहीं कर पाते, राशि जमा करके उन लोगों को दे देते हैं जो उसका समुचित उपयोग कर सकें। अतः बैंक मध्यस्थ संस्था है, सृजनकर्त्ता नहीं।"

नकद कोष

जनता से राशि जमा करने में बैंक दो प्रकार का दायित्व अपने ऊपर लेता है—(१) माग-देनदारी, (२) काल-देनदारी। माग-देनदारी का भुगतान बैंक को जमाकर्त्ताओं की वैधानिक माग होने पर किसी समय भी करना पड़ता है और काल-देनदारी का भुगतान सामान्यतः निश्चित अवधि समाप्त होने पर करना पड़ता है, पर कभी-कभी अवधि से पहिले भी करना पड़ता

है। ऐसी स्थिति में बैंक अपने पास जमा कुछ राशि को ऋण-याचकों को उधार नहीं दे सकता क्योंकि उसे यह भय रहता है कि न मालूम कब जमाकर्त्ता मांग करके अपनी राशि लेने आ जायं। अतः ऋण स्वीकृत करने से पहिले बैंक अपने कोष में कुछ नकद राशि बचाकर रख लेता है जिससे समय आने पर उसमें से जमाकर्त्ताओं की मांग पूरा करता रहे। यही नकद-राशि, जो बैंक इस प्रकार बचाकर सदैव अपने पास रखता है 'नकद-कोष' कहलाता है। कभी-कभी बैंक अपने पास नकद-कोष न रखकर केन्द्रीय बैंक में जमा कर देते हैं ताकि आवश्यकता पड़ने पर वहां से राशि लेकर जमाकर्त्ताओं की मांग को पूरी कर सके। कोई-कोई बैंक नकद-कोष अपने पास भी रखते हैं और केन्द्रीय बैंक में भी जमा करा देते हैं। कैसे भी हो, यह निश्चित है कि ऋण देने से पहिले प्रत्येक बैंक को अपने पास कुछ नकद-कोष अनिवार्य रूप से रखना आवश्यक है। यह नकद-कोष बैंक की साख बनाए रखने में सहायता करता है क्योंकि यदि यह न हो तो सम्भव है बैंक जमाकर्त्ताओं की मांग पूरी न कर सके और तब उसे अपने द्वार बन्द करने पड़ें। कुछ मुद्राशास्त्रियों ने तो 'नकद-कोष' को बैंक की 'रक्षा की प्रथम पंक्ति' कहकर महत्त्व दिया है। बैंक को अपने पास यथेष्ट नकद-कोष रखने तथा उसे निरन्तर सुदृढ़ और तरल बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। नकद-कोष किस रूप में रक्खा जाय ? क्या सिक्यूरिटियों में लगाया जाय या बैंक की तिजोरी में निठल्ला रखा जाय ? यह निश्चय करना बैंक के अधिकारियों का ही काम है। सिद्धान्तः यह कोष इस प्रकार रहना चाहिए कि वह सुरक्षित रहे और समय पर उपलब्ध हो सके। इसका अर्थ यह है कि जहां तक सम्भव हो सके वहां तक उसे 'तरल' रूप में रखना चाहिए। यदि सिक्यूरिटियों में भी लगाया जाय तो ऐसी सिक्यूरिटियां हों जो अल्पकालीन हों, जिनमें मूल्य-ह्रास का भय न हो और आवश्यकता होने पर तुरन्त ही बेची जा सकें और नकद राशि प्राप्त की जा सके। प्रश्न यह है कि नकद-कोष कितना रखना चाहिए ? अर्थात् नकद-कोष और मांग-देनदारी का क्या अनुपात होना चाहिए ? यह बात निम्न परिस्थितियों पर निर्भर होती है :—

(१) **वैधानिक निर्णय**—कहीं-कहीं पर बैंकों द्वारा रक्खे जानेवाले नकद-कोष की मात्रा विधान द्वारा निश्चित कर दी जाती है और वह वैधानिक निर्णय देश के सभी बैंकों को मान्य होता है। इससे नए-नए बैंकों को सहायता मिलती है और पुराने साहसी बैंकों पर भी प्रतिबन्ध बना रहता है। देश की सरकार देश की आर्थिक स्थिति, लोगों की बैंकिंग आदत तथा व्यापार के रुख को देखकर नकद-कोष की मात्रा निर्धारित करती है। भिन्न-भिन्न देशों में यह मात्रा भिन्न-भिन्न है। हमारे देश में प्रत्येक बैंक को अपनी मांग-देनदारी का ५% और काल-देनदारी का २% रिजर्व बैंक के पास रखना पड़ता है।

(२) **जमाकर्त्ताओं की औसत जमा-राशि**—नकद-कोष की मात्रा बैंक के प्रत्येक जमाकर्ता की औसत जमा-राशि पर निर्भर करती है। वास्तव में नकद-कोष की उतनी मात्रा होनी चाहिए जिससे अधिक राशि जमा करने वाले की मांग एक साथ ही पूरी हो सके।

(३) **लोगों की बैंकिंग आदत**—जहां के लोग अपने पास नकद-राशि न रखकर बैंकों द्वारा लेन-देन करते हों वहां पर बैंकों में नकद-कोष की कम मात्रा रखने में ही काम चल जाता है क्योंकि जहां बैंक एक ओर देनदारी का भुगतान करता है वहां दूसरी ओर उसमें राशि जमा हो जाती है। यदि किसी स्थान पर अधिकांश भुगतान चैक द्वारा होते हों तो वहां नकद-कोष की थोड़ी मात्रा ही रखने से काम चल जाता है।

(४) **ग्राहकों की सामान्य प्रकृति**—यदि किसी बैंक के ग्राहक ऐसे हों जो सामान्यतः भारी राशि बैंक से निकालते हों तो उनकी मांग को पूरा करने के लिए बैंक को यथेष्ट मात्रा में नकद कोष रखने की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत यदि ग्राहक कभी-कभी बैंक से राशि लेने आते हों तो बैंक को अपेक्षाकृत कम नकद-कोष रखने में ही काम चल जाता है।

(५) **स्थानीय प्रथा**—किसी बैंक द्वारा रक्खे जानेवाले नकद-कोष की मात्रा वहां की स्थानीय प्रथा पर भी निर्भर करती है। यदि अन्य कोई

स्थानीय बैंक अपने पास नकद कोष की अधिक मात्रा रखता है तो उस स्थान के अन्य बैंकों को भी जनता का विश्वास जीतने के लिए वैसा ही करना पड़ेगा।

(६) मुद्रा-मण्डी की व्यवस्था—यदि किसी देश की मुद्रा-मंडी और बिल-मंडी उन्नत है तथा वहां केन्द्रीय बैंक भी है और सिक्यूरिटियों के क्रय-विक्रय की अन्य सुविधाएं भी हैं तो ऐसे देश में बैंकों को नकद-कोष की थोड़ी मात्रा रखने से ही काम चल सकता है।

(७) समाशोधन-गृह की सुविधा—यदि किसी देश में बैंकों को समाशोधन-गृह का समुचित प्रबन्ध है जिससे बैंको का पारस्परिक लेन-देन बिना नकद-राशि लिए-दिए ही चुक जाय तो वहां बैंकों को बहुत कम नकद-कोष रखने की आवश्यकता होगी।

(८) व्यापारिक परिस्थिति—देश की व्यापारिक स्थिति का भी नक़द कोष से घनिष्ठ संबंध होता है। जिस देश में विशेषतः औद्योगिक व्यापार होता हो जिससे दैनिक आवश्यकताओं के लिए नकद राशि की आवश्यकता पड़े तो ऐसे स्थान पर बैंकों को नकद-कोष की अधिक मात्रा अपने पास रखनी होगी। इसके विपरीत जो देश कृषिप्रधान हैं और जिन बैंकों को इन कृषि-प्रधान देशों में अपना कारोबार करना पड़ता हो तो उन बैंकों को मौसम के समय में अधिक नकद-कोष तथा सामान्यतः कम नकद-कोष रखना आवश्यक होगा।

नकद-कोष की मात्रा वास्तव में तो बैंक-अधिकारियों के पूर्व-अनुभव, उनकी दूरदर्शिता तथा उस देश की व्यापारिक परिस्थिति पर निर्भर होती है। फिर भी उक्त बातों को विचार कर नकद-कोष की मात्रा निश्चित करने में सहायता मिल सकती है।

बैंक की विनियोगनीति

बैंक जमाकर्त्ताओं से अपने पास जो राशि जमा करता है उस जमा-राशि को वह दूसरों को उधार देकर ब्याज वसूल करता है और इस ब्याज

में से कुछ भाग जमाकर्त्ताओं को उनकी जमा पर व्याज स्वरूप देकर शेष लाभ अपने पास बचा लेता है। इससे एक बात स्पष्ट होती है कि बैंक अपनी जमा-राशि को अपने कोष में निठल्ली नहीं रख सकता। यदि उसने ऐसा किया तो जमाकर्त्ताओं को व्याज में देने के लिए उसके पास राशि कहा से आएगी और किस प्रकार वह अपना लाभ कमा सकेगा। बैंक को जमा-राशि का कुछ भाग नकद-कोष के रूप में अपने पास रखकर शेष राशि को विनियोग करना ही पड़ेगा। पर राशि विनियोग करने में भी बैंक को अनेक झंझट हैं—कितनी राशि विनियोग की जाय? किस प्रकार विनियोग की जाय? विनियोग करने में कितना लाभ प्राप्त किया जाय? पहिले कहा जा चुका है कि बैंक दूसरों की राशि से लेन-देन करता है। जमाकर्त्ताओं की राशि को ऋण देने में अनेक खतरे उपस्थित हो सकते हैं—कहीं वह राशि डूब न जाय अथवा ऐसा न हो कि विनियोगित राशि का मूल्य ह्रास हो जाय या ऐसा न हो कि विनियोगित राशि समय पर लौटकर न आ सके और जमाकर्त्ता माग करने लगें। यदि उक्त घटनाओं मे से कोई भी घटना घटी तो बैंक की साख बिगड़ जाने का भय रहता है। इतिहास साक्षी है कि अनेक बैंक केवल इसीलिये बन्द करने पड़े कि उनकी अपनी विनियोग नीति दूषित एवं दोषपूर्ण थी और उन्होंने अपनी जमा-राशि इस प्रकार विनियोग कर दी कि वह समय पर वापिस प्राप्त न हो सकी और जमाकर्त्ताओं की माग करने पर बैंक उनका भुगतान करने मे असफल रहे। हमारे देश में १६१३ व १६२६-३० का बैंकिंग संकट बैंकों की दोषपूर्ण विनियोग-नीति का ही परिणाम था। वास्तव मे बैंक को अपनी राशि विनियोग करने मे अनेक प्रकार की सावधानी की आवश्यकता होती है।

विनियोग-नीति की कसौटी—बैंक की विनियोग-नीति की कोई निश्चित कसौटी निर्धारित नहीं की जा सकती। भिन्न-भिन्न देशों मे, भिन्न-भिन्न समयों पर और भिन्न-भिन्न बैंकों के साथ विनियोग-नीति भिन्न-भिन्न होती है। विनियोग-नीति प्रायः देशवासियों की प्रकृति पर, व्यापारिक एवं औद्योगिक परिस्थिति पर तथा बिल-मण्डी के विकास पर निर्भर होती है।

फिर भी प्रत्येक बैंक को अपनी विनियोग-नीति निर्धारित करते समय निम्न तत्त्वों का विचार अवश्य रखना चाहिए :—

(१) **तरलता**—बैंक को अपनी राशि इस प्रकार विनियोग करनी चाहिए कि आवश्यकता होने पर तत्काल ही उसे रोकड़ राशि में बदलवाया जा सके। बैंक को अपनी राशि यथासम्भव अल्पकालीन ऋणों में लगानी चाहिए, दीर्घ-कालीन ऋणों मे नहीं। बैंक को अपनी राशि अचल सम्पत्ति अर्थात् भूगृहादि में विनियोग नहीं करनी चाहिए क्योंकि ये वस्तुएं शीघ्र ही नकद राशि में परिवर्तित नहीं की जा सकतीं। टेनन लिखता है कि "सफल बैंक वह है जो बिल और रहन (mortgage) का अन्तर जानता है।" बैंक को राशि विनियोग करने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके पास सदा ही कुछ न कुछ नकद राशि बनी रहे और जो जमा-राशि विनियोगित हो वह भी तत्काल तरल बनाई जा सके और उसके मूल्य में किसी प्रकार की कमी न हो।

(२) **सुरक्षा**—बैंक को अपनी सम्पत्ति का विनियोग इस प्रकार करना चाहिए कि उसका मूलधन सुरक्षित बना रहे—उसके डूब जाने या उसका मूल्य ह्रास हो जाने की आशंका न हो। बैंक जो सम्पत्ति विनियोग करता है वह उसकी निज की नहीं होती वरन् जमाकर्त्ताओं की होती है। अतः उसको सुरक्षित बनाए रखना बैंक का दायित्व होता है। बैंक को अपनी सम्पत्ति सट्टे-खोरी या अन्य प्रकार के ऐसे व्यापार में नहीं लगाना चाहिए जो अस्थिर हो और जिसमें लाभ न मिलता हो।

(३) **आय**—सम्पत्ति का विनियोग करते समय बैंक को केवल तरलता और सुरक्षा की ओर ही नहीं देखना चाहिए वरन् यह भी देख लेना चाहिए कि उस विनियोग से आय भी होगी या नहीं। बैंक लाभ कमाने के लिए सब कुछ लेन-देन करता है। अतः अपनी सम्पत्ति को सुरक्षित रखते-रखते उससे लाभ भी कमाना चाहिए। सुरक्षा, तरलता एवं लाभ—तीनों तत्त्वों का पालन करने मे बैंक की आर्थिक स्थिति दृढ़ बनती है और जन-समुदाय में साख भी जमती है।

(४) **विकेन्द्रीकरण**—बैंक को अपने धन का विनियोग विकेन्द्रित रूप में करना चाहिए—सारी धन-राशि का विनियोग किसी एक ही प्रकार के उद्योग या व्यापार में नहीं करना चाहिए क्योंकि उस उद्योग या व्यापार विशेष में हानि हो जाने के कारण बैंक की विनियोगित राशि एक साथ ही डूब जाने का भय रहता है। बैंक को सारी राशि किसी व्यक्ति विशेष को भी ऋण नहीं देनी चाहिए। अलंकृत भाषा में यों कहना चाहिए कि "बैंक को अपने सारे अंडे एक ही टोकरी में नहीं रखने चाहिए।" जहां तक सम्भव हो वहां तक राशि विस्तृत क्षेत्र में बंटी होनी चाहिए। न तो व्यक्ति विशेष को, न व्यापार विशेष में, न स्थान विशेष पर और न किसी एक ही प्रकार की साख पर राशि विनियोग करनी चाहिए।

(५) **जमानतों का निरीक्षण**—जिन जमानतों पर बैंक ऋण देकर राशि विनियोग करना चाहे, उन जमानतों का भलीभांति निरीक्षण कर लेना चाहिए। वैसे तो कोई भी जमानत आदर्श या सर्वोत्तम नहीं कही जा सकती परन्तु तो भी यह अवश्य देख लेना चाहिए कि वह जमानत, जिस पर राशि विनियोग की जा रही है, तरल है अथवा नहीं तथा उसके मूल्य में किसी प्रकार का ह्रास तो नहीं होगा। यदि कभी किसी जमानत में मूल्य-ह्रास होने लगे तो ऋणी से तुरन्त अन्य जमानत लेकर उस ह्रास को पूरा करना चाहिए।

(६) **केन्द्रीय बैंक की विनियोग नीति का अध्ययन**—बैंक को अपनी विनियोग नीति केन्द्रीय बैंक की विनियोग नीति के सहारे-सहारे समानान्तर गतिविधि पर बनानी चाहिए। कभी-कभी बैंक को राशि की आवश्यकता होती है और उसे तृप्त करने के लिए वह केन्द्रीय बैंक से ऋण लेता है। अतः संकट काल में केन्द्रीय बैंक से ऋण मिल सके इस हेतु बैंक को उन्हीं विनियोग-पत्रों और सिक्यूरिटियों में अपना धन विनियोग करना चाहिए जो केन्द्रीय बैंक द्वारा मान्य हों।

विनियोग की विभिन्न विधियां—सामान्यतः बैंक दो प्रकार से अपनी

राशि का विनियोग किया करते हैं—(१) व्यवसाय-संचालन के लिए भू-गृहादि, फर्नीचर आदि वस्तुएं खरीदकर। इसके अतिरिक्त वे कुछ राशि अपने पास तथा कुछ केन्द्रीय बैंक में नकद-कोष के रूप में जमा रखते हैं जो समय पर काम आ सके। इस प्रकार के विनियोग से बैंक को कोई आय नहीं होती। (२) अल्पकालीन ऋण देकर, बिलों की कटौती करके, सिक्यूरिटियो का क्रय-विक्रय करके तथा अन्य प्रकार से ऋणादि देकर—इस प्रकार के विनियोग से बैङ्क को आय होती है और लाभ मिलता है। अतः बैङ्क के विनियोग दो प्रकार के कहे जा सकते हैं—लाभप्रद विनियोग तथा लाभरहित विनियोग।

लाभ कमाने के लिए बैङ्क प्रायः इस प्रकार से अपनी राशि का विनियोग करते हैं—(१) अल्पकालीन ऋण देकर, (२) बिलों का क्रय करके तथा उनकी कटौती करके, (३) विनियोग-पत्र तथा अन्य सिक्यूरिटियाँ क्रय करके, (४) अग्रिम तथा ऋण देकर।

अल्पकालीन ऋण—ये ऋण प्रायः तीन प्रकार के होते हैं—(क) सट्टे सम्बन्धी व्यवहारों के लिए बहुत अल्पकाल को दिए गए ऋण—ऐसे ऋण बैङ्क अपने दैनिक व्यवसाय के अन्त में केवल रात-रात के उपयोग के लिए स्वीकृत करते हैं, (ख) ऐसे ऋण जिनका भुगतान ऋणी को बैङ्क की सूचना पाते ही एक सप्ताह के अन्तर्गत करना होता है, (ग) ऐसे ऋण जिनका भुगतान ऋणी को बिना किसी पूर्व-सूचना के बैङ्क से मांग आने पर तुरन्त करना होता है। हमारे देश में इस प्रकार के ऋण बहुत कम मात्रा में दिए जाते हैं। इस प्रकार के ऋणों की जमानत बड़ी ठोस होती है जो समय पर अथवा मांगने पर ऋण का भुगतान न होने पर बेच दी जाती है। इन ऋणों पर बैङ्क बहुत थोड़ा ब्याज वसूल करते हैं। मुद्रा-मण्डी तथा बिल-मण्डी का समुचित विकास न होने के कारण हमारे देश में अल्पकालीन ऋणों का लेन-देन उतना प्रचलित और लोक-प्रिय नहीं है जितना पाश्चात्य देशों में।

बिलों का क्रय एवं उनकी कटौती—बैङ्क उत्तम श्रेणी के बिलों व

ऋण-पत्रों का क्रय करके एवं उनकी कटौती करके अपनी राशि का विनियोग करते हैं। पर वे सामान्यतः ऐसे बिलों की कटौती करते हैं जिनकी किसी भी समय आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय बैंक से पुनः कटौती कराई जा सके अथवा जिन्हें बिल बाजार में किसी भी समय बेचा जा सके। बिलों का क्रय एवं कटौती बैंक इस प्रकार से करते हैं कि उनका भुगतान क्रमशः होता रहे जिससे बैंक के पास नकद-राशि का अभाव न हो। ऐसा करने से बैंक को अपेक्षाकृत कम राशि नकद-कोष में रखने की आवश्यकता होती है। हमारे देश में बिल बाजार विकसित न होने के कारण बैंक देशी बिलों का क्रय बहुत कम मात्रा में करते हैं। हां, विनिमय बैंक अन्तर्राष्ट्रीय बिलों का क्रय-विक्रय करते हैं; पर वे सब बैंक विदेशी हैं।

विनियोग-पत्र एवं सिक्यूरिटियों का क्रय—बैंक अधिकांश राशि का विनियोग विनियोग-पत्र एवं सिक्यूरिटियों में करते हैं पर वे सामान्यतः ऐसी सिक्यूरिटिया खरीदते हैं जिनको किसी भी समय बिना किसी हानि के सिक्यूरिटी बाजार में बेचकर नकद राशि प्राप्त की जा सके अथवा जिनकी जमानत पर केन्द्रीय बैंक से ऋण लिया जा सके। इस प्रकार के विनियोग पर बैंक को आय तो कम होती है पर इस प्रकार का विनियोग सुरक्षित होता है। दूसरे, इस प्रकार के विनियोग से आय निश्चित होती है और नियमित रूप से मिलती रहती है। इस प्रकार के विनियोग में सुरक्षा, तरलता और निश्चित व नियमित आय होती है तथा मूल्य में उच्चावचन कम होता है। हमारे देश में मुद्रा-मंडी विकसित न होने के कारण सिक्यूरिटियों का क्रय विक्रय प्रायः कम होता है फिर भी सरकारी और अर्ध-सरकारी सिक्यूरिटियों में अनेक बैंक अपनी राशि विनियोग करते हैं।

सिक्यूरिटिया एवं विनियोग-पत्र अनेक प्रकार के होते हैं और सुरक्षा की दृष्टि से उनका क्रय इस प्रकार होता है—सरकारी सिक्यूरिटियों एवं ऋण-पत्र, स्थानीय और सरकारी संस्थाओं द्वारा निर्गमित सिक्यूरिटिया, जनोपयोगी संस्थाओं तथा कम्पनियों की सिक्यूरिटियां तथा अन्य

व्यवसायिक एवं औद्योगिक कम्पनियों द्वारा निर्गमित सिक्यूरिटियां — जिनमें कम्पनियों के अंश और ऋण-पत्र सम्मिलित होते हैं।

जैसे तो देश में अनेक प्रकार की सिक्यूरिटियां होती हैं और बैंक अपनी स्थिति के अनुसार उनमें से कोई भी क्रय करके अपनी राशि विनियोग कर सकता है परन्तु तो भी सिक्यूरिटियों में राशि विनियोग करने से पहिले बैंक को निम्न बातों पर अवश्य विचार कर लेना चाहिए :—

(१) **सुरक्षा**—ऐसी सिक्यूरिटियां खरीदनी चाहिए जिनमें धन सुरक्षित बना रहे और बैंक के ग्राहकों का विश्वास जमा रहे। इस दृष्टि से सरकारी सिक्यूरिटियां सर्वोत्तम मानी जाती हैं।

(२) **मूल्य-स्थिरता एवं स्थायित्व**—क्रय की जानेवाली सिक्यूरिटियों का मूल्य स्थिर एवं स्थायी होना चाहिए। अस्थायी मूल्यवाली सिक्यूरिटियां लेने से अथवा सट्टेवाली सिक्यूरिटियां खरीदने से बैंक को भी खतरा रहता है तथा उनके ग्राहकों का बैंक में विश्वास डिग जाता है।

(३) **आय**—विनियोग से पर्याप्त आय भी मिलना आवश्यक है। अतः बैंक को सिक्यूरिटियां लेने से पहिले यह देख लेना चाहिए कि उनसे होने वाली आय यथेष्ट हो और स्थायी हो।

(४) **विक्रय-क्षमता**—ऐसी सिक्यूरिटियां खरीदनी चाहिए जो आवश्यकता पड़ने पर सरलतापूर्वक एवं बिना हानि के बेची जा सकें।

ऋण एवं अग्रिम—इस प्रकार के ऋण बैंक प्रायः व्यवसायियों और उद्योगियों को स्वीकृत करते हैं। इस प्रकार के ऋणों में उतनी तरलता एवं सुरक्षा नहीं होती जितनी अन्य विनियोगों में होती है। ये ऋण इस शर्त पर दिए जाते हैं कि ऋणी उनका भुगतान मांग करने पर कर दे। इस प्रकार के ऋणों का विस्तृत ब्यौरा पिछले पृष्ठों में दिया जा चुका है। संदर्भ के लिए यहां इतना लिखना पर्याप्त होगा कि अग्रिम तथा ऋण देने में बैंक को राशि की सुरक्षा व तरलता, अधिकाधिक आय तथा भुगतान की अवधि का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

बैंक दो प्रकार के ऋण स्वीकृत करता है—(१) जमानती ऋण, (२) गैर-जमानती ऋण। जमानती ऋण भू-गृहादि की साख पर अथवा सिक्यूरिटियों की साख पर दिए जाते हैं। गैर-जमानती ऋण ऋण-याचक की वैयक्तिक साख पर दिए जाते हैं—उनके लिए किसी प्रकार की अन्य जमानत रखने की आवश्यकता नहीं होती। जमानती ऋणों पर गैर-जमानती ऋणों की अपेक्षा कम ब्याज लिया जाता है क्योंकि उनके डूबने की संभावना कम रहती है और यदि कभी ऐसा समय भी आ जाय तो बैंक उस जमानत को बेचकर राशि प्राप्त कर सकता है। गैर-जमानती ऋण या तो ऋण-याचक द्वारा लिखे गए प्रण-पत्र के आधार पर दिये जाते हैं या ऋण-याचक के प्रण-पत्र पर किसी अन्य व्यक्ति के हस्ताक्षर कराके उसकी गारंटी पर दिये जाते हैं। ऋण-याचक की वैयक्तिक साख पर ऋण देने की प्रथा हमारे देश में नहीं है, यहां अधिकांश ऋण जमानत पर—भू-गृहादि की साख पर या सिक्यूरिटियों की साख पर—दिये जाते हैं। गैर-जमानती ऋण दो प्रकार से दिए जाते हैं—(१) नकद साख के रूप में, (२) अधिविकर्ष के रूप में। इन दोनों का विशद वर्णन साख-सृजन के क्रम में किया जा चुका है। यहां केवल इतना लिखना पर्याप्त होगा कि हमारे देश में बैंक विशेषतः नकद साख के रूप में ऋण स्वीकृत करते हैं। अन्य ऋण सिक्यूरिटियों की साख पर दिए जाते हैं। भारतीय बैंक जो ऋण देते हैं वे गारंटी के बिना या ठोस जमानत के बिना नहीं देते और कभी-कभी तो वे व्यापारिक माल, सोना-चांदी अथवा अधिकार पत्र (Documents of title) अपने पास रखकर ऋण देते हैं। कहने का अर्थ यह है कि भारतीय बैंक ठोस जमानत, साख या गारंटी लिए बिना ऋण स्वीकृत नहीं करते।

सारांश

(१) राशि के लेन-देन में बैंक साख का सृजन करते और 'साख के सृजनकर्त्ता' कहे जाते हैं।" साख का सृजन बैंक की तीन क्रियाओं में

सन्निहित होता है—जमा, कटौती तथा निर्गमन। बैंक प्रायः ग्राहकों से नकद राशि प्राप्त करके अपना जमा बनाते हैं। कभी-कभी बैंक नकद राशि न लेकर ग्राहक से चेक, बिलादि प्राप्त कर लेते हैं और फिर उनकी राशि संग्रहित करके ग्राहक के लेखे में जमा करके जमा प्राप्त करते हैं। इस प्रकार जो जमा-राशि बैंक को प्राप्त होती है उसे मूल-जमा (Primary Deposit) कहते हैं। बैंक किसी व्यक्ति या संस्था को ऋण स्वीकृत करके ऋण-याचक का लेखा खोलकर उसमें राशि जमा कर लेते और ऋण-याचक को अधिकार दे देते हैं कि वह अपनी आवश्यकतानुसार चेक लिखकर ऋण-राशि निकालता रहे। इस प्रकार एक ओर बैंक ऋण देते और दूसरी ओर उसे जमा के रूप में प्राप्त कर लेते हैं। अतः कहा जाता है कि "ऋण जमा को जन्म देते हैं।" इस प्रकार की जमा को 'सृजित जमा' (Created Deposit) कहते हैं।

(२) साख-सृजन की मर्यादाएं इस प्रकार हैं—(१) बैंक द्वारा रक्खा जाने वाला नकद कोष; (२) केन्द्रीय बैंक के पास जमा बैंकों का कोष; (३) धातु-कोष: (४) ऋण-याचकों की साख; (५) सामान्य आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियां।

(३) ऋण स्वीकृत करने से पहिले बैंक अपने कोष में कुछ नकद राशि बचाकर रख लेता है जिससे समय आने पर उसके द्वारा जमाकर्त्ताओं की मांग पूरी करता रहे। इस नकद राशि को नकद कोष (Cash Reserve) कहते हैं। नकद कोष बैंक अपने पास रखते तथा केन्द्रीय बैंक में भी जमा कर देते हैं। यह कोष बैंक की साख बनाए रखने में सहायक होता है। नकद-कोष कितना रक्खा जाय यह बात इन तत्वों पर निर्भर करती है—(१) वैधानिक आवश्यकता; (२) जमा-कर्त्ताओं की औसत जमा-राशि; (३) लोगों की बैंकिंग आदत; (४) ग्राहकों की सामान्य प्रकृति; (५) स्थानीय प्रथा; (६) मुद्रा-मण्डी की व्यवस्था: (७) समाशोधन-गृह की सुविधा; (८) व्यापारिक परिस्थितियां, (९) बैंक-व्यवस्थापकों की दूरदर्शिता।

(४) बैंक अपने पास जमा-राशि को विनियोग करके व्याज कमाता

है और उस ब्याज में से कुछ भाग जमाकर्ताओं को, उनकी जमा-राशि पर, ब्याज-स्वरूप देकर शेष लाभ अपने पास बचा लेता है। बैंक की विनियोग नीति की कोई निश्चित कसौटी निर्धारित नहीं की जा सकती। फिर भी प्रत्येक बैंक को अपनी विनियोग नीति निर्धारित करते समय कुछ तत्त्वों का अवश्य विचार रखना चाहिए। ये तत्त्व इस प्रकार हैं—(१) तरलता; (२) सुरक्षा; (३) आय; (४) विकेन्द्रीकरण. (५) जमानतों का समुचित निरीक्षण; (६) केन्द्रीय बैंक की विनियोग नीति का अध्ययन।

(५) बैंक के विनियोग दो प्रकार के होते हैं—(१) लाभप्रद विनियोग; (२) लाभ-रहित विनियोग। व्यवसाय-सचालन के लिए भू-गृहादि वस्तुएं खरीदने में तथा नकद-कोष मे जो राशि लगाई जाय उसे लाभरहित विनियोग समझना चाहिए। लाभप्रद विनियोग प्रायः चार प्रकार से किया जाता है—(१) अल्पकालीन ऋण देकर, (२) बिलों का क्रय करके एवं कटौती करके, (३) विनियोग-पत्र तथा अन्य सिक्यूरिटियां क्रय करके, (४) अग्रिम तथा ऋण देकर।

प्रश्न

१—नकद साख, अधिविकर्ष, ऋण तथा अग्रिम क्या होती हैं? इससे बैंकर तथा ग्राहक को क्या लाभ होता है? (यू० पी०, १९५२)

२—बैंक अपने साधारण व्यवसाय मे किन-किन विभिन्न रीतियो से साख निर्माण करता है? (यू० पी०, १९५१. १९५०)

३—नकद साख और अधिविकर्ष का भेद बताइए। उनके अपने-अपने गुण दोष भी लिखिए। (यू० पी०, १९४८)

४—बैंक साख का सृजन किस प्रकार करते हैं? इस विषय में इसकी क्या मर्यादाएं होती हैं? (राज०, १९५३)

५—बैंक 'नकद-कोप' अपने पास क्यों रखते हैं? नकद-कोप की राशि वे किस प्रकार निर्धारित करते हैं? (राज०, १९५१)

६—"बैंक साख का लेन-देन करते हैं"—इस कथन की विवेचना कीजिए। (राज०, १९५०)

७—"ऋण जमा के जन्मदाता होते हैं"—इस कथन की व्याख्या कीजिए। (राज० १९४६, १९४७)

८—बैंक अपनी राशि का किस प्रकार विनियोग करते हैं?
(यू० पी० १९५१, १९५०, १९४३; राज० १९५२, १९५०, १९४८, १९४६; म० भा० १९५०)

९—बैंक को अपनी राशि का विनियोग करते समय किन-किन बातों की सावधानी रखनी चाहिए? (यू० पी०, १९४५)

१०—बैंक किन-किन जमानतों पर अपनी राशि देते हैं? प्रत्येक के गुण दोषों पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९४४)

अध्याय २१

बैंक का स्थिति-विवरण

(Balance Sheet of a Bank)

भारतीय कम्पनी विधान १६१३ एवं भारतीय बैंकिंग कम्पनी विधान १६४६ के अनुसार प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को वर्ष के अन्त मे अपनी सम्पूर्ण देनदारी एवं लेनदारी का एक संक्षिप्त ब्यौरा जनता की, विशेषतः अपने ग्राहकों व अंशधारियों की, सूचनार्थ प्रकाशित कराना अनिवार्य होता है। देनदारी और लेनदारी के इस ब्योरे को स्थिति-विवरण कहते हैं। यह स्थिति-विवरण बैंक का निर्धारित वैधानिक रीति से तैयार करके प्रकाशित करना होता है। इसमें स्पष्ट रूप से सूचना दी जाती है कि उस तिथि पर, जब कि वह विवरण तैयार किया जा रहा है बैंक की सम्पत्ति कितनी है और उसमें क्या-क्या वस्तुएं सम्मिलित हैं, बैंक को कितना लेना है और कितना देना है तथा बैंक के पास कितने कोष हैं तथा कितनी नकद राशि है। स्थिति विवरण प्रकाशित होने से बैंक के अंशधारियो, ऋणदाताओं, जमाकर्त्ताओं, लेनदारों तथा कर्मचारियों—सभी को बैंक की वास्तविक आर्थिक स्थिति के विषय मे जानकारी मिल जाती है। स्थिति-विवरण में सामान्यतः कौन कौन बातें सम्मिलित होती हैं, यह पृष्ठ ३४-३५ मे दिखाया गया है।

यहाँ बैंक के स्थिति-विवरण का एक सामान्य और काल्पनिक स्वरूप दिया गया है। विधान के अनुसार स्थिति-विवरण प्रायः इसी भांति तैयार किए गए हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सब बैंकों के स्थिति-विवरण ठीक इसी प्रकार तैयार किए जाते हों—बैंक की अपनी विशेष परिस्थिति के अनुसार उसमें आवश्यक फेर-बदल और घटा-बढ़ी की जा सकती है।

स्पष्ट है कि स्थिति-विवरण के दो भाग होते हैं—(१) पूंजी तथा देनदारी का भाग, जिसमें बैंक की पूंजी का क्रमिक वर्णन तथा बैंक की सम्पूर्ण देनदारी का ब्यौरा होता है, (२) सम्पत्ति तथा लेनदारी का भाग, जिसमें बैंक की चल और अचल सम्पत्ति तथा स्वीकृति किए गए ऋणों तथा अन्य लेनदारी का ब्यौरा होता है। अब हम स्थिति-विवरण के दोनों भागों की समुचित व्याख्या करेंगे।

बैंकिंग कम्पनी बनते समय उसकी पूंजी अंशः बेचकर प्राप्त की जाती है। जो लोग इन अंशों को खरीदते हैं वे बैंक के अंशधारी कहे जाते हैं। 'अधिकृत पूंजी' की मात्रा कम्पनी के चार्टर अर्थात् मेमोरेण्डम ऑव एसोसिएशन द्वारा निर्धारित की जाती है। इस पूंजी का कुछ भाग आवश्यकतानुसार जनता को खरीदने के लिए निर्गमित कर दिया जाता है, इसे 'निर्गमित पूंजी' कहते हैं। निर्गमित अंशों में से जनता जितने अंश खरीदे अथवा खरीदने के लिए आवेदन करे उस भाग को 'प्रार्थित पूंजी' कहते हैं। प्रार्थित पूंजी का जितना भाग वास्तव में चुकता किया जाय उसे 'दत्त पूंजी' कहते हैं। अधिकृत पूंजी के विषय में बैंक पर किसी प्रकार का वैधानिक प्रतिबन्ध नहीं होता। हां, कुछ देशों में अधिकृत पूंजी, निर्गमित पूंजी, प्रार्थित पूंजी तथा दत्त पूंजी के पारस्परिक अनुपात के विषय में कुछ वैधानिक प्रतिबन्ध अवश्य हैं जो बैंक को निबाहना आवश्यक होता है। भारतीय बैंकिंग कम्पनी कानून १६४६ की धारा १२ के अनुसार प्रत्येक बैंक को अपनी अधिकृत पूंजी का कम से कम ५०% प्रार्थित पूंजी तथा प्रार्थित पूंजी का कम से कम ५०% दत्त पूंजी रखना अनिवार्य है। इसका उद्देश्य यह है कि बैंक आरम्भ में आवश्यक पूंजी अंश बेचकर ही प्राप्त कर ले।

संचित कोष बैंक के लाभ में से प्रतिवर्ष एक निश्चित राशि अलग रखकर बनाया जाता है। यह कोष अज्ञात हानि की पूर्ति में अथवा समायोजन में काम आता है। जैसे-जैसे प्रतिवर्ष यह कोष बढ़ता जाता है

स्थिति-विवरण का

पूंजी तथा देनदारी	रुपये
अधिकृत पूंजी	
....अंश .. रुपये प्रति अंश	
निर्गमित एवं प्रार्थित पूंजी	
....अंश.. ..रुपये प्रति अंश	
दत्त पूंजी	
.....अंश.... रुपये प्रति अंश	२०,००,०००
संचित कोष	७,७०,०००
विनियोग संचित कोष	१,००,०००
स्थिर लेखों पर जमा	४०,००,०००
चल एवं बचत लेखों पर जमा	३८,००,०००
ऋण (ग्राहकों की जमानतों को पुनः जमानत में रख कर प्राप्त)	१२,००,०००
साख-पत्रों एवं अज्ञात देनदारी के लिए व्यवस्था	१,७०,०००
ग्राहकों के नाम पर बिलों की स्वीकृति एवं उन पर देनदारी	६,५०,०००
घोषित पर अयोचित लाभांश	२०,१००
लाभालाभ-लेखा (लाभ)	२,०६,६००
योग	१,२६,२०,०००

काल्पनिक विवरण

सम्पत्ति तथा लेनदारी		रुपये
हस्तस्थ नकद राशि	५,००,०००	
बैंकों में जमा नकद राशि	१३,००,०००	१८,००,०००
विनियोग (बाजार-भाव लगाकर)		१०५०,०००
नकद-साख एवं अधिविकर्ष	२८,००,०००	
स्थानीय बिलों की कटौती	१८,००,०००	
ऋण	४६,००,०००	९२,००,०००
उक्त लेनदारी का विवरण जो कम्पनी विधान १९१३ के अनुसार देना आवश्यक है :—		
(१) उत्तम माने जाने वाले ऋण जिनकी राशि पूर्णरूपेण जमानत द्वारा सुरक्षित है	५२,००,०००	
(२) उत्तम माने जानेवाले ऋण जो एक या अधिक पक्षों की वैयक्तिक जमानत पर दिए गए हैं	३४,३०,०००	
(३) सन्देहात्मक ऋण	५,७०,०००	
(४) अशोध्य समझे जानेवाले ऋण	...	
	९२,००,०००	
ग्राहकों के नाम पर बिलों की स्वीकृति पर उनसे लेनदारी		६,५०,०००
फर्नीचर आदि		४०,०००
मुद्रादि		१,७०,०००
स्टेशनरी, कागज-पत्रादि		१०,०००
	योग	१,२६,२०,०००

तैसे-ही-तैसे बैंक की कार्यशील पूंजी भी बढ़ती जाती है। यह कोष अंशधारियों का माना जाता है और उन्हीं के हित में प्रयोग होता है। कोष की राशि जितनी अधिक होगी उतनी ही ठोस बैंक की स्थिति समझी जाती है। कोष कभी-कभी अंशधारियों को 'अतिरिक्त लाभांश' बांटने के काम में भी लाया जाता है। कोष बनाकर रखना प्रत्येक देश में विधान द्वारा अनिवार्य बना दिया गया है। भारतीय बैंकिंग कम्पनी कानून, १६४६ की धारा १७ के अनुसार संचित कोष की राशि दत्त पूंजी के बराबर होना अनिवार्य कर दिया गया है और जब तक ऐसा न हो जाय तब तक बैंक को प्रतिवर्ष अपने अवितरित लाभ का २०% भाग कोष में अलग रखना होता है।

संचित कोष के अतिरिक्त बैंक किसी विशिष्ट उद्देश्य से विशिष्ट प्रकार का कोष बना सकता है पर उसका पूर्ण विवरण स्थिति-विवरण में देना आवश्यक है। विशिष्ट प्रकार के कोष केवल उसी काम में प्रयोग किए जाते हैं जिन कामों के लिए वे बनाये जाते हैं। कभी-कभी बैंक के संचालक गुप्त कोष भी बनाकर रखते हैं पर वे स्थिति-विवरण में नहीं दिखाए जाते।

सचित कोष तथा अन्य विशिष्ट प्रकार के कोषों के पश्चात् जमा-राशि का ब्यौरा होता है। बैंक तीन प्रकार से जमा प्राप्त करता है—(१) स्थिर लेखे पर, (२) चल लेखे पर, तथा (३) बचत लेखे पर। स्थिर लेखों पर जो राशि जमा होती है वह एक निश्चत अवधि के लिए होती है तथा चल और बचत लेखों की जमा-राशि समय-समय पर निकाली जा सकती है। इस जमा-राशि से बैंक को कार्यशील पूजी प्राप्त होती है तथा इसी राशि को वे विनियोग के काम में लाते हैं।

कभी-कभी बैंक अपने ग्राहकों की ओर से बिलों की स्वीकृति करते हैं—इसका ब्यौरा भी उन्हें अपने स्थिति-विवरण में दिखाना होता है। ग्राहकों की ओर से स्वीकृति देकर बैंक अपने ऊपर उन बिलों के भुगतान

का दायित्व लेते हैं अतः उस राशि को बैंक की देनदारी में दिखाया जाता है। यद्यपि स्वीकृति देकर बैंक अपनी देनदारी बढ़ा लेते हैं पर वास्तव में वह राशि उन्हें अपने ग्राहकों से, जिनकी ओर से उन्होंने बिलों की स्वीकृति की है, प्राप्त होनी होती है। अतः उस राशि का दूसरा व्यौरा बैंक अपने स्थिति-विवरण की सम्पत्ति और लेनदारी की ओर भी दिखाते हैं।

लाभांश की वह राशि जो बैंक ने अपने अंशधारियों के नाम घोषित तो कर दी हो पर जिसका भुगतान न हुआ हो, बैंक की देनदारी होती है अतः देनदारी पक्ष की ओर दिखाई जाती है। लाभालाभ-लेखे के अन्तर्गत जो लाभ निकाला जाता है वह भी बैंक की अपने अंशधारियों के लिए देनदारी होती है; अतः देनदारी पक्ष में दिखाया जाता है।

अंश-पूंजी तथा जमा-राशि का बैंक ने किस प्रकार प्रयोग किया है और सम्पत्ति तथा विनियोग की दृष्टि से बैंक की क्या स्थिति है—इसका व्यौरा स्थिति-विवरण के दूसरी ओर अर्थात् सम्पत्ति और लेनदारी की ओर दिखाया जाता है। सम्पत्ति और लेनदारी का क्रम स्थिति-विवरण में तरलता की दृष्टि से होता है। इस दृष्टि से सबसे पहिले वह नकद-राशि दिखाई जाती है जो बैंक के पास तिजोरी में होती है और फिर बैंक की जो राशि केन्द्रीय बैंक तथा अन्य बैंकों में हो, वह दिखाई जाती है। कभी-कभी बैंक अपनी राशि अन्य बैंक में जमा करते हैं—और केंद्रीय बैंक में तो उन्हें विधान के अनुसार कुछ राशि जमा करनी होती ही है—यह सब राशि समय पड़ने पर निकाली जा सकती है। अतः यह उतनी ही तरल होती है जितनी हस्तस्थ राशि।

बैंक के अपने जितने विनियोग होते हैं वे बाजार-दर पर स्थिति-विवरण में लिखे जाते हैं। विनियोगों में सरकारी सिक्यूरिटियाँ, अर्द्ध सरकारी सिक्यूरिटियाँ, कम्पनियों के अंशों तथा ऋण-पत्रों का समावेश होता है। ये सब सिक्यूरिटियाँ अंकित-मूल्य पर न दिखाकर बाजार-मूल्य पर दिखाई जाती हैं ताकि वास्तविक स्थिति का ज्ञान किया जा सके।

स्थिति-विवरण में बैंक द्वारा दिए गए ऋणों का ब्योरा विस्तारपूर्वक दिखाया जाता है। बैंक प्रायः तीन प्रकार के ऋण देता है—(१) नकद-साख एवं अधिविकर्ष द्वारा, (२) बिलों की कटौती करके, (३) जमानती ऋण देकर। इन सब प्रकार के ऋणों की पूरी-पूरी राशि अलग-अलग ब्योरेवार दिखाई जाती है। इतना ही नहीं, यह भी दिखाना अनिवार्य होता है कि कितनी राशि के ऋण जमानत द्वारा सुरक्षित हैं, कितने ऋण वैयक्तिक जमानत पर दिए गए हैं, कितनी ऋण-राशि संदेहात्मक है और कितने अशोध्य ऋण हैं। इस ब्योरे के अन्तर्गत प्राधि, बन्धक तथा गारन्टी आदि सभी प्रकार के ऋण आ जाते हैं। बिलों की कटौती करके जो ऋण दिए जाते हैं वे अलग ब्योरेवार दिखाए जाते हैं।

ग्राहकों की ओर से बैंक जिन बिलों का स्वीकृति करता है उनकी राशि बैंक को अपने ग्राहकों से मिलनी होती है अतः यह बैंक की लेनदारी है। इसे लेनदारी के पक्ष में ऋणों के पश्चात् लिखा जाता है। इसकी एक सम-प्रविष्टि देनदारी की ओर भी की जाती है (जिसका वर्णन पीछे किया जा चुका है)।

अन्त में, भूगृहादि व फर्नीचर आदि लिखे जाते हैं। ये पद सबसे अन्त में इसलिए लिखे जाते हैं क्योंकि यह सम्पत्ति सबसे कम होती है। ये बैंक की अचल सम्पत्ति समझी जाती है और इनका मूल्य वास्तविक मूल्य में से अवक्षयण घटाकर लगाया जाता है। कभी-कभी अचल सम्पत्ति में से अवक्षयण की राशि न घटाकर अवक्षयण-कोष विवरण में देनदारी की ओर दिखाया जाता है।

बैंक के स्थिति-विवरण के प्रकाशन से बैंक के अंशधारियों, ऋणदाताओं जमाकर्त्ताओं, देनदारों, लेनदारों तथा कर्मचारियों—सभी को अपने-अपने हितों की सूचना प्राप्त हो जाती है। अंशधारियों को ज्ञात हो जाता है कि लाभांश गिर रहे हैं अथवा बढ़ रहे हैं। वे संचित कोष की राशि को देखकर बैंक की आर्थिक स्थिति का ज्ञान कर सकते हैं और अपनी पूंजी

की वास्तविक स्थिति जान सकते हैं। ऋणदाताओं तथा लेनदारों को अपने ऋण की सुरक्षा का ज्ञान होता है। वे जान लेते हैं कि सम्पत्ति और देनदारी का संतुलन है या नहीं, उनके ऋण बैंक में सुरक्षित हैं या नहीं और समय पर उनका भुगतान हो सकेगा या नहीं। जमाकर्त्ताओं को ज्ञात हो जाता है कि उनकी राशि जो बैंक में जमा है, किस प्रकार विनियोग की गई है; उन्हें मांगने पर राशि मिल सकेगी या नहीं; जमा-राशि के अनुपात में नकद-कोष कितना है आदि-आदि। बैंक के कर्मचारी बैंक के लाभालाभ को देखकर अपनी आने वाली स्थिति का अनुमान लगा सकते हैं। बैंक का व्यवसाय बढ़ रहा है या घट रहा है और उससे उनके वेतन तथा बोनस पर क्या प्रभाव पड़ेगा—यह सब बातें कर्मचारियों को स्थिति-विवरण से ज्ञात हो सकती हैं। सम्पत्ति का तरलता, जमा-राशि की सुरक्षा, लाभ-वितरण करने की शक्ति, व्यापार की प्रगति, नकद-कोष तथा देनदारी का अनुपात, हस्तस्थ नकद-राशि, विनियोग-नीति आदि बातें स्थिति-विवरण से स्पष्ट हो जाती हैं। सामान्य जनता को भी बैंक के व्यवसाय का अनुमान हो जाता है और वे बैंक में राशि जमा करने तथा अन्य लेन-देन के विषय में निर्णय करने का निश्चय बनाने लगते हैं।

प्रश्न

१—बैंक का एक काल्पनिक स्थिति-विवरण बनाइए और उसके विभिन्न पदों को समझाइए। (यू०पी०, १९५३, १९४८, १९४४; राज०, १९५२, १९४८, १९४६; म०भा०, १९५१, १९५०, १९४९)

२—बैंक में स्थिति-विवरण में लिखे जानेवाले चार पदों की व्याख्या कीजिए। (राज०, १९४९)

अध्याय २२

केन्द्रीय बैंक व उसकी क्रियाएँ

(Central Bank and its Functions)

'केन्द्रीय बैंक' वह बैंकिंग संस्था है जो देश की मौद्रिक एवं साख-व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध करते हुए उनमें पारस्परिक समुचित सम्बन्ध प्रस्थापित करती तथा इस प्रकार देशी और अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यतत्त्वों में स्थिरता एवं स्थायित्व बनाए रखती है। केन्द्रीय बैंक देश के विभिन्न बैंकों में पारस्परिक सहयोग बनाकर देश की बैंकिंग व्यवस्था को संगठित एवं सुरक्षित बनाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि केन्द्रीय बैंक देश के सम्पूर्ण मौद्रिक कलेवर पर नियंत्रण रखते हुए अपनी नीति द्वारा देश के हित में कार्य करता है और इसी कारण इसे देश के मौद्रिक एवं बैंकिंग कलेवर का एक मुख्य और महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। अपने उद्देश्य एवं दायित्व को निभाने के लिए केन्द्रीय बैंक को अन्य सामान्य बैंकों की अपेक्षा कुछ विशेषाधिकार दिए जाते हैं, जैसे देश की नोट-व्यवस्था को निर्गमन तथा संचालन करने का एकाधिकार, सरकार के मौद्रिक कार्यों का संचालन एवं उनकी देख-भाल, देश के अन्य बैंकों पर नियंत्रण तथा उनके संचित कोषों को वैधानिक अनुपात में अपने पास जमा रखने का अधिकार, आदि। केन्द्रीय बैंक के विषय में जानने योग्य सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस बैंक का उद्देश्य अन्य सामान्य बैंकों की भांति लाभ कमाना नहीं होता वरन् देश के हित में काम करना होता है। सेयर्स लिखता है कि "केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य लाभ कमाना नहीं वरन् जनता और देश के हित में कार्य करना है—व्यापारिक बैंकों पर इसका नियंत्रण उनके साथ स्पर्धा अथवा प्रतियोगिता करने के लिए नहीं दिया जाता वरन् उनके साथ सहयोग

करने उन्हें सुरक्षित रखने व उनका विकास करने के लिए दिया जाता है।"
केन्द्रीय बैंक अपने विशेषाधिकारों का कहीं दुरुपयोग न कर बैठे इसलिए उस पर कुछ नियंत्रण भी रखना आवश्यक होता है। देश-देश की केन्द्रीय सरकारें केन्द्रीय बैंकों के क्रिया-कलापों पर परोक्ष नियंत्रण रखती रही हैं और अब तो अनेक देशों में केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण ही हो गया है। राष्ट्रीयकरण होने से ये बैंक केन्द्रीय सरकार के स्वामित्व एवं संचालन में आकर उनके विभाग ही बन चुके हैं। हमारे देश के केन्द्रीय बैंक—रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया—का भी राष्ट्रीयकरण हो चुका है।

केन्द्रीय बैंक की क्रियाएं

(१) **नोट-निर्गमन एवं संचालन का एकाधिकार**—केन्द्रीय बैंक को पत्र-मुद्रा चलाने तथा उसका प्रबन्ध-संचालन करने का एकाधिकार होता है जिससे वह देश के व्यापार एवं उद्योगों की आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा घटा-बढ़ा सके। नोट-निर्गमन का एकाधिकार मिलने से केन्द्रीय बैंक को देश की साख-व्यवस्था का ठीक-ठीक नियंत्रण करने में सुविधा होती है क्योंकि जनहित में मुद्रा एवं साख का घनिष्ठ सम्बन्ध होने से उनका संचालन-नियंत्रण तभी प्रभावशाली हो सकता है जब कि मुद्रा और साख का अधिकार एक ही संस्था को सौंप दिया जाय। केन्द्रीय बैंक इस अधिकार के द्वारा साख-संचलन करके देश के मूल्यों में स्थिरता एवं स्थायित्व बनाकर रखता है और देशी तथा अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यस्तरों में आवश्यक समायोजन उत्पन्न करता रहता है जिससे व्यापार की प्रगति हो और आयात-निर्यात का समुचित आवागमन बना रहे। नोट-निर्गमन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक की प्रमुख क्रिया मानी जाती है। यह एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को कई कारणों से दिया जाता है—(१) इससे देश की नोट-व्यवस्था में सादृश्यता आ जाती है; (२) एकाधिकार मिलने से केन्द्रीय बैंक देश के व्यापार-उद्योग तथा अन्य आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा का प्रसार एवं संकोच कर सकता है और इस प्रकार देश की मौद्रिक व्यवस्था

मे लोच उत्पन्न की जा सकती है, (३) इससे केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैंकों की साख-सृजन की शक्ति पर नियंत्रण करने का सुयोग्य प्राप्त हो जाता है; (४) जनविश्वास के दृष्टिकोण से नोट-व्यवस्था में सुरक्षा आ जाती है; (५) एकाधिकार मिलने से केन्द्रीय बैंक की शक्ति और सम्मान बढ़ जाते हैं जिससे उसे अन्य बैंकों पर नियन्त्रण रखने में सुविधा होती है।

(२) **बैंकों का बैंक**—जो सुख-सुविधाएं देश के सामान्य बैंक जनता को देते हैं वही सुख-सुविधाएं केन्द्रीय बैंक अन्य सामान्य बैंकों को देता है। अतः इस प्रकार केन्द्रीय बैंक देश में बैंक के बैंक के रूप में काम करता है। केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के साथ प्रतियोगिता नहीं करता वरन् उनकी राशि जमा करता एवं समय पड़ने पर उनको उधार देकर उनकी सहायता करता है। बैंक अपने सदस्य-बैंकों को राशि के स्थानान्तरण की सुविधा देता है तथा उन्हें उनके साख-पत्रों की कटौती तथा पुनः कटौती की सुविधाएं देकर सिक्यूरिटियों पर ऋण भी स्वीकृत करता है। जब बैंकों को किसी भी स्रोत से ऋण नहीं मिलता तो वे केन्द्रीय बैंक से राशि उधार लेते हैं—इस दृष्टि से केन्द्रीय बैंक को "अन्तिम ऋणदाता" (Lender of the last resort) कहा जाता है। देश के बैंक अपनी-अपनी माग और काल-देनदारी का कुछ भाग केन्द्रीय बैंक के पास जमा रखते हैं जिससे केन्द्रीय बैंक का उन पर नियंत्रण बना रहे और उस जमा-राशि मे से वह किसी सकट-काल में बैंकों की सहायता कर सके। व्यापारिक बैंक अपनी माग और काल-देनदारी का जो भाग केन्द्रीय बैंक के पास जमा रखते हैं वह विधान द्वारा निश्चित किया जाता है और विधान द्वारा ही उसमे फेर-बदल की जा सकती है। इस भाति बैंकिंग जगत् में व्यापारिक बैंकों के संचित कोषों का केन्द्रीय बैंक के पास केन्द्रीकरण हो जाता है इस प्रकार के केन्द्रीकरण से कई लाभ होते हैं—(१) केन्द्रित कोष विशाल साख-व्यवस्था का सुदृढ़ आधार बन जाता है। जब सचित कोष अनेक बैंकों के पास बिखरे रहते हैं तो उनका पूर्ण तथा सामूहिक उपयोग करना सम्भव नहीं होता पर जब उन्हें केन्द्रीय बैंक में जमा करके एक साथ

इकट्ठा कर दिया जाता है तो संकटकाल में देश के व्यापार और उद्योग के हितों में उनका पूर्ण और प्रभावकारी प्रयोग किया जा सकता है; (२) इस केन्द्रित कोष में से केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के साख-पत्रों की कटौती करके अथवा उन्हें ऋण स्वीकृत करके उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करता है जिससे कभी-कभी तो कोई-कोई बैंक डूबने से बच जाता है; (३) केन्द्रित कोष केन्द्रीय बैंक को नियंत्रण-शक्ति प्रदान करता है—व्यापारिक बैंकों के साख-सृजन तथा ऋण-नीति पर नियंत्रण करने के लिए केन्द्रित कोष केन्द्रीय बैंक के हाथ में एक सुदृढ़ बागडोर के समान होता है। (हाल ही मे केन्द्रीय बैंकों ने व्यापारिक बैंको के संचित कोषों के अनुपात घटा-बढ़ाकर साख-प्रसार एवं साख-संकोच पर पूर्ण नियंत्रण करने के सफल प्रयोग किए हैं।)

(३) **सरकार का बैंकर, एजेंट तथा परामर्शदाता**—केन्द्रीय बैंक केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारों के लिए बैंकर, एजेंट तथा अर्थ-नीतिक परामर्शदाता के रूप मे भी काम करता है। बैंकर की हैसियत से बैंक सरकार के लिए उन सभी कामों को करता है जो एक व्यापारिक बैंक अपने ग्राहकों के लिए करता है। सरकार की ओर से सरकारी कोषों की व्यवस्था करना, सरकार के लेखे पर भुगतान करना तथा राशि जमा करना तथा सरकार को अन्य मौद्रिक सुविधाएं देना इस बैंक का काम होता है। समय पड़ने पर सरकार केन्द्रीय बैंक मे राशि उधार भी लेती है। सरकार द्वारा जो ऋण-पत्र तथा कोष-पत्र बेचे जाते हैं उनका निर्गमन तथा भुगतान केन्द्रीय बैंक के द्वारा किया जाता है—इस प्रकार बैंक-सरकार के एजेंट के रूप मे काम करता है। सरकार के लेखे पर कर-वसूली, सरकारी व्याज का भुगतान तथा लेन-देन और सरकार की ओर से होने-वाले विदेशी मौद्रिक व्यवहार केन्द्रीय बैंक के द्वारा ही होते हैं। बैंक सरकार के जन-ऋण का प्रबन्ध करता है तथा सरकार के निमित्त विदेशों में भी ऋण उठाने का भार लेता है। इसके अतिरिक्त बैंक समय-समय पर

परामर्शदाता के रूप में भी काम करता है। देशी और विदेशी वित्तीय मामलों पर सरकारें केन्द्रीय बैंक से सलाह लेती हैं।

(४) साख-नियन्त्रण—केन्द्रीय बैंक, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, देश की व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार तथा सरकार की मौद्रिक नीति के अनुकूल साख का नियन्त्रण करता है। वास्तव में यह कार्य अन्य कार्यों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है। शॉ लिखता है—"केन्द्रीय बैंक का वास्तविक और सबसे महत्वपूर्ण कार्य देश में साख-नियन्त्रण का होता है।" यदि सच पूछा जाय तो केन्द्रीय बैंक की स्थापना मूलभूत ध्येय साख का समुचित प्रबन्ध एवं नियन्त्रण करना होता है। साख-नियन्त्रण के द्वारा बैंक देश के मूल्य-स्तरों में स्थिरता एवं स्थायित्व पैदा करता है तथा देशी और विदेशी मूल्य स्तरों में आवश्यक समायोजन करके उन्हें समानता में बनाए रखने की चेष्टा करता है। इस उद्देश्य के लिए केन्द्रीय बैंक कई उपायों से काम लेता है जैसे बैंक-दर, खुला बाजार-क्रियाएं, कोषानुपात में परिवर्तन आदि-आदि। इनका विस्तृत वर्णन अगले पृष्ठों में किया गया है।

(५) विदेशी विनिमय का प्रबन्ध—विदेशी विनिमय-दर में स्थिरता एवं स्थायित्व रखने का दायित्व भी केन्द्रीय बैंक का होता है। बैंक को विदेशी विनिमय-दर निश्चित करने तथा देशी और विदेशी मुद्राओं का पारस्परिक क्रय-विक्रय करने का एकाधिकार मिला होता है। विदेशी मुद्राओं का कोष इसी बैंक के पास जमा रहता है और इसी के द्वारा उनका लेन-देन किया जाता है। संक्षेप में यह समझना चाहिए कि मौद्रिक इकाई का आन्तरिक एवं वाह्य मूल्य स्थिर एवं स्थायी बनाने का काम केन्द्रीय बैंक का होता है।

(६) समाशोधन-गृह का कार्य—केन्द्रीय बैंक देश के अन्य बैंकों के लिए 'समाशोधन-गृह' का काम करता है जिससे उन्हें पारस्परिक भुगतान लेने-देने की आवश्यकता न हो और इसकी सहायता से ही उनमें आपस के भुगतान निपट जायं। बैंकों का अनुभव है कि अन्य बैंकों के पास

उनके ऊपर के जो चेक आदि होते हैं उनकी राशि उन चेक आदि की राशि के बराबर होती है जो उनके पास दूसरे बैंकों की होती है। हो सकता है कि दिन-प्रति-दिन के हिसाब में कुछ थोड़ा-बहुत अन्तर हो। अतः दिन-प्रति-दिन के हिसाब का निपटारा उनके जो लेखे केन्द्रीय बैंक में होते हैं, उन्हीं में जमा-खर्च करके कर दिया जाता है। इससे प्रत्येक बैंक को एक दूसरे से भुगतान लेने-देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। यह क्रम बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है। स्प्रेग के कथनानुसार इसका प्रारम्भ सन् १८५४ में हुआ जब कि बैंक ऑव इंगलैण्ड ने इसका रास्ता दिखाया। समाशोधन गृह का काम केन्द्रीय बैंक के समाशोधन-विभाग द्वारा किया जाता है। (समाशोधन गृह का विस्तृत अध्ययन अगले अध्याय में किया गया है।)

(७) सरकार की मौद्रिक नीति को सफल बनाने का कार्य—उक्त क्रियाओं के द्वारा केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य केन्द्रीय सरकार की मौद्रिक नीति को सफल बनाना होता है। बैंक का दायित्व होता है कि वह अपने कार्यों द्वारा सरकारी नीति को सफल बनाने में सदैव प्रयत्नशील रहे। बैंक-दर के द्वारा साख-नियन्त्रण करना तथा देश के विभिन्न बैंकों की सहायता, देख भाल तथा नियन्त्रण करना केन्द्रीय बैंक का एक मुख्य कार्य होता है।

उक्त सभी कार्य केन्द्रीय बैंक के हैं, परन्तु यह कहना कि कौन सा कार्य अधिक आवश्यक है, कठिन बात है। भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों ने इस बात को भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाया है। स्प्रेग के अनुसार केन्द्रीय बैंक के कार्यों का उल्लेख तीन प्रकार से किया जा सकता है—केन्द्रीय बैंक सरकार के अर्थ-एजेंट होते हैं, उन्हें नोट-निर्गमन का एकाधिकार अथवा विशेषाधिकार मिलने से उनके पास मौद्रिक नियन्त्रण की बड़ी भारी शक्ति होती है और अन्त में, उनके पास बैंकों के कोष जमा होने के कारण वे साख के सम्पूर्ण कलेवर के आधार-स्तम्भ होते हैं और यही कार्य उनका महत्त्व-पूर्ण कार्य होता है।" हिल्टन-यंग कमीशन के सामने गवाही देते समय बैंक ऑव इंगलैण्ड के गवर्नर ने केन्द्रीय बैंक के कार्य इस प्रकार वर्णित

किए थे—"केन्द्रीय बैंक को नोट-निर्गमन का एकाधिकार होना चाहिए, यही नहीं वरन् कानूनी मुद्रा को चलाने व संचालन करने का एकमात्र अधिकार इसी बैंक को मिलना चाहिए। सरकारी कोषों का सधारक भी यही होना चाहिए तथा देश की बैंकों के कोष भी उसी के पास जमा रहने चाहिए। केन्द्रीय बैंक सरकार का ऐसा एजेंट हो जिसके द्वारा सरकार की देशी और विदेशी आर्थिक क्रियाएं सम्पन्न की जा सकें। आन्तरिक तथा वाह्य मूल्य-स्तर में स्थिरता एवं स्थायित्व बनाए रखने के लिए मुद्रा का प्रसार एवं संकोच करने का अधिकार भी केन्द्रीय बैंक को मिला होना चाहिए। वही एक ऐसा स्रोत होना चाहिए जहां से आवश्यकता होने पर सरकारी सिक्यूरिटियों तथा अन्य मान्य सिक्यूरिटियों पर ऋण प्राप्त किए जा सकें तथा मान्य बिलों की कटौती कराकर संकटकालीन साख प्राप्त की जा सके।"

उक्त कथनों से भी यह बात स्पष्ट नहीं होती कि केन्द्रीय बैंक की प्रमुख क्रिया कौन सी है? मुद्राशास्त्रियों ने तो इस विषय में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए हैं। हाट्रे का कहना है कि "केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य आवश्यकता के समय बैंकों को राशि उधार देना है—विशेषतः ऐसी परिस्थिति में जबकि इनको सहायता का और कोई मार्ग न मिले।" हैरा स्मिथ ने लिखा है कि "केन्द्रीय बैंक की प्रधान क्रिया नोट-निर्गमन करना है और अन्य सभी क्रियाएं गौण हैं जो उसके साथ-साथ स्वतः ही आ जाती हैं।" शॉ का मत है कि केन्द्रीय बैंक की एक ही क्रिया है जो सबसे अधिक आवश्यक है और वह यह कि "बैंक देश में साख-व्यवस्था का संगठन करके देश की मौद्रिक आवश्यकताएं पूर्ण करता रहे।" किश तथा एल्किन ने लिखा है कि केन्द्रीय बैंक का काम मुद्रा के आन्तरिक तथा वाह्य मूल्य में स्थायित्व पैदा करना होता है और इसी के लिए उसे साख-नियंत्रण की आवश्यकता होती है। जानसी ने बताया है कि "केन्द्रीय बैंक वह बैंक है जो देश में अन्य बैंकों व मौद्रिक संस्थाओं में समाशोधन-गृह का काम करे।" बैंक फार इन्टरनेशनल सैटिलमैंट की नियमावली में व्यक्त किया गया है कि

"केन्द्रीय बैंक वह बैंक है जो देश में मुद्रा और साख का संगठन तथा नियंत्रण करता है।" इस प्रकार केन्द्रीय बैंक के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। परन्तु चूंकि बहुत से देशों के केन्द्रीय बैंक देश के अन्य बैंकों की सञ्चित-राशि अपने पास जमा रखते हैं इसलिए यह जान पड़ता है कि केन्द्रीय बैंक 'बैंकों का बैंक' अवश्य होता है। फिर भी किसी एक क्रिया को ही केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य कहना संगत नहीं जान पड़ता। यह भी कहना सम्भव नहीं हो सकता कि अमुक क्रिया प्रधान है और अमुक गौण, क्योंकि एक क्रिया दूसरी क्रिया पर आश्रित होती है। डी कॉक का कथन है कि केन्द्रीय बैंक को किसी भी उक्त क्रिया को करने के लिए हर समय तत्पर रहना चाहिए पर सिद्धान्त यह होना चाहिए कि जो कोई भी काम वह करे उसे जनता और राष्ट्र के हित में करे, अपने लाभ की दृष्टि से नहीं। एक बात और है। केन्द्रीय बैंक को वे काम अधिक सीमा में नहीं करने चाहिए जिन्हें देश के अन्य बैंक करते हों अन्यथा उनमें पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा और प्रतियोगिता बढ़ जाने का भय रहता है। जहां तक संभव हो वहां तक उसे प्रतियोगिता को प्रोत्साहित करनेवाला कोई काम नहीं करना चाहिए। केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य प्रतियोगिता करना नहीं वरन् सहायता करना होता है। उसे अन्य बैंकों का संरक्षक और हितैषी बनकर कार्य करना चाहिए। यदि कभी बैंक को अपना उद्देश्य सफल बनाने के लिए जनता से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना पड़े तो अवश्य करना चाहिए।

केन्द्रीय बैंक की निषिद्ध क्रियाएं—देश के बैंकिंग कलेवर में केन्द्रीय बैंक का विशेष स्थान होने के कारण केन्द्रीय बैंक को जहां कुछ विशेषाधिकार मिले होते हैं वहां उसके क्रिया-कलापों पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगाए जाते हैं। ये प्रतिबन्ध इस प्रकार के होते हैं—सामान्यतः केन्द्रीय बैंक का लेन-देन देश के मुख्य-मुख्य व्यापारिक बैंकों के साथ ही होता है, केन्द्रीय बैंक व्यापारियों और व्यवसायियों के साथ सीधा लेन-देन नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि केन्द्रीय बैंक 'बैंकों का बैंक' होने के कारण अन्य

बैंकों के साथ प्रतिस्पर्द्धा या प्रतियोगिता नहीं करता। यदि वह ऐसा करता भी है तो वह अपने सदस्य बैंकों में विश्वास नहीं जमा सकता। अतः सामान्यतः वह जनता से सीधा सम्पर्क नहीं रखता है। दूसरे, केन्द्रीय बैंक न तो जनता से राशि जमा करता है और न जमा-राशि पर कोई व्याज ही देता है। केन्द्रीय बैंक अधिक दीर्घकाल के लिए राशि उधार भी नहीं देता। यह प्रायः तीन, छः, नौ व अठारह महीने की अवधि के लिए राशि उधार देता है। बैंक अपनी पूंजी स्थिर सम्पत्ति खरीदने में विनियोग नहीं कर सकता।

केन्द्रीय बैंक को प्रभावशाली बनाने के लिए यह आवश्यक होता है कि उसको प्रचुर मात्रा में साधन दिए जाय तथा साथ-साथ कुछ वैधानिक अधिकार भी दे दिए जायं; देश के अन्य बैंकों को केन्द्रीय बैंक के नियंत्रण में रक्खा जाय और उन्हें आदेश दिया जाय कि वे केन्द्रीय बैंक की आज्ञानुसार समस्त प्रकार की सूचनाएं समय-समय पर उसको भेजते रहें। व्यापारिक बैंकों को चाहिए कि वे केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित मौद्रिक एवं साख-नीति में पूरा-पूरा सहयोग दें। देश के बैंकों तथा अन्य मौद्रिक एवं साख संस्थाओं के पूर्ण सहयोग द्वारा ही केन्द्रीय बैंक अपनी नीति में सफल हो सकता है अन्यथा नहीं। पिछले दिनों में इस विषय में काफी प्रगति हुई है। लगभग सभी देशों में केन्द्रीय बैंकों को वैधानिक अधिकार देकर स्वतन्त्र बना दिया गया है। व्यापारिक बैंक भी केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता का मूल्य समझकर उन्हें सहयोग देने लगे हैं। आजकल तो केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण होने के कारण इनकी महत्ता और भी अधिक बढ़ गई है। फिर भी इस बात की आवश्यकता है कि कोई ऐसी विधि निकाली जाय जिससे केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों में स्वतः ही मेल और सहयोग उत्पन्न हो और दोनों एक दूसरे के महत्व को पहिचान कर सहयोग से काम करते रहें। हमारे देश में बैंकिंग कम्पनी कानून १९४९ के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को अन्य बैंकों पर नियन्त्रण रखने के लिए अनेक अधिकार दे दिए गए हैं। वास्तव में रिजर्व बैंक अब देश के अन्य बैंकों का

संचालक, नियंत्रक, पालक तथा 'हेडमास्टर' बन गया है। (विस्तृत विवरण के लिए आगे रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया पढ़िए।)

केन्द्रीय बैंक एवं साख-नियंत्रण

बताया जा चुका है कि साख-नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक का एक [illegible] और महत्वपूर्ण कार्य होता है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बैंक को नोट निर्गमन का एकाधिकार मिला होता है। शॉ नामक प्रसिद्ध मुद्राशास्त्री ने तो यहां तक लिखा है कि केन्द्रीय बैंक की एक क्रिया सबसे अधिक आवश्यक है और वह है देश की साख-व्यवस्था का संगठन करते हुए देश की मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहना। अतः हमें देखना चाहिए कि साख-नियन्त्रण है क्या ? और केन्द्रीय बैंक किस प्रकार साख-नियन्त्रण करता है ?

साख नियंत्रण का अर्थ—देश में व्यापारिक एवं औद्योगिक आवश्यकताओं के अनुकूल साख की मात्रा समायोजित करते रहना 'साख-नियंत्रण' कहलाता है।[१] मूल्यस्तर-नियमन के लिए यह आवश्यक है कि देश में साख की मात्रा व्यापार की आवश्यकताओं के अनुकूल अनुपात में हो। यदि किसी समय व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुकूल साख का समायोजन नहीं हुआ तो मूल्यस्तर या तो गिरते हैं और या बढ़ने लगते हैं। इससे व्यापार एवं उत्पादन में विषमता होने का भय रहता है। यदि कभी मुद्रा-मण्डी में साख की मात्रा उसकी आवश्यकता से अधिक रही तो मूल्यस्तर बढ़ने लगते हैं और यदि साख की मात्रा आवश्यकता से कम रह गई तो मूल्यस्तर गिरने लगते हैं जिससे उत्पादन में विषमता हो जाने का भय रहता है। कहने का अर्थ यह है कि उक्त दोनों परिस्थितियां व्यापार और उत्पादन के लिए घातक होती हैं। अतः देश

---

[१] "The credit control......is a thorough adjustment of the volume of credit to the volume of business"

के हित में यह आवश्यक होता है कि केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा व्यापार की आवश्यकताओं के अनुकूल घटा-बढ़ाकर समायोजित करता रहे। इस समायोजन-क्रिया को 'साख-नियंत्रण' की संज्ञा दी गई है। साख के समुचित नियंत्रण से देश में मूल्यस्तर संतुलन में बने रहते हैं तथा व्यापार का क्रम भी बना रहता है। साख-नियंत्रण करने में केन्द्रीय बैंक को दृढ़ता और तत्परता से कार्य करने की आवश्यकता होती है और तब उसे 'मुद्रा-मण्डी का हिटलर' बनकर काम करना होता है। साख-नियंत्रण वैसे तो देश के अन्तर्गत मूल्यस्तर-नियमन करके व्यापार और उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए किया जाता है पर फिर भी इसके कई उद्देश्य होते हैं—जैसे, विदेशी विनियम-दर को स्थिर एवं स्थायी बनाना, उत्पादन-क्रियाओं को प्रोत्साहित करके देश में रोजगारी बढ़ाना, देश के सोने को बाहर जाने से रोकना, आयात-निर्यात को आवश्यकतानुसार प्रोत्साहित करना आदि।

केन्द्रीय बैंक द्वारा सफलतापूर्वक साख-नियंत्रण के लिए यह आवश्यक है कि देश के अन्तर्गत काम करनेवाली सब मौद्रिक एवं साख-संस्थाओं पर केन्द्रीय बैंक का अधिकार एवं नियंत्रण हो। वास्तव में देखा जाय तो केन्द्रीय बैंक देश की अनेक साख-संस्थाओं जैसे बैंकों द्वारा साख-नियंत्रण करता है और यदि उन संस्थाओं पर उसका प्रभावकारी नियंत्रण न रहा तो साख-नियंत्रण आवश्यक मात्रा में नहीं हो सकता। अतः साख-नियंत्रण का दायित्व संभालने से पूर्व केन्द्रीय बैंक को चाहिए कि वह देश के अनेक मौद्रिक एवं साख-संस्थाओं पर अपना प्रभावशाली अधिकार जमा ले। हमारे देश में रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया को साख-नियंत्रण करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह रही है कि उसका देश के अनेक बैंकों तथा स्वदेशी बैंकरों और सहूकारों पर कोई प्रभाव और अधिकार नहीं रहा। १९४९ में बैंकिंग कम्पनी एक्ट बन जाने से देश के व्यापारिक बैंकों पर रिजर्व बैंक का कुछ अधिकार आया है पर स्वदेशी बैंकर तथा साहूकार अभी बिलकुल अछूते हैं। अतः रिजर्व बैंक को

सफलतापूर्वक साख-नियंत्रण करने के लिए इन संस्थाओं पर भी अपना अधिकार जमा लेना चाहिए।

साख-नियंत्रण के साधन—केन्द्रीय बैंक साख-नियंत्रण करने में कई उपाय काम में लाता है। ये उपाय इस प्रकार हैं :—

(१) **बैंक-दर**—जिस दर पर केन्द्रीय बैंक अन्य व्यापारिक बैंको के बिलों की कटौती करता है तथा उन्हें सिक्युरिटियों के आधार पर ऋण देता है उस दर को बैंक-दर कहते हैं। इस दर को केन्द्रीय बैंक की कटौती-दर भी कहते हैं। बैंक अपनी इस दर में आवश्यकतानुसार फेर-बदल करके साख-नियंत्रण कर सकता है। बैंक-दर बाजारू-दर से भिन्न होती है। बाजारू-दर उस दर को कहते हैं जिस पर अन्य मौद्रिक संस्थाएं विनियम-बिलों की कटौती करती हैं या ऋण स्वीकृत करती हैं। बैंक-दर तथा बाजारू-दर का घनिष्ट सम्बन्ध होना आवश्यक है और तभी सफलतापूर्वक साख-नियंत्रण हो सकता है। जब बैंक-दर बढ़ती है तो उस समय बाजारू दर भी बढ़ जाती है और जिस समय बैंक-दर गिरे तब बाजारू दर भी गिरने लगती है। बैंक दर में घटा-बढ़ी होने से मुद्रा-मण्डी में मुद्रा की माग और प्रदाय पर प्रभाव पड़ता है। यदि कभी बैंक-दर बढ़ा दी जाय तो बाजारू-दर भी बढ़ने लगती है और फिर व्यापारी तथा अन्य लोग कम ऋण लेने लगते हैं—इतना ही नहीं, वे अपनी-अपनी राशि अधिक ब्याज कमाने के उद्देश्य से बैंकों में जमा करने लगते हैं। इससे मुद्रा-मण्डी में मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है और उसी मात्रा में साख संकुचित हो जाती है। इसके विपरीत यदि कभी बैंक-दर घटा दी जाय तो बाजारू-दर भी कम होने लगती है और फिर व्यापारी तथा अन्य लोग सस्ती ब्याज दर से लाभ उठाने के लिए अधिक राशि उधार लेने लगते हैं। इससे मुद्रा-मण्डी में मुद्रा का परिमाण बढ़ जाता है और उसी अनुपात में साख का विस्तार बढ़ने लगता है। बैंक-दर द्वारा साख-संकुचन तथा साख-विस्तार में देश के आन्तरिक मूल्यान्तर पर भी प्रभाव

होता है। साख-संकुचन के समय व्यापारिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों में शिथिलता आ जाती है और मूल्यस्तर गिरने लगता है तथा साख-विस्तार के समय व्यापारिक एवं औद्योगिक कार्यों को प्रोत्साहन मिलता है और मूल्यस्तर बढ़ने लगता है। व्यापारिक शिथिलता एवं व्यापारिक प्रगति के साथ-साथ रोजगारी पर भी प्रभाव पड़ता है। अतः कहा जा सकता है कि बैंक-दर द्वारा साख-नियंत्रण करके देश के आन्तरिक मूल्यस्तर, उत्पादन-क्रियाओं एवं रोजगार के साधनों को प्रभावित किया जा सकता है। (विस्तृत विवरण आगे देखिए।)

(२) **खुला-बाजार क्रियाएं***—केन्द्रीय बैंक बाजार में सिक्यूरिटियों का क्रय-विक्रय करके मुद्रा-मण्डी में मुद्रा की मात्रा घटा-बढ़ा सकता है और इस प्रकार साख-संकुचन एवं साख-विस्तार कर सकता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा सिक्यूरिटियों के इस क्रय-विक्रय को "केन्द्रीय बैंक की खुला-बाजार क्रियाएं" कहते हैं। केन्द्रीय बैंक की खुला-बाजार क्रियाएं साख-नियंत्रण का एक प्रभावशाली उपाय मानी जाती हैं। जिस समय मुद्रा-मण्डी में मुद्रा की मात्रा आवश्यकता से अधिक होती है तो बैंक सिक्यूरिटियां बेचता है जिसके बदले में उसे धनराशि प्राप्त होती है और बाजार में ऋण-प्रदायक राशि कम हो जाती है। फलतः साख का संकोच हो जाता है और मुद्रा की मात्रा आवश्यकताओं के अनुपात में आ जाती है। इसी प्रकार जब मुद्रा-मण्डी में राशि की आवश्यकता होती है तो बैंक सिक्यूरिटियाँ खरीदता है और बदले में धन राशि दे देता है जिससे मुद्रा-मंडी में मुद्रा की मात्रा बढ़कर साख का विस्तार हो जाता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक सिक्यूरिटियों के क्रय-विक्रय द्वारा (खुला-बाजार क्रियाओं द्वारा) मुद्रा की मात्रा व्यापार एवं उद्योगों की आवश्यकतानुसार घटा-बढ़ा कर साख-नियंत्रण करता है। इससे देश के मूल्यस्तर, उत्पादन एवं उत्पादन-व्यय, व्यापार तथा रोजगार में प्रभावशाली फेर-बदल की जा सकती है।

---

* Open Market Operations.

साख-नियन्त्रण का यह उपाय प्रथम महायुद्ध के पश्चात् से प्रयोग में आने लगा है। इससे पूर्व साख-नियन्त्रण का एकमात्र उपाय बैंक-दर था। यह साधन प्रायः उस समय काम में लाया जाता है जब बैंक दर प्रभावी रूप में सफल नहीं हो पाती। बैंक-दर द्वारा परोक्ष रीति से साख-नियन्त्रण किया जाता है पर इस साधन के द्वारा केन्द्रीय बैंक प्रत्यक्ष रीति से मुद्रा की मात्रा घटा-बढ़ा सकता है। यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि यह साधन सरल, प्रत्यक्ष और सूक्ष्म साधन है पर यह तभी सफल हो सकता है जब कि—(१) उन सिक्यूरिटियों के लिए, जिनमें केन्द्रीय बैंक लेन-देन करता है, विस्तृत क्षेत्र हो और क्रय-विक्रय की सुविधाएं हों; (२) उन सिक्यूरिटियों का, जिनमें केन्द्रीय बैंक लेन-देन करे, सिक्यूरिटी बाजार में महत्वपूर्ण स्थान हो ताकि उनके क्रय-विक्रय द्वारा मुद्रा-मंडी प्रभावित हो सके; (३) जिस मंडी में इन सिक्यूरिटियों का क्रय-विक्रय हो, वह मंडी संगठित एवं कार्यक्षम हो। यदि इन तीन बातों में से किसी भी एक की कमी रही तो बैंक की खुला-बाजार क्रियाओं का मुद्रा-मंडी पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा और न वांछित सीमा में साख-नियन्त्रण ही हो सकेगा।

जिस समय मुद्रा-मंडी में आवश्यकता से अधिक राशि हो और वह राशि विनियोग के लिए देश से बाहर जा रही हो तो बैंक सिक्यूरिटियां बेचकर मुद्रा-राशि चलन से खींच लेता है और अपने पास जमा कर लेता है। इस तरह देश का धन बाहर जाने से रुक जाता है। बैंक ऐसा तभी करता है जब कि मुद्रा-मंडी में मुद्रा की अधिकता होने से मुद्रा-राशि बाहर जा रही हो।

हमारे देश में बैंक-दर अधिक प्रभावी न होने के कारण रिजर्व बैंक 'खुला-बाजार क्रियाओं' द्वारा मुद्रा की मात्रा घटाता-बढ़ाता रहा है। चूंकि आजकल सरकारी सिक्यूरिटियों का लेन-देन अधिक बढ़ गया है, इसलिए 'खुला-बाजार क्रियाएं' साख-नियन्त्रण का अधिक साधन बनती जा रही हैं। बैंक-दर का प्रभाव घटने से भी इन क्रियाओं का क्षेत्र बहुत अधिक

बढ़ गया है। एक समय था जब कहते थे कि बैंक-दर खुला-बाजार क्रियाओं से अधिक प्रभावशाली साधन है—A Twist in Bank-Rate is a ton of Market Operations—पर आज सभी मानते हैं कि खुला-बाजार क्रियाओं का महत्व बढ़ गया है और बढ़ता जा रहा है। इसका कारण यह है कि आजकल सिक्यूरिटियों का लेन-देन और क्रय-विक्रय बहुत अधिक बढ़ गया है। डी० काक नामक मुद्राशास्त्री का कथन है कि साख नियन्त्रण को सफल और प्रभावशाली बनाने के लिए बैंक दर और 'खुला-बाजार क्रियाएं'—दोनों साधन साथ साथ प्रयोग करने चाहिए।

(२) कोषानुपात में परिवर्तन—व्यापारिक बैंकों को अपनी-अपनी माग-देनदारी और काल-देनदारी का कुछ भाग एक निश्चित अनुपात में केन्द्रीय बैंक के पास जमा रखना होता है। यह अनुपात विधान द्वारा निश्चित किया जाता है पर केन्द्रीय बैंक को इसमें फेर-बदल करने का अधिकार दिया जा सकता है। इस अधिकार के अन्तर्गत कोषानुपात में परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक साख-नियन्त्रण कर सकता है। जब साख-संकुचन करने की आवश्यकता हो तो बैंक अन्य बैंकों द्वारा जमा राशि के अनुपात में वृद्धि करके बैंकों से अधिक राशि जमा करा सकता है। इससे अन्य बैंकों के पास नकद राशि कम हो जाती है और उनकी साख देने की शक्ति भी घट जाती है। इसके विपरीत जब साख-विस्तार की आवश्यकता हो तो केन्द्रीय बैंक इस अनुपात को कम करके अन्य बैंकों की नकद राशि बढ़ा देता है जिससे उनकी साख-सृजन की शक्ति बढ़ जाती है और साख का विस्तार हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि बैंक 'क' को केन्द्रीय बैंक के पास १० प्रतिशत वैधानिक कोष रखना पड़े तो वह प्रति सौ रुपये की देनदारी में से ९० रुपये साख स्वीकृत करने में लगा सकता है। यदि केन्द्रीय बैंक अनुपात १० प्रतिशत से बढ़ाकर ५० प्रतिशत कर दे तो उस स्थिति में बैंक 'क' केवल ५० रुपये ही साख स्वीकृत करने में प्रयोग कर सकेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि बैंक 'क' की साख-शक्ति

कम हो गई और साख का संकुचन हो गया। इसके विपरीत यदि केन्द्रीय बैंक अनुपात १० प्रतिशत से घटाकर ५ प्रतिशत कर दे तो इस स्थिति में बैंक 'क' ६५ रुपये ऋण देने में प्रयोग कर सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि साख का विस्तार हो गया।

इस साधन का सुझाव प्रो० कीन्स ने दिया था। उनकी इच्छा थी कि बैंक ऑव इंगलैण्ड को माग-देनदारी के लिए नकद-कोष के अनुपात को १० प्रतिशत से २० प्रतिशत के बीच तथा काल-देनदारी के लिए नकद-कोष के अनुपात को ० से ६ प्रतिशत के बीच परिवर्तन करने का अधिकार होना चाहिए। सर्वप्रथम संयुक्त राष्ट्र अमरीका में इस साधन का प्रयोग किया गया। फेडरल रिजर्व बोर्ड को सदस्य बैंकों के कोषानुपात में परिवर्तन करने का अधिकार १९३३ के कानून द्वारा दिया गया था। न्यूजीलैण्ड में १९३६ में रिजर्व बैंक के गवर्नर को व्यापारिक बैंकों के नकद-कोषों के अनुपात को घटाने-बढ़ाने का अधिकार दिया गया। लेटिन अमरीका के केन्द्रीय बैंकों जैसे मेक्सिको, कोस्टारिका तथा एक्वेडॉर को भी कोषानुपात में परिवर्तन करने का अधिकार मिला हुआ है। हमारे देश में इस प्रकार का अधिकार अभी रिजर्व बैंक को प्राप्त नहीं है। बैंकिंग कम्पनी कानून १९४९ के अनुसार व्यापारिक बैंकों को अपनी मांग-देनदारी तथा काल-देनदारी का क्रमशः ५ प्रतिशत और २ प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास जमा रखना होता है। इसमें परिवर्तन करने का अधिकार रिजर्व बैंक को मिलना चाहिए ताकि कोषानुपात में परिवर्तन करके यह साख-नियंत्रित कर सके।

बैंक-दर तथा खुला-बाजार क्रियाओं की तुलना में यह साधन अधिक सरल माना जाता है। उक्त दोनों साधनों को प्रभावी बनाने के लिए सुसंगठित बिल-बाजार, मुद्रा-मण्डी तथा सिक्यूरिटी-बाजार का होना अत्यन्त आवश्यक है पर इस नए अस्त्र के लिए किसी प्रकार के उपरोक्त बाजारों का होना आवश्यक नहीं है। यह साधन उन देशों के लिए बहुत उत्तम है जहां संगठित मुद्रा-मण्डी तथा पूंजी-बाजार के अभाव में खुला-बाजार

क्रियाओं' का क्षेत्र नहीं है। कई विशेषज्ञों ने बताया है कि नवीन उपनिवेशों के लिए यह नवीन साधन बहुत उपयुक्त सिद्ध हो सकता है। सेयर्स, पलम्पटर तथा अन्य मुद्राशास्त्रियों का मत है कि जिन देशों में केन्द्रीय बैंकों को 'खुला-बाजार क्रियाएँ' सम्पन्न करने में कठिनाई होती है, उन देशों में यह साधन बहुत ही प्रभावकारी तथा कारगर शास्त्र सिद्ध हो सकता है। ह्विटलसे का कहना है कि 'खुला-बाजार क्रियाएं' तथा कोषानुपात में परिवर्तन—इन दोनों साधनों को अलग-अलग और स्वतन्त्र रूप से नहीं वरन् संयुक्त रूप से प्रयोग करना चाहिए। जिस समय कोषानुपात बढ़ाया जाय तो उस समय 'खुला-बाजार क्रिया' की क्रय-नीति भी अपनाई जा सकती है। इसका कारण यह है—बढ़े हुए कोषानुपात को निभाने के लिए व्यापारिक बैंक अपने पास की सिक्यूरिटिया बेचना आरम्भ कर सकते हैं। उस समय सिक्यूरिटियों के मूल्यों में कमी होने की आशंका हो सकती है। अतः इस कमी को रोकने के लिए केन्द्रीय बैंक को खुले बाजार में इन सिक्यूरिटियों को खरीदते रहना चाहिए।

(४) **साख का राशन**—केन्द्रीय बैंक साख-नियंत्रण करने के लिए साख का 'राशन' कर देता है। इसका अर्थ यह है कि केन्द्रीय बैंक प्रत्येक व्यापारिक बैंक अथवा अन्य मौद्रिक संस्थाओं को प्रतिदिन कितनी राशि उधार देगा इसकी सीमा निश्चित कर देता है और जब किसी दिन इस सीमा से अधिक राशि के बिल कटौती को आ जाते हैं या ऋण मांगे जाते हैं तो निश्चित सीमा से राशि स्वीकार करके आधिक्य राशि स्वीकार नहीं करता। परिणामस्वरूप बैंकों की ऋण-प्रदायक राशि कम हो जाती है जिससे साख में भी कमी होने लगती है। कभी-कभी केन्द्रीय बैंक प्रत्येक व्यापारिक बैंक को स्वीकृत की जानेवाली राशि की सीमा घटाकर कम कर देता है या उनके द्वारा प्रस्तुत विनिमय-बिलों की अवधि घटाकर कम कर देता है। इन दोनों प्रकार से साख का राशन हो जाता है। प्रथम विधि में स्वीकृत की जानेवाली राशि कम कर दी जाती है और दूसरी विधि से स्वीकृत की गई राशि की अवधि कम कर दी जाती है। प्रथम

युद्ध-काल के पश्चात् जर्मनी में साख-नियंत्रण के इस साधन का प्रयोग किया गया था। अन्य योरपीय देशों ने भी इस उपाय द्वारा साख-नियंत्रण करने के सफल प्रयोग किए हैं पर वहां इसको केवल अस्थायी रूप से ही प्रयोग किया गया है। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में जब-जब आर्थिक संकट आया तभी-तभी इस साधन को काम में लाकर साख नियंत्रण किया गया। द्वितीय युद्ध-काल मे अनेक देशों जैसे इंगलैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, अफ्रीका में यह साधन अपनाया गया था। इसका सबसे बड़ा अवगुण यह है कि इसको केवल नियंत्रित आर्थिक व्यवस्था में ही अपनाया जा सकता है।

(५) **प्रत्यक्ष कार्यवाही**—यदि केन्द्रीय बैंक उक्त साधनों द्वारा साख-नियंत्रण नहीं कर पाता तो उस समय वह अन्य बैंकों के साथ सीधी या प्रत्यक्ष कार्यवाही करता है। सीधी कार्यवाही के अन्तर्गत वह साख का विस्तार या संकोच करने के उद्देश्य से अन्य बैंकों को अधिक ऋण देने के लिए आदेश दे सकता है। अगर बैंक यह समझता है कि अमुक बैंक या अनेक बैंक देश के आर्थिक हितों के विरुद्ध सट्टे या अन्य अनावश्यक व्यवसायों में अधिक ऋण दे रहे हैं तो वह उन्हें आज्ञा निकालकर ऋण देने से रोक सकता है। बैंक अन्य बैंको को राशि उधार देने से इन्कार कर सकता है और उनके बिलों की कटौती करना भी बन्द कर सकता है। जब कभी कोई व्यापारिक बैंक देश के हित के विरुद्ध काम करता ही रहे तो उसके साथ असहयोग की नीति बरत कर उसको किसी भी प्रकार की सुविधाएं देना बन्द कर सकता है।

प्रत्यक्ष कार्यवाही करने के अधिकार प्रत्येक केन्द्रीय बैंक को विधान के अनुसार मिले होते हैं। भारतीय बैंकिंग कम्पनी एक्ट १९४९ के अनुसार रिजर्व बैंक को प्रत्यक्ष कार्यवाही करने के निम्न अधिकार दिए गए हैं :—

(क) यदि रिजर्व बैंक यह समझे कि किसी बैंक ने अपने जमाकर्ताओं के हित के विरुद्ध ऋण दिया है तो रिजर्व बैंक लिखित आदेश देकर

उस बैंक को ऋण देने से रोक सकता है और स्वीकृत किए गए ऋण की वसूली का आदेश दे सकता है। [धारा २० (२),

(ख) यदि रिजर्व बैंक जनसाधारण के हित में कोई ऋण-नीति निर्धारित करे तो वह नीति सभी बैंकों को अनिवार्य रूप से मानना आवश्यक है। इस विषय में रिजर्व बैंक निम्न आशय के आदेश दे सकता है— किन उद्देश्यों के लिए ऋण दिया जाय, ऋण देने में कितना मार्जिन रक्खा जाय, ऋण पर कितना ब्याज लिया जाय। [धारा २१(१),(२)]

(ग) यदि रिजर्व बैंक समझे कि किसी बैंक का व्यवसाय जमाकर्त्ताओं के हित में नहीं है तो वह उस बैंक को नई जमा-राशि प्राप्त करने से रोक सकता है [धारा ३५ (४)] या उस बैंक को बिलकुल बन्द करने का आदेश दे सकता है। [धारा ३८]

(६) नैतिक अनुरोध—केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों पर नैतिक दबाव डालकर भी साख नियमित करता है। इस क्रम में वह अन्य बैंकों तथा ऋण-प्रदायक संस्थाओं पर नैतिक अनुरोध द्वारा अपनी साख-नीति पालन करने के लिए उन्हें बाध्य करता है। केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों से अनुरोध करता है कि वे उससे ऋण लेने न आवें, जनता को अधिक ऋण स्वीकृत न करें अथवा अनावश्यक व्यवसायों तथा सट्टे में राशि न लगाए आदि-आदि। इसके लिए बैंक अपनी नैतिक शक्ति पर अधिक निर्भर रहता है। कभी-कभी बैंक अपने प्रतिनिधियों द्वारा अन्य बैंकों पर दबाव डलवाता है कि वे केन्द्रीय बैंक की साख-नीति के विरुद्ध काम न करें।

नैतिक अनुरोध का प्रभाव तभी पड़ सकता है जब केन्द्रीय बैंक तथा मुद्रा-मण्डी के सभी तत्वों अर्थात् बैंकों व अन्य अर्थनीतिक संस्थाओं में पारस्परिक सहयोग हो और चोली-दामन का सा सम्बन्ध हो। अमरीका में इस विषय में जो प्रयोग किए गए उनसे प्रकट होता है कि नैतिक अनुरोध के द्वारा साख-नियंत्रण करना सदैव सम्भव नहीं है।

(७) प्रसार एवं विज्ञापन—बहुत से देशों में केन्द्रीय बैंकों ने अपने

प्रचार विभाग द्वारा साख-नियंत्रण की नीति को सुदृढ़ और सफल बनाने की चेष्टा की है। प्रचार-विभाग के द्वारा केन्द्रीय बैंक अपनी नीति को देश के सभी बैंको तथा अन्य मौद्रिक संस्थाओं तक पहुंचा सकता है। समय-समय पर रिपोट, बुलेटिन, मैगजीन तथा विवरण-पत्र प्रकाशित किए जाते हैं जिनसे केन्द्रीय बैंक की साख-नीति को समझने व तदनुसार कार्य करने में बहुत सहायता मिलती है। फरवरी १६२६ में फेडरल रिजर्व बोर्ड द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट, जिसमें सिक्यूरिटियों के सट्टे में साख के दुरुपयोग के विरुद्ध चेतावनी दी गई थी, एक जीता जागता उदाहरण है।

रिजर्व बैंक ऑव इंडिया अपने प्रचार-विभाग द्वारा अपनी साख-नीति का विज्ञापन करता रहा है। मई १६४६ में रिजर्व बैंक ने स्टाक एक्सचेंज के सट्टे-व्यवसाय में अधिक ऋण न देने के लिए सभी बैंको को चेतावनी दी थी जिसमें १६२६-३१ में आई अमरीकन बैंकों की विपत्ति का स्मरण कराया गया था। यदि भारतीय बैंक इस चेतवानी पर ध्यान देते तो भारत में १६४६ का बैंकिंग संकट न आता। आजकल रिजर्व बैंक मासिक बुलेटिन द्वारा, वार्षिक रिपोर्ट द्वारा तथा अन्य आंकड़ों द्वारा अपनी नीति प्रकाशित करता रहता है।

सारांश

१—'केन्द्रीय बैंक' वह बैंकिंग संस्था है जो देश की मौद्रिक एवं साख-व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध करते हुए उनमें पारस्परिक समुचित सम्बन्ध स्थापित करती तथा इस प्रकार देशी और अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यस्तरों में स्थिरता एवं स्थायित्व बनाए रखती है। केन्द्रीय बैंक देश के विभिन्न बैंकों तथा अन्य ऋण-प्रदायक संस्थाओं में पारस्परिक सहयोग बनकर देश की बैंकिंग व्यवस्था को संगठित एवं सुरक्षित बनाता है। अपने उद्देश्य एवं दायित्व को निभाने के लिए केन्द्रीय बैंक को अन्य सामान्य बैंको की अपेक्षा कुछ विशेषाधिकार मिले होते हैं जैसे, नोट-निर्गमन करना, सरकार के मौद्रिक कार्यों की देखभाल एवं संचालन, देश के अन्य बैंकों पर नियंत्रण आदि।

केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य अन्य बैंकों की भांति लाभ कमाना नहीं होता, वरन् देश के हित में काम करना होता है।

(२) केन्द्रीय बैंक की क्रियाएं—(१) नोट-निर्गमन एवं संचालन का एकाधिकार (२) बैंकों का बैंक, (३) सरकार का बैंकर, एजेंट तथा परामर्शदाता, (४) साख-नियन्त्रण, (५) विदेशी विनिमय का प्रबन्ध, (६) समाशोधन-गृह का कार्य, (७) सरकार की मौद्रिक नीति का रक्षक। इन कार्यों में यह कहना कठिन है कि केन्द्रीय बैंक की प्रमुख क्रिया कौन सी है। विभिन्न मुद्राशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए हैं। कोई साख नियंत्रण को केन्द्रीय बैंक की प्रमुख क्रिया बतलाता है तो कोई नोट-निर्गमन को और कोई विदेशी विनिमय के प्रबन्ध को बैंक का मुख्य कर्तव्य बतलाता है तो कोई समाशोधन-गृह के कार्य को। इसी प्रकार विषय विवादग्रस्त बना हुआ है। वास्तव में प्रत्येक क्रिया केन्द्रीय बैंक की प्रमुख क्रिया है और प्रत्येक एक दूसरे पर आधारित है

(३) बैंक की निषिद्ध क्रियाएं—(१) केन्द्रीय बैंक जनता से सीधा सम्पर्क नहीं रख सकता, (२) बैंक पूंजी का विनियोग स्थिर सम्पत्ति क्रय करने में नहीं लगा सकता, (३) बैंक लोगों से राशि जमा नहीं ले सकता और जमा-राशि पर ब्याज नहीं दे सकता, (४) बैंक अधिक दीर्घ काल के लिए राशि उधार नहीं दे सकता। तात्पर्य यह है कि केन्द्रीय बैंक कोई ऐसा काम नहीं कर सकता जिसमें वह अन्य बैंकों का प्रतियोगी बन जाय।

(४) केन्द्रीय बैंक देश में साख-नियन्त्रण का काम करता है। देश में व्यापारिक एवं औद्योगिक आवश्यकताओं के अनुकूल साख की मात्रा समायोजित करना साख-नियन्त्रण कहलाता है। साख-नियन्त्रण करने के लिए बैंक निम्न साधनों का प्रयोग कर सकता है—(१) बैंक-दर में कमी-बेशी, (२) खुले बाजार में सिक्यूरिटियों का क्रय-विक्रय, (३) बैंकों द्वारा केन्द्रीय बैंक में जमा कोष में परिवर्तन, (४) साख का राशन, (५) प्रत्यक्ष

भत्र समाशोधन-गृहों की कार्य-प्रणाली एवं संचालन भिन्न-भिन्न प्रकार से होते हैं जिससे प्रकार-प्रकार के नियमों का पालन होता है। आवश्यकता इस बात की है कि रिजर्व बैंक समाशोधन-कार्य को अपने अधिकार में ले और तत्सम्बन्धी नियम बनाकर सब गृहों को एक सूत्र में बांध दे। तभी देश की बैंकिंग पद्धति में विकास हो सकता है।

सारांश

(१) 'समाशोधन-गृह' वह संस्था है जहां स्थानीय बैंकों के पारस्परिक लेन-देन का संतुलन होता है। टॉसिग का कथन है कि 'समाशोधन-गृह बैंकों का एक सामान्य संगठन होता है जिसका मुख्य कार्य चेकों द्वारा निर्मित पारस्परिक दायित्व का प्रतिसाद अथवा भुगतान करना होता है। इसकी कार्यशैली बड़ी सरल और साधारण होती है। प्रत्येक बैंक समाशोधन-गृह का सदस्य बनकर उसमें अपना लेखा खोलता है और उसका लेना-देना उसी लेखे द्वारा संतुलित होता रहता है।

(२) समाशोधन-गृहों से बैंक तथा जनता दोनों को लाभ होता है—(१) बैंकों का लेन-देन इसके द्वारा संतुलित हो जाता है—उन्हें पारस्परिक भुगतान लेन-देन की आवश्यकता नहीं होती, (२) मुद्रा के प्रयोग में मितव्ययता होती है, (३) चेकों का प्रयोग बढ़ता है, (४) बैंकों को अधिक मात्रा में राशि रखने की आवश्यकता नहीं होती।

(३) भारत में समाशोधन-गृह का आरम्भ १९२१ से समझना चाहिए जब इम्पीरियल बैंक बनने से इस पद्धति को एक आधार मिला। आज लगभग २५ समाशोधन-गृह देश में काम करते हैं पर इनके नियमन की आवश्यकता है। यह काम रिजर्व बैंक को अपने हाथ में लेना चाहिए।

प्रश्न

१—"बैंक समाशोधन-गृह" का क्या महत्त्व है? इसका काम किस प्रकार होता है? (यू० पी० १९५२, १९४८)

२—"बैंक समाशोधन-गृह" से होने वाले लाभों का वर्णन कीजिए। (यू० पी० १९४५)

अध्याय २४

भारतीय मुद्रा-मण्डी

(Indian Money Market)

प्राय: 'मुद्रा-मंडी' उस स्थान को कहते हैं जहां राशि उधार देनेवाले तथा उधार लेनेवाले मिलते हैं। यह वह मौद्रिक संगठन है जिसके द्वारा देश में पूंजी तथा साख की प्रदाय होती है। मुद्रा-मंडी की कुशलता इस बात से आंकी जाती है कि देश के व्यवसायियों को उनकी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूंजी पर्याप्त मात्रा में एवं उचित ब्याज-दर पर मिल जाती है अथवा नहीं। सुसंगठित मुद्रा-मण्डी में व्यवसायियों को आवश्यक साख प्राप्त होती रहनी चाहिए; संचित-राशि उन लोगों को मिलती रहनी चाहिए जो उसका महत्तम उपयोग कर सकें। "बैंक में जमा-राशि से जो लाभ एक व्यक्ति को मिलता है, वही लाभ देश की मुद्रा-मंडी से उसकी साख-व्यवस्था द्वारा समाज को होता है। दोनों से तत्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नकद राशि प्राप्त होती है।" इस दृष्टि से हम मुद्रा-मंडी को 'सामाजिक बैंक' भी कह सकते हैं। इसी कारण से बिल-बाजार, विनिमय-बाजार तथा विनियोग-बाजार का किसी देश की मुद्रा-मंडी में विशेष स्थान होता है। मुद्रा-मंडी में व्यवसायिक आवश्यकताओं के अनुकूल मुद्रा का प्रसार तथा संकुचन होता रहना चाहिए। मौद्रिक प्रणाली लोचदार होनी चाहिए। किसी देश की मुद्रा-मंडी का संगठन इस बात से आंका जा सकता है कि वहां के लोगों ने बैंकों के द्वारा लेन-देन करने की कितनी प्रथा है। मुद्रा-मंडी में विनियोग के पर्याप्त साधन उपलब्ध होने चाहिए जिससे लोग अपनी बचत को बैंकों में जमा कर सकें।

मुद्रा-मंडी की प्रमुख क्रिया समाज के भिन्न-भिन्न अंगों को यथोचित मात्रा में आवश्यक साख सुविधाएं प्राप्त कराना है। इसके द्वारा देश की धन-राशि ऐसे हाथों में पहुंचाई जाती है जो इसका अधिकाधिक प्रयोग कर सके तथा जिससे राष्ट्रीय सम्पत्ति में भी वृद्धि हो। मुद्रा-मंडी का यह भी कर्तव्य है कि वह देश की मुद्रा-पद्धति को इस प्रकार संचालित करे कि मुद्रा की क्रय-शक्ति में स्थायित्व आ जाय। यह बात विशेषतः पश्चिमी देशों में पाई जाती है जहां के बैंकों तथा अन्य साख-संस्थाओं पर केन्द्रीय बैंक का पूर्ण अधिकार है और बिलों की कटौती तथा पुनः कटौती की प्रथा पूर्ण रूप से प्रचलित है। भारत की मुद्रा-मंडी में यह एक बड़ा भारी दोष है जिसका विवेचन हम अगले पृष्ठों में करेंगे।

मुद्रा-मण्डी के विभिन्न अंग

भारतीय मुद्रा-मंडी को दो विशेष भागों में बांटा जा सकता है—(१) योरपीय तथा केन्द्रीय भाग—इस भाग के अंग रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया, इम्पीरियल बैंक ऑव इंडिया (अब स्टेट बैंक ऑव इंडिया) तथा विदेशी विनिमय बैंक हैं; (२) भारतीय अथवा स्थानीय भाग—इसमें साहूकार, स्वदेशी बैंकर, ऋण कार्यालय, निधि, संयुक्त स्कंध बैंक तथा सहकारी बैंक सम्मिलित हैं।

हमारे देश में 'भारतीय भाग' का विशेष स्थान है। इसी के अंगों से देश की अधिकांश आवश्यकताएं पूरी होती हैं। भारतीय मुद्रा-मंडी के इन दोनों भागों में समीपी सम्पर्क नहीं है। केन्द्रीय भाग को सदैव सरकार ने नियंत्रित किया और दूसरा भाग सदैव नियम और कानून से बाहर ही रहा। इसलिए देश की मुद्रा-मंडी सदैव दोषयुक्त रही और इस दोष के कारण इसकी तुलना पश्चिम की उन्नत मुद्रा-मंडियों से नहीं की जा सकती।

मुद्रा-मंडी में राशि उधार लेनेवाले हैं—(१) सरकार, जो समय-समय पर आवश्यकताओं के लिए जन-ऋण लेती है; (२) कृषक, जो समय आने

पर कृषि की आवश्यकताओं के लिए ऋण लेता है; (३) उद्योगी वर्ग; तथा (४) साधारण जनता, जो अपने निजी तथा सामाजिक आवश्यकताओं के लिए ऋण लेती है। रुपया उधार देनेवाले होते है—बैंक, साहूकार, स्वदेशी बैंकर आदि संस्थाएं।

भारतीय मुद्रा-मण्डी के दोष

भारतीय मुद्रा-मंडी का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अन्य मुद्रा-मडियों की अपेक्षा हमारी मुद्रा-मण्डी के कुछ विशेष दोष हैं जो इस प्रकार हैं :—

(१) **अस्त-व्यस्त कलेवर**—मुद्रा-मंडी के अनेक अग हैं जिनमें पारस्परिक सहयोग तथा संगठन नहीं है। सहकारी बैंकों का स्वदेशी बैंकरों से कोई सम्बन्ध नहीं तथा व्यापारिक बैंक सहकारी बैंको को अपना प्रतियोगी मानने लगे हैं। स्वदेशी बैंकर नियमबद्ध नहीं, न वे रिजर्व बैंक से कोई सम्बन्ध रखते हैं और न उनका देश के अन्य बैंकों से ही कोई विशेष सम्बन्ध है।

(२) **राशि का अभाव**—मंडी में आवश्यकता के अनुकूल पर्याप्त धन-राशि भी नहीं जिससे सभी की माग पूरी की जा सके। साख-व्यवस्था का सचालन करने के लिए ऐसी संगठित संस्थाएं भी देश में नहीं हैं जो देश की साख-आवश्यकताओं का पूर्ण अध्ययन कर सके। साख के दो रूप दिए गए हैं—(१) दीर्घकालीन साख, (२) अल्पकालीन साख। मध्यकालीन साख भी देश में प्रचलित होने लगी है। दीर्घकालीन साख देने का कार्य साहूकारों के हाथ में है जिनसे ऊँची-ऊँची व्याज-दरों पर साख मिलती है। इस कार्य के लिए कोई संगठित संस्थाएं नहीं हैं। बड़े-बड़े नगरों में अल्पकालीन साख देने का कार्य व्यापारिक बैङ्कों के हाथ में है तथा गांवों में सहकारी बैंक इसकी व्यवस्था करने का प्रयत्न करते हैं। फिर भी स्वदेशी बैंकरों तथा साहूकारों ने मुद्रा-मंडी का विशेष क्षेत्र अपने अधिकार में कर रक्खा है।

आवश्यकतानुसार मंडी में मुद्रा की मात्रा बढ़ाने का अभी तक कोई

सफल तथा संगठित प्रयास नहीं किया गया है और न किया जा रहा है। लोगों में राशि संचित करके रखने की आदत को छुड़वाकर उसे बैंकों में जमा करने का प्रयत्न नहीं किया गया। बैंकों ने इस विषय में छोटी-छोटी राशि के लेखों का महत्व ही नहीं समझा है। इंग्लैंड में कोई भी व्यक्ति केवल दो पौंड जमा करके भी बैंक में हिसाब खोल सकता है परन्तु यहां पर बैंक अधिक राशि जमा करके हिसाब खोलने में ही अपना महत्व समझते हैं। अमेरिकन बैंकों की भांति हमारे यहां भी छोटे-छोटे बचत लेखे खोलने के लिये बचत-बैंकों की शिक्षा व व्यवस्था का प्रबन्ध होना चाहिए।

(३) लोच का अभाव—भारतीय मुद्रा-मंडी में लोच एवं स्थायित्व नहीं है। इसका अर्थ यह है कि मुद्रा की मात्रा देश के व्यापार, उद्योग तथा वाणिज्य की आवश्यकतानुसार घटाई व बढ़ाई नहीं जा सकती। बैंकों के साधन सीमित हैं। उनका कोष भी सीमित रहता है। अतः वे इस सीमित कोष से देश की बढ़ती हुई मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते। देश में चेक प्रथा भी अधिक प्रचलित नहीं है।

(४) व्याज दरों में भिन्नता—मंडी में व्याज-दरें भिन्न-भिन्न एवं भारी-भारी हैं। व्याज-दर समय-समय पर स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न है। स्वदेशी बैंकर अपनी उधार राशि पर भारी व्याज वसूल करते हैं। रिजर्व बैंक की 'बैंक-दर' भी मंडी में व्याज-दरों को नियंत्रित नहीं कर पाती। देश में दीर्घकालीन उधार देने के कोई साधन नहीं है। जमा राशि पर बैंकों द्वारा जो व्याज दी जाती है वह भी भिन्न-भिन्न बैंकों के साथ भिन्न-भिन्न है। इसका प्रधान कारण यह है कि देश की बैंकों में पारस्परिक प्रतियोगिता है तथा देश की बैंकों की क्रियाओं और उधार देने की नीतियों में विषमता है। उन्नत देशों की मुद्रा-मंडियों में बैंक पारस्परिक सहयोग से व्याज-दर निश्चित करते हैं। इस विषय में हमारी मुद्रा-मंडी के लिए एक सुझाव है। डा० सुजन का कहना है कि देश को व्यापार तथा अन्य आर्थिक दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में बांट लेना चाहिए और प्रत्येक क्षेत्र को अलग-अलग

बैंकों के सुपुर्द कर देना चाहिए। प्रत्येक क्षेत्र की व्याज-दर की सीमा निर्धारित होनी चाहिए जिसमे अधिक व्याज कोई बैंक वसूल न कर सके।

(५) **ऋण-प्रदायक संस्थाओं का अभाव**—मंडी में बैंकों की कमी है। लोगों को बैंकिंग व्यवसाय का ज्ञान भी नहीं है और न उन्हें बैंक से लेन-देन करने की आदत ही है। कृषि के लिए साख का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं है और जो कृषि-बैंक हमारी मंडी में है उनकी संख्या कम है। सहकारी बैंकों के पास उपयुक्त साधन नहीं हैं तथा भूमि-बन्धक बैंक अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही हैं। उद्योगों के लिए उधार मिलने का तो देश में कोई सगठित साधन है ही नहीं।

(६) **असंगठित बिल-बाजार**—मुद्रा-मंडी में बिलों की कमी इसका सबसे बड़ा दोष है। अन्य देशों की मुद्रा-मंडियों की भाति हमारे यहा बिलो का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में नहीं होता। वहा बैंक बिलों का लेन-देन करते तो हैं परन्तु केवल ऐसे बिलो की कटौती जो मान्य व्यवसाय के तथा उनके द्वारा निर्धारित शर्तों के अनुसार हों। इस तरह से बिलों का उपयोग बहुत सीमित रहा है। दूसरे, मंडी में कटौती की सुविधाएं भी नहीं हैं। १९३५ मे रिजर्व बैंक ने कटौती तथा लेन-देन की सुविधाएं देना आरम्भ किया है परन्तु उसका कार्य-क्षेत्र सीमित है।

बिल-बाजार में बिलों की कमी

जैसा कि अभी बताया गया है हमारी मुद्रा-मंडी में संगठित बिल-बाजार की विशेष कमी है। भारतीय बैंक व्यापारिक बिलों का अधिक उपयोग नहीं करते। यह अभाव निम्न कारणों से है :—

(१) भारत के बैंकों ने सदैव सरकारी सिक्यूरिटियों में ही विनियोग किया है जिसमे उनकी मौद्रिक स्थिति तरल बनी रहे। इस बात की हमारी मुद्रा-मंडी में आवश्यकता भी रही है क्योंकि हमारे बैंकों के पास नकद राशि का अभाव रहता है। दूसरे, हमारे बैंकों का अधिक विकास भी नहीं हुआ है अतः व्यापारिक बिलों का उपयोग कम होता रहा है। परन्तु अब

सरकारी सिक्यूरिटियों से बैंकों की आय कम होती जा रही है और व्यापारिक बिलों से अधिक, तो आशा है कि व्यापारिक बिलों का प्रयोग बढ़ेगा।

(२) बैंक व्यापारिक बिलों का प्रयोग इसलिए भी अधिक नहीं करते कि उनको बिलों के हस्ताक्षरकर्ताओं की आर्थिक स्थिति का भला-बुरा ज्ञान नहीं होता और न देश में ऐसी विशिष्ट संस्थाएं हैं जो व्यापारिक बिलों के स्वीकृतकर्ताओं की आर्थिक स्थिति की पूरी जानकारी बैंकों को दे सकें।

(३) बहुत से व्यापारिक बिल तो ऐसे होते हैं जिनसे इस बात का कोई संकेत ही नहीं मिलता कि वे व्यवसाय की सहायता के लिए लिखे गए हैं अथवा केवल उधार देने के उद्देश्य से। हुंडी को देखकर यह नहीं बताया जा सकता कि वह व्यापार की सुविधा के लिए है अथवा उधार की सहायता के लिए, क्योंकि उसके साथ रेलवे की बिल्टी अथवा भंडार की रसीद नहीं लगाई जाती। ऐसी स्थिति में बैंक इस प्रकार के बिलों में लेन-देन नहीं करते। बैंक अधिकांश व्यापारिक बिलों में ही लेन-देन पसन्द करते हैं परन्तु यह बात बहुत से बिलों में स्पष्ट नहीं होती। अतः बिलों का प्रयोग कम होता रहा है।

(४) बिलों पर मुद्रांक-कर (Stamp Duty) अधिक होने के कारण बिलों का अधिक प्रयोग नहीं होता। मुद्दती हुंडी का प्रयोग भी इसलिए कम होता रहा है। दर्शनी हुंडी या मांग-बिलों का प्रयोग इसलिए कम होता रहा है कि इनके लाने-लेजाने में समय अधिक लगता है और इस प्रकार उनके द्वारा अल्पकालीन ऋण स्वीकार करने का उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता। अब १९४० से मुद्रांक-कर में कुछ कमी कर दी गई है पर फिर भी अभी अधिक ही है।

(५) व्यापारिक बिल एक दूसरे से भाषा, लिपि, अवधि, अनुग्रह-दिवस तथा विधि आदि में भिन्न-भिन्न होते हैं जिससे यदि वे खो जावें अथवा

उनका अनादरण हो जाय तो उन्हें पहिचानने में अधिक परेशानी होती है। अतः जनता में उनका अधिक प्रयोग नहीं बढ़ पाता।

(६) बैंकों तथा उधार लेनेवालों, दोनों ने ही राशि उधार लेने-देने में लेखा उधार (Cash Credit) विधि को अपनाया है क्योंकि इसमें दोनों को ही लाभ है। बैंक आवश्यकतानुसार कभी भी उधार बन्द कर सकता है तथा उधार लेनेवाला केवल उधार ली हुई राशि पर ही व्याज देता है। इसलिए बिलों द्वारा उधार लेन-देन की राशि नहीं अपनाई गई।

(७) पिछले कुछ वर्षों से केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों ने अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए कोष-बिलों (Treasury Bills) का अधिक प्रयोग किया है जिनमें विनियोग करना बैंक अधिक तरलता तथा सुरक्षा का काम समझने रहे हैं। अतः व्यापारिक बिलों का प्रचार नहीं हो सका है।

बिल-बाजार का विकास (केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी के सुझाव)—

(१) केन्द्रीय बैंकिंग जाच कमेटी का विचार है कि देश की बैंकिंग व्यवस्था तब तक संगठित नहीं हो सकती जब तक कि देश में बिल-बाजार विकसित न हो। कमेटी का विचार था कि देश का केन्द्रीय बैंक मुद्रा-मंडी में बिलों के प्रयोग में लाने के लिए अधिक काम कर सकता है। यह बैंक मुद्रा-मंडी के विभिन्न अगो का सगठित करके बैंको का सहयोगी बनकर उनको बिल का उपयोग समझाकर, पुनः कटौती की सुविधाएं देकर तथा स्वदेशी बैंकरों का नियमबद्ध करके बिल बाजार को उन्नत कर सकता है। केन्द्रीय बैंक यह काम एक और प्रकार से भी करता है कि वह अन्य बैंकों तथा बैंकरों (जो इसके सदस्य हों) के श्रेष्ठ बिल कम कटौती-दर पर क्रय करे तथा उनकी कटौती करे और अन्य प्रकार के बिलों पर अधिक कटौती-दर वसूल करे। इससे श्रेष्ठ बिलो का प्रयोग बढेगा। उत्पादकों तथा व्यापारियों को बताया जाय कि वे अपने बैंक को ठीक-ठीक विवरण देकर अपनी आर्थिक स्थिति का ज्ञान कराते रहे जिससे वे बैंकों में व्यापारिक बिलो के प्रति विश्वास उत्पन्न कर सकें और बिलों का प्रयोग भी बढ़ा सकें।

(२) देश के भिन्न-भिन्न स्थानों पर अनुशाधारी भांडारगृह स्थापित होने चाहिए जिससे उनमें माल रखाकर उनकी रसीद व्यापारिक बिलों के साथ लगाई जा सके। अनुशाधारी भांडारगृहों की रसीद लगाने में बिलों की साख बढ़ेगी तथा बैंक भी उन पर अच्छी तरह विश्वास के साथ लेन-देन कर सकेंगे।

(३) व्यापारिक बिलों पर से मुद्राक-कर भी कम कर देना चाहिए जिससे जनता में उनका प्रयोग बढ़े। बिलों के छपे हुए फार्म यदि पोस्टआफिसों तथा बैंकों पर मिलें और बिलों को भारतीय तथा प्रादेशिक भाषाओं में भी लिखा जाय तो भी बिलों का प्रयोग बढ़ेगा।

(४) बिलों की अवधि तथा अनुग्रह-दिवस सम्बन्धी अन्य बातों को भी यदि देश भर में एक समान बना दिया जाय तो देश के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बिलों के प्रयोग को प्रोत्साहन मिलेगा।

(५) कृषि को, जो अब तक मुद्रा-मंडी से अछूती रही है, बिल-बाजार क्षेत्र में ले आना चाहिए। कृषि की उपज पर लिखे हुए बिलों की कटौती करने की सुविधा सहकारी बैंकों को देनी चाहिए। साहूकारों तथा स्वदेशी बैंकरों को भी कृषि-बिलों पर सुविधाएं देकर उन्हें प्रोत्साहन देना चाहिए। व्यापारिक बैंकों को चाहिए कि वे स्वदेशी बैंकरों को अपने साथ मिलाकर उनके बिलों की कटौती करने की सुविधाएं दें। इससे कृषि-बिलों को प्रोत्साहन मिलेगा।

(६) प्रान्तीय सरकारें भी इसमें अधिक योग दे सकती हैं। उनको चाहिये कि वे अपने-अपने भंडार-गृह स्थापित करें जिनमें माल रखने की सुविधा भी मिले तथा जिनकी रसीदों पर बिल लिखकर उधार भी लिया जा सके। इन बिलों का क्रय-विक्रय स्वदेशी बैंकर करें और फिर वे उनकी कटौती व्यापारिक बैंकों या रिजर्व बैंक में करावें।

(७) बैंकों को भी चाहिए कि वे 'नकद-उधार' के आधार पर हो ऋण न दें वरन् बिलों के प्रयोग बढ़ाकर उनका प्रचार करें, बिलों का क्रय

करें, उनकी कटौती करें तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाली अन्य सुविधाएं भी दें।

बैंक-स्वीकृति बिलों का प्रचार बढ़ाने से भी बिल-बाजार उन्नति कर सकता है। अमरीका में प्रथम महायुद्ध तक बिल-बाजार उन्नत नहीं समझा जाता था, परन्तु बैंक स्वीकृति-बिलों के प्रचार से ही आज अमरीका का बिल-बाजार इतनी उन्नति पर है। 'बैंक स्वीकृति-बिल' वह बिल समझा जाता है जिसकी स्वीकृति बैंक ने अथवा ऐसी संस्था ने की हो जिसका व्यापार बैंक-स्वीकृति-पत्र स्वीकृत करना हो। इस प्रणाली में माल खरीदनेवाला व्यक्ति, जिसके नाम माल बेचनेवाले ने बिल लिखा हो, अपने बैंक से ऐसी व्यवस्था कर लेता है कि उसका बैंक उस बिल को स्वीकृत कर ले जिससे बिल लिखनेवाला उसको अपने बैंक से शीघ्र ही कटौती करा सके।

भारतीय बैंकों को इस प्रकार के स्वीकृति-बिलों का प्रचार करना चाहिए। जिन-जिन स्थानों पर बैंक की शाखाएं न हों उन स्थानों पर बैंकों को इस कार्य में स्वदेशी बैंकरों से सहायता लेनी चाहिए। परन्तु ऐसा करने से पहले बैंकरों को रिजर्व बैंक द्वारा नियमबद्ध करना होगा। देहातों में बैंक-स्वीकृति-बिल का प्रचार करने में कुछ अड़चनें अवश्य होंगी क्योंकि अधिकांश कृषक अशिक्षित हैं। परन्तु इस कार्य में सहकारी बैंक अधिक सहयोग दे सकते हैं।

रिजर्व बैंक क्या करे ?

यह स्वयंसिद्ध है कि केन्द्रीय बैंक के बिना किसी देश में बिल-बाजार उन्नति नहीं कर सकता। कोई भी बैंक अथवा बैंकर तब तक बिल नहीं खरीदेगा और न कटौती करेगा जब तक कि उसे यह विश्वास न हो कि देश में कोई ऐसी भी संस्था है जहां पर आवश्यकता आने पर वह उन बिलों की पुनः कटौती कराकर राशि प्राप्त कर सकता है। हमारे देश में ऐसी संस्था केवल रिजर्व बैंक ऑव इंडिया है जो देश के अन्य बैंकों को

यह विश्वास दिला सकती है कि वे आवश्यकता आने पर उससे रुपया उधार लेकर अपना काम पूरा कर सकते हैं। साख-संगठन का दायित्व रिजर्व बैंक पर है। वह देश के बैंकों को पुनः कटौती की सुविधाएँ दे सकता है जिससे बैंक निश्चित होकर बिलों के द्वारा अपना लेन-देन करें। पुनः कटौती की सुविधाओं के बिना बैंकों के वे बिल, जिसकी कटौती करके वे अपना राशि अल्पकाल के लिए ऋण दे देते हैं, तरल सम्पत्ति में परिणित नहीं हो सकते और न तब तक वे बैंक आनेवाली विपत्तियों से ही बच सकते हैं। इसलिए देश में पुनः कटौती की सुविधाएँ होना अत्यन्त आवश्यक है।

केन्द्रीय बैंक द्वारा बिलों की कटौती से बैंकों को उधार देने की शक्ति और साधन बढ़ जाते हैं, मुद्रा-प्रणाली में लोच आती है तथा मुद्रा का प्रसार तथा संकुचन भी होता रहता है। इसलिए यदि देश की मुद्रा-मंडी का विकसित करने के लिए बिल-बाजार को उन्नत करना है तो रिजर्व बैंक को पुनः कटौती का क्षेत्र बढ़ाना चाहिए।

बिल-बाजार-विकास की नई योजना

रिजर्व बैंक ने कुछ बड़े-बड़े तालिका-बद्ध बैंकों के अधिकारियों से परामर्श करके बिल-बाजार को विकसित करने की एक योजना १६ जनवरी १६५२ को तैयार करके कार्यान्वित की है। योजना में मुख्य बातें इस प्रकार हैं :—

(१) बैंक एक्ट की धारा १७ (४) (ग) के अन्तर्गत तालिका-बद्ध बैंकों को उनके मांग प्रतिज्ञा-पत्रों की जमानत पर ऋण देता है। इस प्रकार के ऋण दो प्रकार के होते हैं—एक वे जो प्रतिज्ञा-पत्रों की जमानत पर दिए जाते हैं और जिनका ऋण लेनेवाला अपनी इच्छानुसार कभी भी ले सकता है और लौटा भी सकता है। दूसरे वे ऋण जो ऋण लेनेवाले को ६० दिन की अवधि पर दिए जाते हैं।

(२) उक्त ऋण बैंक-दर से ½% कम दर पर दिए जाते हैं।

(३) इन ऋणों के लिए जो बिल या पत्र लिखे जाते हैं उन पर जो मुद्रांक-कर लगता है उसका आधा व्यय बैंक स्वयं बर्दाश्त करता है तथा शेष आधा ऋण-याचक को देना होता है।

एक बार में लिए जानेवाले ऋण की न्यूनातिन्यून राशि २५ लाख रुपये निर्धारित की गई है। इसी प्रकार प्रत्येक बिल, जिसकी साख पर ऋण दिया जाता है, उस पर मिलने वाले ऋण की कम से कम सीमा १ लाख रुपए निश्चित की गई है।

प्रश्न

१—भारतीय मुद्रा-मंडी के क्या दोष हैं ? और आप उन्हें किस प्रकार सुधारेंगे ? (यू०पी० १९५४, १९५१, १९५०, १९४९: राज० १९५०, १९४८ म०भा० १९५०)

२—भारत में उन्नत बिल-बाजार न होने के क्या कारण हैं ? देश में बिलों का प्रयोग किस प्रकार बढ़ाया जा सकता है ? (राज० १९५२)

३—भारतीय मुद्रा मंडी में विभिन्न अंग कौन-कौन हैं ? मुद्रा-मण्डी में मूल दोष क्या हैं ? (म०भा० १९५१)

अध्याय २५

स्वदेशी बैंकर

(Indigenous Banker)

भारत में बैंकिंग व्यवसाय का श्रीगणेश स्वदेशी बैंकरों से आरम्भ होता है। 'स्वदेशी बैंकर' से हमारा तात्पर्य उन लोगों से है जो राशि जमा करते हैं, हुण्डियों का लेन-देन करते हैं तथा राशि उधार भी देते हैं। इन लोगों की क्रियाएं तथा कार्य-प्रणाली प्रान्त-प्रान्त में भिन्न-भिन्न हैं तथा ये लोग उत्पादन तथा उपभोग, दोनों कार्यों के लिए उधार देते हैं। केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी के अनुसार "स्वदेशी बैंकर इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया, विदेशी विनिमय बैंक, व्यापारिक बैंक तथा सहकारी बैंकों को छोड़कर वे सभी लोग होते हैं जो हुण्डियों का व्यवसाय करते हों तथा जनता से राशि का लेन-देन करते हों।" इस परिभाषा के अनुसार एक सामान्य धनी व्यक्ति से लेकर बैंकिंग साझेदारी फर्म, कौटुम्बिक साझेदारी तथा व्यापारी बैंकर जिनकी शाखाएं भिन्न-भिन्न स्थानों पर होती हैं तथा जो रुपया उधार देते हैं, स्वदेशी बैंकरों की श्रेणी में आ जाते हैं। डॉ० एल० सी० जैन के अनुसार "स्वदेशी बैंकर वे सभी लोग कहलाते हैं जो ऋण देने के साथ-साथ राशि भी जमा रखते हों या हुण्डियों का व्यवसाय करते हों अथवा दोनों ही काम करते हों।" संक्षेप में स्वदेशी बैंकर उन्हीं लोगों को कहते हैं जो हुण्डी का व्यवसाय करते हों, राशि जमा रखते हों एवं रुपया उधार देते हों। साधारणतः ये लोग बैंकिंग तथा व्यापार दोनों ही काम करते हैं और बैंकिंग तथा अन्य प्रकार के व्यवसाय में लगी हुई इनकी पूंजी में कोई भेद नहीं होता। इन दोनों क्रियाओं के कारण इनको प्रान्त-प्रान्त में भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। इनको सामान्यतः

साहूकार, श्रेष्ठि, चेट्टी, नानावती, महाजन तथा अन्य नामों से पुकारा जाता है। स्वदेशी बैंकिंग व्यवसाय एक पारिवारिक व्यवसाय है और भारत में कुछ लोगों का तो यह एक पुश्तैनी काम चला आता है। ये लोग अपने लेन-देन जनता को नहीं दिखाते। इनके लेन-देन के ढंग गुप्त रहते हैं तथा इनकी ब्याज-दर बहुत ऊँची रहती है। वर्तमान काल में देश के सामाजिक तथा आर्थिक संगठन में इनका विशेष स्थान है क्योंकि ये लोग कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए, देशी व्यापार की सुविधाओं के लिए तथा छोटे-छोटे उद्योगों के लिए भी राशि उधार देते हैं।

साहूकार तथा स्वदेशी बैंकर में भेद

साहूकार तथा स्वदेशी बैंकर, इन दोनों में विशेष भेद माना जाता है। यह भेद निम्नलिखित है :—

(१) साहूकार अथवा ऋणदाता लोगों से राशि जमा नहीं करते हैं और स्वदेशी बैंकर राशि जमा करते या कराते भी रहते हैं।

(२) साहूकार हुंडियों का व्यवसाय नहीं करते परन्तु स्वदेशी बैंकर हुंडियों में विशेष रूप से व्यवसाय करते हैं।

(३) साहूकार ऋण देने के साथ ही साथ अन्य व्यापार भी करते हैं जो उनका प्रमुख कार्य होता है। परन्तु बैंकरों के साथ बैंकिंग व्यापार की प्रधानता है। इनके लिए अन्य व्यापार की अपेक्षा बैंकिंग व्यापार का विशेष महत्व है।

(४) साहूकार केवल अपने निजी धन से ही ऋण देता है किन्तु स्वदेशी बैंकर जनता से स्वीकृत जमा राशि तथा निजी पूंजी दोनों से ऋण देते हैं।

(५) साहूकार उत्पादन की अपेक्षाकृत उपभोग को अधिक उधार देते हैं। परन्तु बैंकर विशेष रूप से व्यापार तथा अन्य छोटे उद्योगों को राशि उधार देते हैं। यद्यपि दोनों ही बिना बन्धक के रुपया उधार देते हैं परन्तु बैंकर की अपेक्षा साहूकार बिना बन्धक के अधिक सीमा तक उधार

दे देते हैं। 'किस कार्य के लिए' राशि उधार ली जा रही है—इस विषय में जानने के लिए साहूकार की अपेक्षा बैंकर अधिक सतर्क रहता है। बैंकर की अपेक्षा साहूकार अधिक ब्याज-दर पर राशि उधार देता है।

संयुक्त स्कंध बैंक तथा स्वदेशी बैंकर का भेद

साहूकार और स्वदेशी बैंकर के दिए गए भेदों से यह नहीं समझना चाहिए कि संयुक्त स्कंध अथवा व्यापारी बैंक और स्वदेशी बैंकर में कोई अन्तर नहीं है। संयुक्त स्कंध बैंक तथा स्वदेशी बैंकर भी अपने-अपने संगठन, क्रिया तथा कार्यशैली में भिन्न-भिन्न होते हैं। उन दोनों की भिन्नता नीचे दी गई है :—

(१) संयुक्त स्कंध बैंक भारतीय कम्पनीज एक्ट के अनुसार बने होते हैं तथा वे कम्पनी एक्ट के अनुसार अपने-अपने लेखे तथा स्थिति-विवरण प्रकाशित करते रहते हैं। परन्तु बैंकरों का कोई विधान नहीं और वे अपने लेखे भी गुप्त रखते हैं।

(२) संयुक्त स्कंध बैंक का पूर्ण व्यवसाय अपनी अंश-पूंजी के अलावा विशेषतः जमा-राशि पर अवलम्बित रहता है। परन्तु स्वदेशी बैंकर अपनी निजी पूंजी पर अवलम्बित रहता है क्योंकि उसकी जमा-राशि अधिक नहीं होती। यही कारण है कि बैंकर दीर्घकालीन ऋण दे सकते हैं परन्तु बैंक नहीं दे सकते।

(३) ग्राहकों को अपनी जमा-राशि चेक द्वारा निकालने की सुविधा संयुक्त स्कंध बैंक में मिलती है। बैंकर इस तरह की सुविधा नहीं देते।

(४) बैंक का अपने ग्राहकों के साथ सम्बन्ध इतना गहरा और व्यक्तिगत नहीं होता जितना बैंकरों का अपने ग्राहकों के साथ होता है।

(५) संयुक्त स्कंध बैंक केवल अल्पकालीन ऋण की ही सुविधा देते हैं किन्तु बैंकर अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन दोनों ही श्रेणी के ऋण देते हैं।

(६) बैंकर बैंकिंग व्यवसाय के साथ-साथ अन्य व्यापार भी करते हैं परन्तु बैंक अन्य व्यापार नहीं करते और न कर ही सकते हैं। उनका एकमात्र काम बैंकिंग व्यवसाय है। बैंकर सट्टे का व्यापार भी करते हैं। परन्तु बैंक यह व्यापार कदापि नहीं कर सकते।

(७) बैंकर की कार्य-शैली बैंकों की अपेक्षाकृत अधिक सादी और सरल होती है। बैंक की अपेक्षाकृत बैंकर उधार राशि पर अधिक ब्याज-दर वसूल करते हैं।

(८) बैंकर बिना किसी प्रकार की जमानत के भी ऋण दे देते हैं किन्तु बैंक ऐसा नहीं करते। बैंकर ऋण देने के बदले में कई प्रकार की जमानत लेते हैं परन्तु बैंक केवल ऐसी ही वस्तुएं जमानत में रखते हैं जिनके मूल्य में कमी न हो, जिन्हें शीघ्र ही बाजार में बेचकर नकद राशि में परिवर्तित किया जा सके।

केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी ने स्वदेशी बैंकरों को तीन भागों में बांटा है—

(१) वे लोग जो केवल बैंकिंग व्यवसाय तक ही सीमित रहते हैं और जिनका प्रमुख कार्य बैंकिंग व्यवसाय ही है।

(२) वे लोग जो विशेष रूप से व्यापारी हैं परन्तु जो अपनी व्यापार मे बची पूंजी को बैंकिंग व्यवसाय में लगाते हैं।

(३) वे लोग जो बैंकर और व्यापारी दोनों हैं और जिनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे बैंकिंग का काम विशेष रूप से करते हैं अथवा अन्य व्यवसाय का काम।

स्वदेशी बैंकरों की कार्य-प्रणाली एवं क्रियाएं

इनकी कार्य-प्रणाली अत्यन्त सरल एवं साधारण होती है क्योंकि इनको कोई विशेष कार्यालय नहीं रखना होता—ये राशि लेन-देन के सब व्यवहार विशेषतः अपने स्थान पर ही करते हैं। लेखे इत्यादि लिखने-पढने

का काम करने के लिए इन्हें मुनीम रखने पड़ते हैं जो कि बहुत ईमानदार तथा परिश्रमी देखकर रखे जाते हैं। ग्रामीण क्षेत्र में इनके बैंकिंग सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ होते हैं तथा इनको अपने क्षेत्र के किसानों की आर्थिक स्थिति के बारे में पूर्ण ज्ञान होता है। इसी प्रकार इनकी कार्य-प्रणाली इतनी सरल होती है कि कोई भी व्यक्ति बिना किसी विशेष असुविधा के शीघ्र ही ऋण प्राप्त कर सकता है। उसे ऋण प्राप्त करने में किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। स्वदेशी बैंकर की क्रियाएं इस प्रकार होती हैं :—

ऋण देना—इनका प्रमुख व्यवसाय राशि उधार देना होता है। ये अधिकतर व्यापारिक तथा कृषि-कार्यों के लिए ऋण देते हैं परन्तु कभी-कभी उपभोग के लिए भी राशि उधार देते हैं। इसलिए ऐसे ऋणों पर वह अच्छी और मजबूत जमानत रखते हैं। ऋणों पर ये बैंकर बैंकों की अपेक्षा अधिक ब्याज-दर वसूल करते हैं। सुरक्षित ऋणों पर इनकी ब्याज दर ६% से १८% होती है तथा बिना जमानती अथवा असुरक्षित ऋणों पर ब्याज की दर अधिक ऊंची होती है जो प्रायः २०% से ५०% तक होती है। इनकी ऋण देने की रीति बिल्कुल भिन्न होती है जिसको हम अत्यन्त सरल और सुविधाजनक कह सकते हैं। ये लोग केवल प्रतिज्ञा-पत्र लिखवाकर ही रुपया उधार दे देते हैं। अधिक राशि उधार देते समय इस प्रतिज्ञा-पत्र पर दो गवाहों के दस्तखत भी लिए जाते हैं। प्रतिज्ञा-पत्र न लिखवाकर कभी-कभी केवल एक साधारण पर्चा (जिसे वे रुक्का कहते हैं) लिखवा लिया जाता है। कुछ बैंकर कानूनन एक पक्का कागज लिखाते हैं जिस पर सरकारी टिकट लगाई जाती है तथा उस पर ऋण लेने-देने की शर्तें, ब्याज-दर, ऋण भुगतान करने की अवधि आदि अन्य आवश्यक बातें भी लिखी जाती हैं। कुछ बैंकर किसी भी प्रकार का कागज न लिखाकर केवल अपनी बही में उधार लेनेवाले के दस्तखत या अंगूठा निशानी ले लेते हैं। भारी-भारी ऋण घर-मकान या भूमि जायदाद को गिरवी रखकर देते हैं जिसमें एक गिरवी-पत्र (Mortgage Bond) लिखा जाता है।

इस पत्र को कानून की दृष्टि में रजिस्ट्रार द्वारा रजिस्टर कराना आवश्यक होता है।

राशि जमा रखना—बैंकर जनता से राशि जमा करते हैं एवं जमा-राशि पर ब्याज भी देते हैं। जमा-राशि पर इनकी ब्याज-दर सहकारी तथा अन्य संयुक्त स्कंध बैंक की दरों से अधिक होती है, जो प्रायः ३% से ६% तक होती है। बैंकर सदैव ही राशि जमा नहीं रखता परन्तु वे लोग जिनके पास जीवन रक्षा के साधन नहीं होते अपनी छोटी-छोटी जमा इनके पास सुरक्षा के लिए रख जाते हैं। राशि जमा रखना बैंकर भारी खतरे की बात समझते हैं। यदि कभी राशि जमा भी रखते हैं तो अपने मित्रों की रखते हैं, व्यापारियों की नहीं, क्योंकि वे समझते हैं कि व्यापारियो को राशि की कभी भी आवश्यकता हो सकती है और तब वे खतरे में पड़ जाते हैं।

जो लोग इनके पास राशि जमा करते हैं उनके नाम से राशि उनके लेखों में जमा कर ली जाती है। कभी-कभी कोई बैंकर इस जमा-राशि के बदले रसीद दे देते हैं परन्तु प्रायः ऐसा नहीं किया जाता। यह जमा-राशि नकद के रूप में ही निकाली जाती है, चेक द्वारा नहीं। कोई-कोई बैंकर चेक भी चालू करते हैं परन्तु इनका चलन सीमित रहता है।

व्यापारिक बिलों का लेन देन—बैंकर व्यवसायियों तथा व्यापारिक बैंकों के बीच मध्यस्थ का काम भी करते हैं। ये लोग व्यवसायियों से व्यापारिक बिल ऊँची कटौती-दर पर खरीद लेते हैं और जब इनके पास राशि की कमी होती है तो ये उन बिलों की व्यापारिक बैंकों द्वारा कटौती करा लेते हैं। बम्बई के मुलतानी बैंकरों का तो यह कटौती-व्यवसाय ही प्रमुख व्यापार है जिससे वे लाखों रुपया कमाते हैं। बैंकर हुंडियों के व्यापार में हुंडी लिखते हैं और उनकी कटौती करते हैं। ये हुंडियों का क्रय-विक्रय एवं कटौती भी करते हैं।

कृषि-ऋण—व्यापारिक ऋण के साथ-साथ बैंकर कृषि के लिए भी ऋण देते हैं परन्तु कृषकों से बैंकर प्रायः सीधा सम्पर्क नहीं रखते। इन

लोगों को वे साहूकारों तथा छोटे छोटे व्यापारियों द्वारा सहायता देते हैं। छोटे-छोटे उद्योगियों से इनका सीधा सम्बन्ध होता है। उद्योगियों को ये राशि उधार देते हैं, उनकी राशि एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाते हैं, उनकी हुंडियों की कटौती करते हैं तथा उनकी राशि भी जमा करते हैं। कृषि के लिए कितना ऋण ये देते हैं इसके कोई भी निश्चित आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं परन्तु फिर भी जितना ऋण कृषि को मिलता है उसका ९०% इनके द्वारा ही प्राप्त होता है।

अन्य व्यापार—बैंकिंग व्यवसाय के अतिरिक्त स्वदेशी बैंकर व्यापार करते हैं, दूकानदारी करते हैं, जमीन खरीद लेते हैं और कमीशन तथा सट्टे का व्यापार भी करते हैं। ये गिरवी रखकर भी राशि उधार देते हैं जिससे इन्हें प्रायः मुकदमेबाजी का सामना भी करना पड़ता है। कानपुर में तो ये लोग रूई, अनाज, आटा तथा अन्य ऐसी ही वस्तुओं का व्यापार करते हैं। कुछ लोग चीनी के कारखानों तथा आटे की मिलों के मालिक भी हैं। बम्बई की तरफ ये लोग रूई का व्यापार तथा कम्पनियों के अंशों का सट्टा करते हैं।

बैंकरों तथा व्यापारिक बैंकों का पारस्परिक सम्बन्ध

बैंकरों तथा व्यापारिक बैंकों का पारस्परिक सम्बन्ध अधिक सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। दोनों एक दूसरे के प्रतियोगी हैं। कुछ बैंकर जिनके नाम व्यापारिक बैंकों या इम्पीरियल बैंक की स्वीकृत सूची में हैं, इन बैंकों से आवश्यकता आने पर रुपया उधार लेते हैं, मांग-प्रतिज्ञा-पत्रों की उनसे कटौती करा लेते हैं तथा हुंडियों की कटौती भी कराते हैं। परन्तु ये सब सुविधाएं उनको सीमित मात्रा में ही मिलती हैं और यह सीमा भिन्न-भिन्न बैंकरों के साथ भिन्न-भिन्न होती है। व्यापारिक बैंक बैंकरों के नाम के चेक तथा उनके नाम के रेखांकित चेक भी स्वीकार नहीं करते क्योंकि बैंकों को उन बैंकरों की आर्थिक स्थिति का ज्ञान नहीं होता। इम्पीरियल बैंक इन बैंकरों के लेखे पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर राशि भेजता है परन्तु

इनको व्यापारिक बैंक की भांति विशेष सुविधाएं नहीं दी जातीं क्योंकि इनका व्यापार बैंकों की अपेक्षा बहुत कम होता है। बैंकों की व्याज-दर तथा बैंकरो की व्याज-दर में बड़ा अन्तर रहता है। बैंकरों का न इन बैंकों से कोई सीधा सम्बन्ध है और न रिजर्व बैंक ने ही इन्हें नियंत्रित किया है। परन्तु जब तक देश की मुद्रा-मंडी के ये दोनों अंग पारस्परिक सम्पर्क में नहीं आयेंगे तब तक देश की साख-व्यवस्था ठीक नहीं हो सकती। इम्पीरियल बैंक भी इन बैंकरों को कोई विशेष सुविधा नहीं देता। बंगाल बैंकिंग जांच कमेटी ने स्पष्ट किया है कि "इम्पीरियल बैंक कभी-कभी बैंकरों की हुंडियों की कटौती भी नहीं करता। यह ठीक है कि बैंकों तथा बैंकरों में आवश्यक सम्पर्क नहीं परन्तु इसका कारण बैंकों का दोष नहीं। बैंकरों की कार्य-शैली तथा क्रियाओं में कुछ ऐसे दोष हैं जिनके कारण इनको बैंकों द्वारा विशेष सुविधाएं नहीं मिलतीं।"

बैंकर प्रणाली के कुछ दोष

स्वदेशी बैंकरों की कार्य-प्रणाली में अनेक ऐसे दोष हैं जिनके कारण न तो वे आधुनिक बैंकों की भांति कार्य कर सके और न उनके साथ मिल कर ही कार्य कर सके। उन्होंने उद्योगों को तो पर्याप्त मात्रा में साख सुविधाएं नहीं दी हीं, पर व्यापार को भी अधिक उन्नत नहीं किया; वे स्वयं सट्टेखोरी में लगे रहे जो काम एक बैंकर को कभी नहीं करना चाहिए। उनकी कार्य-प्रणाली में विशेष दोष निम्न हैं :—

(१) जनता से राशि जमा करने की प्रथा को बैंकरों ने अधिक प्रोत्साहन नहीं दिया जैसा कि आधुनिक बैंक करते हैं। इससे जनता में बचत की आदत नहीं पड़ी और देश की संचित एवं निष्क्रिय राशि उत्पादन के काम में न लाई जा सकी। वे अपनी निजी राशि से ही लेन-देन करते रहे जिससे उनकी व्याज-दर ऊंची रही तथा उनके लेन-देन के व्यवसाय में भी अनेक दोष आ गए।

(२) बैंकर अपनी पुरानी रीति से ही व्यापार करते रहे। न उन्होंने ठीक-ठीक लेखे बनाए, न उनको जनता की जानकारी के लिए प्रकाशित किया और न जनमत को ही अपने पक्ष में बनाया। उनका काम पुश्तैनी रहा; इसलिए वे आधुनिक कार्य-शैली को न अपना सके जिससे वे संगठित होकर अन्य बैंकों के साथ काम करते।

(३) बैंकरों तथा बैंकों में पारस्परिक सम्पर्क भी नहीं है, बल्कि ये एक दूसरे के प्रतियोगी बन बैठे हैं जिसकी वजह से देश की मुद्रा-मंडी के दो अंग हो गए हैं जहां भिन्न-भिन्न ब्याज-दरें हैं तथा भिन्न-भिन्न लेन-देन की रीतियां हैं। बैंकर अकेले-अकेले काम करते हैं, केन्द्रीय बैंक का उन पर कोई नियंत्रण नहीं जिससे शक्ति संचय करके काम किया जा सके।

(४) स्वदेशी बैंकरों ने पूंजी को नए-नए साधनों में विनियोग करने के उपाय नहीं सोचे जिससे वे पूंजीपति मात्र ही बने रहे, बैंकर न बन पाए क्योंकि बैंक का प्रमुख उद्देश्य पूंजी को केवल विनियोग करना ही नहीं वरन् विनियोग के नए-नए सुरक्षित साधन तलाश करना भी है—जिससे साख का आवश्यकतानुसार प्रसार एवं संकुचन हो सके।

(५) बैंकरों ने बैंकिंग क्रियाओं एवं कार्य-शैली का पालन नहीं किया क्योंकि वे बैंकिंग व्यापार के साथ-साथ अन्य व्यापार एवं सट्टेबाजी का व्यवसाय भी करते रहे। इससे उनको किसी भी प्रकार की हानि होने की दशा में उन्हीं को हानि न हुई, इसके अतिरिक्त उनके पास जिन लोगों की राशि जमा थी उनको भी हानि उठानी पड़ी जिसकी वजह से जनता में उनके प्रति अविश्वास हो गया।

किसी भी बैंकिंग व्यवस्था की सफलता तीन बातों पर निर्भर होती है—(१) स्थायित्व, (२) परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तिता, (३) नवीन साधनों को जन्म देने की सामर्थ्य। स्थायित्व से तात्पर्य है कि बैंक अपने को बाह्य खतरों से सुरक्षित रक्खे और वह सुरक्षित तभी रह सकता है जब कि असाधारण परिस्थितियों का सामना करने के लिए अपने लाभ में से संचित कोष

बनाकर रक्खे। इसी के साथ-साथ बैंकों को व्यापार व उद्योगों की आवश्यकताओं के अनुसार अपने व्यापार को घटाने-बढ़ाने का ज्ञान भी होना चाहिए और अपनी पूंजी से महत्तम लाभ लेने के लिए नए-नए साधनो को खोज लेने की शक्तिभी होनी चाहिए। स्वदेशी बैंकरो में केवल पहली ही बात पाई जाती है—उनमें असाधारण परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति तो होती है परन्तु परिस्थिति के अनुसार बदलने तथा नवीन साधनो और स्रोतों को खोज निकालने की सामर्थ्य नहीं होती।

बैंकर उन्नत कैसे हों ?

स्वदेशी बैंकरों के उक्त दोषों को दूर करने के लिए तथा देश की बैंकिग व्यवस्था में उनको अधिक उपयोगी बनाने के लिए समय-समय पर भिन्न-भिन्न सुझाव रक्खे गए हैं। प्रान्तीय बैंकिंग कमेटियों ने, केन्द्रीय जाच कमेटी ने तथा रिजर्व बैंक ने समय-समय पर सुझाव दिए हैं। यहां हम उन सभी सुझावों का अध्ययन करेंगे।

प्रान्तीय बैङ्किग जांच कमेटियों के प्रस्ताव—(१) स्वदेशी बैंकरों को स्थान-स्थान पर रिजव बैंक का एजेंट बना देना चाहिए तथा उन्हे सट्टे के खतरे से बचाने के लिए उन पर सट्टा करने का प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए।

(२) इम्पीरियल बैंक तथा व्यापारिक बैंकों को स्वदेशी बैंकरो के व्यापारिक बिल तथा हुंडिया पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ कटौती करने चाहिए।

(३) स्वदेशी बैंकरो को चाहिए कि वे जनता मे अपने प्रति विश्वास पैदा करने के लिए अपना संगठन आधुनिक बैङ्किग प्रणाली के-आधार पर करे। इस काम के लिए यह आवश्यक है कि अपना अन्य व्यवसाय अलग करदें और अपने लेखे भी आधुनिक प्रणाली के अनुसार बनावे जिनका निरीक्षण करने का अधिकार रिजर्व बैंक को हो।

(४) रिजर्व बैंक को चाहिए कि वह कुछ प्रतिबन्धों के साथ कुछ बैंकरों

को अपना सदस्य बना ले। इन सदस्य बैंकरों को कुछ विशेष अधिकार तथा दायित्व दे दिया जाय। ये सदस्य रिजर्व बैंक में अपने कोष का कुछ भाग जमा करें तथा इसके बदले में उन्हें रिजर्व बैंक से बिलों की कटौती करने का अधिकार दिया जाय।

(५) यदि आवश्यकता हो तो रिजर्व बैंक इन बैंकरों को अनुज्ञापत्र देकर अपना सदस्य बनावे और उन्हें अनुज्ञाधारी बैंकरों के अधिकार दे दिए जायं।

केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी के प्रस्ताव—केन्द्रीय कमेटी के सामने बैंकरों को उन्नत करने के अनेक प्रस्ताव आए। कमेटी के सदस्य इस पक्ष में न थे कि बैंकरों को जबरदस्ती नियंत्रण में लाया जाय। उनका विचार था कि इस प्रकार बैंकरों को असुविधा होगी और सम्भव है कि वे फिर इस कार्य को बिल्कुल न करें जिससे देश को—विशेषतः ग्रामीण एवं कृषि-साख को भयंकर हानि होने की सम्भावना हो सकती है। इसलिए कमेटी ने निम्न मुख्य प्रस्ताव किए :—

(१) रिजर्व बैंक को इन बैंकरों के लिए कटौती की सुविधाएं देनी चाहिए। ये सुविधाएं ऐसी ही हों जैसी दूसरे बैंकों को दी जाती हैं। कटौती की सुविधा रिजर्व बैंक केवल उन्हीं बैंकरों को दे जो केवल बैंकिंग क्रियाएं ही करते हों, जो लेन-देन का पूरा-पूरा हिसाब रक्खें व अपनी लेखा पुस्तकों का विशेषज्ञों द्वारा निरीक्षण करावें और जिनकी लेखा-पुस्तकें रिजर्व बैंक भी देख सके।

(२) रिजर्व बैंक तथा अन्य व्यापारिक बैंक इन बैंकरों को स्थान-स्थान पर चेकों का तथा बिलों का संग्रहण करने के लिए अपना एजेन्ट बना लें जिससे इन बैंकरों का मुद्रा-मंडी में स्थान बढ़ जाय।

(३) स्वदेशी बैंकर, जो अन्य कोई भी व्यापार नहीं करते, उनसे रिजर्व बैंक अपना सीधा सम्पर्क स्थापित करे तथा उनका नाम 'स्वदेशी बैंकरों की मान्य सूची' में लिखा जाय और उन्हें बिल लिखने की सुविधाएं दी जायं।

(४) स्वदेशी बैंकर अपने लेखा रखने की विधि में तथा उनके अंकेक्षण की विधि में विशेष सुधार करें तथा चेकों के उपयोग को बढ़ावें।

(५) जहा तक हो सके वहा तक स्वदेशी बैंकर एव अन्य बैंको का एकीकरण किया जाय।

(६) स्वदेशी बैंकर मिलकर अपना सहकारी बैंकिग सघ स्थापित करे जो अपने सदस्यो के बिलों की कटौती करे तथा उनको पुनः कटौती की सुविधाए रिजर्व बैंक द्वारा प्राप्त करावे।

(७) जो बैंकर रिजर्व बैंक के सदस्य हों वे रिजर्व बैंक में अपने कोष की कुछ राशि जमा करे परन्तु जिन बैंकरों की जमा-राशि उनकी पू जी से पाच गुना अधिक न हो वे यदि चाहे तो रिजर्व बैंक में पहिले पाच वर्ष तक राशि जमा न भी करे। इस प्रस्ताव का उद्देश्य यही था कि इस प्रकार मे रिजर्व बैंक देश की साख-व्यवस्था को भली प्रकार नियन्त्रित कर सकेगा।

(८) एक 'सार्वदेशिक बैंकिंग सघ' स्थापित किया जाय जिसमे रिजर्व बैंक के सदस्य-बैंकरो को भी सदस्य बनाया जाय। इससे देश की सभी बैंङ्किग संस्थाए पारस्परिक सम्पर्क में आएगी तथा बैंकरों का स्थान भी ऊ चा होगा।

कमेटी के कुछ सदस्यों ने अल्पमत में सुझाव दिया कि रिजर्व बैंक निश्चित शर्तो पर बैंकरों को रजिस्टर करे तथा उसके बदले में उनको वे सब सुविधाए दे जो सुविधाए अन्य व्यापारिक बैंकों को तथा सहकारी बैंकों को दी जाती हैं। रिजर्व बैंक रजिस्टर्ड बैंको की राशि एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजे तथा उनको बिलों की कटौती की भी सभी सुविधाए दे।

रिजर्व बैंक के प्रस्ताव एवं प्रयत्न

उक्त प्रस्तावों के आधार पर रिजर्व बैंक ने बैंकरों को भारतीय बैंकिंग

व्यवस्था में उपयोगी विभाग बनाने के लिए अनेक प्रस्ताव रक्खे जिनमें से मुख्य प्रस्ताव निम्न हैं :—

(१) बैंकर निश्चित अवधि के अन्दर-अन्दर अपने बैंकिग व्यवसाय को अन्य व्यवसाय से अलग कर लें। ऐसा करने पर ही रिजर्व बैंक उनसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करेगा।

(२) बैंकरों को अपने व्यापार का कार्य एवं प्रणाली संयुक्त स्कंध बैंकों जैसी ही रखनी चाहिए; विशेषतः इनको राशि जमा करने के व्यवसाय में वृद्धि करनी चाहिए।

(३) जिन बैंकरों की पूंजी २ लाख रुपये है वे उसे पांच वर्ष के अंदर ५ लाख रुपये करने पर रिजर्व बैंक की सदस्य-सूची में सम्मिलित होने के लिए आवेदन भेज सकते है।

(४) यदि उनकी जमा-राशि उनकी पूंजी से ५ गुनी हो जाती है तो उन्हे अपनी जमा-राशि का कुछ अंश रिजर्व बैंक के पास रखना पड़ेगा।

(५) उनको अपनी लेखा-पुस्तकें भली-भांति रखकर विशेषज्ञों से निरीक्षण कराना चाहिए तथा रिजर्व बैंक भी उनका निरीक्षण किया करेगा।

(६) बैंकरों को अन्य तालिकाबद्ध बैंकों की भांति अपने कार्यों का स्थिति-विवरण समय-समय पर रिजर्व बैंक के पास भेजना चाहिए तथा प्रकाशित भी करना चाहिए।

उपरोक्त प्रस्तावों की पूर्ति के पश्चात् ही बैंकर रिजर्व बैंक से मान्य हो सकते थे, एवं सरकारी सिक्यूरिटियों के आधार पर ऋण प्राप्त कर सकते थे तथा उन्हें तालिकाबद्ध बैंकों की भांति राशि स्थानान्तरण की सुविधाएं भी दी जा सकती थीं।

यद्यपि बैंक ने इन बैंकरों को नियमबद्ध करके अपने में मिलाने का प्रयत्न किया परन्तु सफलता न मिल सकी। बैंकरों के हित में, देश की साख-व्यवस्था के हित में तथा बैंकिंग संगठन के हित में भी यह अनिवार्य है कि बैंकरों को किसी भी प्रकार कानून से या मेल से नियमबद्ध किया जाय।

केवल दो उपाय ?

मुद्रा-मंडी के इस अस्त-व्यस्त अंग अर्थात् बैंकरों की दोषपूर्ण व्यवस्था से छुटकारा पाने के केवल दो ही उपाय हैं :—

(१) इन्हें अन्य बैंकों की भांति संगठित किया। संगठित करने के दो साधन हैं—कानून बनाकर उनको उसमें फसा दिया जाय परन्तु यह तरीका सहज नहीं हो सकता। बैंकरों की कार्य-प्रणाली ही ऐसी है जिससे इनको कानून में तब तक नहीं बांध सकते जब तक ये खुद ही न चाहें। प्रयत्न किए गए परन्तु सफल न हो सके। दूसरा तरीका इन्हें सम्मेल में बांधने का भी है। रिजर्व बैंक इनसे मेल करे और राजीनामा (सम्मेल-पत्र) द्वारा इनकी कार्य-शैली निर्धारित की जाय।

(२) देश की बैंकिंग व्यवस्था इतनी पूर्ण, व्यवस्थित तथा सुगठित कर दी जाय जिससे लोगों की सभी आवश्यकताएं सरलता से पूर्ण हो सके और बैंकरों की आवश्यकता ही न हो।

कोई भी उपाय काम में लाया जाय, बैंकरों को नियन्त्रित करने की परम आवश्यकता है क्योंकि इनको नियमबद्ध किए बिना देश की बैंकिंग व्यवस्था पूर्ण एवं संगठित नहीं हो सकती और न रिजर्व बैंक देश के साख-नियन्त्रण में ही सफल हो सकता है। राष्ट्रीय सरकार ने देशभर के गावों को कोषागारों की सुविधाओं का प्रबन्ध करने के लिए जो 'ग्रामीण बैंकिंग प्रसार समिति' बनाई उससे यह स्पष्ट होता था कि या तो इन अस्त-व्यस्त बैंकरों को भविष्य में नियमबद्ध होना पड़ेगा अथवा इनको देश के बैंकिंग क्षेत्र में से बिल्कुल निकाल दिया जायगा। समिति की रिपोर्ट पर अभी तक कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया है। आवश्यकता इस बात की है कि देश के बैंकिंग कलेवर को संगठित बनाया जाय और गावों में बैंकिंग सुविधाएं बढाई जायं। यदि ऐसा हुआ तो स्वदेशी बैंकरों के दोषपूर्ण लेन-देन से छुटकारा मिल सकेगा।

प्रश्न

१—स्वदेशी बैंकर और संगठित बैंक में क्या भेद है ?

(यू०पी० १९५०; म०भा० १९५२; राज० १९५१)

२—भारतीय स्वदेशी बैंकरों की क्रियाओं का उल्लेख कीजिए। उनके दोष समझाइए और उन्हें दूर करने के उपाय भी लिखिए।

(यू०पी० १९४७; राज० १९५०)

३—'स्वदेशी बैंकरों' से आप क्या समझते हैं ? इनका नियन्त्रण करने के लिए रिजर्व बैंक ने क्या-क्या प्रयत्न किए हैं ?

(यू०पी० १९४१; राज० १९४७; म०भा० १९५१)

४—स्वदेशी बैंकर और साहूकार का भेद दर्शाइए। भारतीय बैंकिंग कलेवर में स्वदेशी बैंकरों का क्या स्थान है ?

(राज० १९५३, १९४८; म०भा० १९५०)

अध्याय २६

व्यापारिक बैंक

(Commercial Banks)

'व्यापारिक बैंक' उनको कहते हैं जो देश के व्यापार एवं उद्योगों की प्रगति के लिए अल्पकालीन ऋण देते हैं। व्यापारिक बैंक सामान्यतः अल्प-काल के लिए लोगों से राशि जमा करते हैं और फिर इस जमा-राशि को व्यापारियों के लिए उधार देते हैं। भारत में यह कार्य केवल व्यापारिक बैंकों तक ही सीमित नहीं है, इम्पीरियल बैंक, विनिमय बैंक तथा अन्य स्वदेशी बैंकर भी यह कार्य करते हैं। इनकी कार्यशील पूंजी का अधिकतर भाग, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, जनता से जमा-राशि के रूप में आता है और कुछ भाग अंश-पूंजी के रूप में भी प्राप्त होता है। भारत में रिजर्व बैंक तालिकाबद्ध बैंकों के साथ, जहां तक ऋणों के लेन-देन का सम्बन्ध है, व्यापारिक बैंक का कार्य करता है। व्यापारिक बैंकों को आज-कल नोट-निर्गमन का अधिकार नहीं रहता। वे केवल अल्पकालीन ऋण एवं साख की पूर्ति करते हैं।

व्यापारिक बैंकों की कार्य-प्रणाली

व्यापारिक बैंकों की तीन प्रमुख क्रियाएं होती हैं :—

(१) जनता से जमा-राशि स्वीकार करना;

(२) साख-सृजन तथा ऋण-प्रदाय द्वारा जनता की वित्त-शक्ति का सचार करना; तथा

(३) अन्य कार्य, जैसे एजेंसी की सेवाएं अपने ग्राहकों को देना, ग्राहकों के वित्त की सुरक्षा के लिए सुविधाएं देना, आदि।

यहां केवल यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इनका मुख्य कार्य लोगों मे भिन्न-भिन्न प्रकार से जैसे स्थिर, चालू तथा बचत लेखों पर राशि जमा करना होता है। ये बैङ्क राशि उधार देकर, लेखा खोलकर तथा स्थानीय व देशी बिलों की कटौती करके लोगो की वित्त से सहायता करते हैं। बैंकर उधार लेनेवालों के माल को अपने गोदामों में रखकर अथवा उन्हीं के गोदामों का अधिकार प्राप्त करके उस माल की साख पर भी उधार देते हैं। लगभग सभी व्यापारिक बैङ्क अल्पकालीन ऋण देते हैं। परन्तु ये ऋण तरल तथा शीघ्र भुनाए जानेवाली सिक्यूरिटियों पर दिए जाते हैं।

ऋण देने का कार्य व्यापारिक बैङ्क दो विधियो मे करते हैं—एक, वे केवल ऋण-याचक की वैयक्तिक साख पर ऋण देते हैं तथा दूसरे, वे ऋणयाचक की वैयक्तिक साख के अतिरिक्त अन्य दो व्यक्तियों की जमानत पर तथा आनुषंगिक सिक्यूरिटियो की जमानत पर ऋण देते हैं। जो ऋण अनुषंगिक तथा अन्य व्यक्तियों की जमानत के बिना दिए जाते हैं और जिनमे केवल ऋण-याचक की ही वैयक्तिक जमानत होती है उनको बिना जमानती ऋण कहते हैं। जिन ऋणों के लिए बैङ्क आनुषंगिक सिक्यूरिटियां की जमानत रखता है उन्हें जमानती ऋण कहते हैं। हमारे देश में केवल ऋणयाचक की वैयक्तिक साख पर ऋण नहीं दिए जाते। ऋणों की साख बैङ्क के कार्यक्षेत्र पर निर्भर रहती है। यदि किसी बन्दरगाह में बैङ्क-कार्यालय है तो उस स्थान का व्यवसाय विशेषतः विदेशी व्यापार का होगा। अतः ऐसे स्थानों पर व्यापारियों को जो ऋण दिए जाएंगे वे वस्तुओं की जमानतों पर अथवा वस्तुओं के अधिकार-पत्रों आदि की साख पर दिए जाएंगे। परन्तु विदेशी व्यापार के लिए ऋणों की सुविधाएं देने का काम विदेशी विनिमय बैङ्क करते हैं तथा व्यापारिक बैङ्कों को वे सुविधाएं, जो विनिमय बैङ्कों को प्राप्त होती हैं, प्राप्त न होने से यह कार्य व्यापारिक बैङ्क पूर्ण रीति से नहीं कर पाते। केन्द्रीय बैंकिंग-जांच समिति ने कहा था कि "भारत के विदेशी व्यापार को आर्थिक सुविधाएं देने में व्यापारिक बैङ्क कोई भी प्रत्यक्ष कार्य नहीं करते।" इससे यह स्पष्ट है कि व्यापारिक बैङ्क केवल

देशी व्यापार की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही करते हैं। जहां पर स्टाक एक्सचेंज का लेन-देन अधिक मात्रा में हो वहां पर व्यापारिक बैंक स्टाक एक्सचेंज की सिक्यूरिटियों की साख पर ऋण देते हैं। इसी प्रकार कृषि-व्यावसायिक क्षेत्र में, जहां पर इस प्रकार की जमानतें प्राप्त नहीं होतीं, वे कृषिजन्य वस्तुओं की साख पर ऋण देते हैं।

व्यापारिक बैंक केवल वैयक्तिक साख पर ऋण नहीं देते। वैसे तो केवल उन ग्राहकों को, जिनकी साख में बैंक को पूर्ण विश्वास होता है उनके प्रतिज्ञा अर्थ-पत्रों पर अथवा बिल एवं हुण्डियों पर ऋण मिल जाते हैं; परन्तु अपनी राशि के लिए बैंक अन्य दो साखदार व्यक्तियों की जमानत लेकर ऋण देते समय इन पत्रों पर उनके हस्ताक्षर करवा लेते हैं। इसके अतिरिक्त ये अधिविकर्ष एवं लेखा-आधार की भी सुविधाएं देते हैं जिसकी जमानत के लिए वे ग्राहकों से बंधक-अंश, ऋण-पत्र अथवा अन्य जमानतें ले लेते हैं। औद्योगिक आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति भी ये कभी-कभी करते हैं परन्तु औद्योगिक कार्यों को ऋण देने में ये बहुत ही कम हाथ बंटाते हैं। इनकी जमा-राशि अल्पकालीन होने के कारण अल्पकालीन ऋणों की सुविधा देना इनके व्यापारिक स्वरूप के अनुसार आवश्यक होता है। यदि वे ऐसा न करें तो किसी भी समय उनकी आर्थिक स्थिति खतरे में हो सकती है जिससे उनको अपना व्यापार भी बन्द करना हो सकता है।

व्यापारिक बैंक प्रथम श्रेणी के बिलों की कटौती भी करते हैं। हमारे यहां बिल-बाजार विकसित न होने से यह कार्य सीमित एवं नगण्य परिमाण में ही होता है।

व्यापारिक बैंक कृषि को साख सुविधाएं नहीं देते क्योंकि किसानों के पास जमानत आदि का अभाव रहता है तथा उनकी भुगतान-शक्ति भी अनेक कारणों से सीमित रहती है। अतः कृषि-साख स्वीकृत करने में व्यापारिक बैंकों का महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। हां, ये थोड़ी-सी साख-पूर्ति केवल कृषि-वस्तुओं के बेचने के सम्बन्ध में करते हैं जो विशेषतः स्वदेशी

बैंकरो के अथवा सहकारी बैंकों के माध्यम से ही दी जाती है। कृषि-साख की पूर्ति करने के लिए यह आवश्यक है कि कृषिज वस्तुओं को बेचने के लिए मण्डियों में सुधार किया जाय क्योंकि देहातों में भाण्डागार की सुविधाएं बहुत ही अपर्याप्त हैं।

संक्षेप में, व्यापारिक बैंकों की क्रियाओं में व्यापार के लिए राशि उधार देना, चल एवं स्थिर लेखों में राशि जमा रखना, बिलों द्वारा व्यापार एवं उद्योगों को आर्थिक सहायता देना तथा साख का निर्माण करना आदि इसी प्रकार के अन्य कार्यों का समावेश होता है।

व्यापारिक बैंकों को निम्न क्रियाएं निषिद्ध हैं :—

(१) ग्राहकों को व्यापार-संचालन के लिए स्थाई रूप से पूंजी देना,

(२) स्थायी ऋण स्वीकृत करना,

(३) एक ही ग्राहक को अधिक मात्रा में ऋण देना।

व्यापारिक बैंकों की कार्य-शैली में त्रुटियां

भारतीय व्यापारिक बैंकों की उन्नति न होने के मुख्य कारण उनकी कार्य-शैली की अनेक त्रुटियां एवं बाह्य परिस्थितियां हैं। उनकी वजह से वे अपना कार्य-क्षेत्र उतना न बढ़ा सके जितना अन्य देशों के बैंकों ने बढ़ाया है। ये त्रुटियां निम्नलिखित हैं :—

(१) ये बैंक अधिकतर पूंजी का विनियोग सरकारी सिक्यूरिटियों के खरीदने में करते हैं जिससे व्यापारिक बिलों का अधिक प्रचार नहीं होने पाता।

(२) भारत में बैंक-स्वीकृति-बिलों (Bank Acceptances) का भी अभाव है। बैंक व्यापारियों को इस प्रकार की सुविधाएं देते हैं जिससे प्रथम श्रेणी के व्यापारिक बिलों का प्रचार नहीं हो पाता तथा इनकी राशि इस प्रकार के ऋणों में ही समाप्त हो जाती है। इससे बैंकिंग के विकास में भी बाधा आती है।

सामना करना पड़ा और कई बैंकों को तो अपना व्यवसाय भी बन्द करना पड़ा।

(७) योग्य कर्मचारी तथा योग्य संचालकों एवं व्यवसायिकों के अभाव के कारण बैंकों के प्रति जनता का विश्वास न जम सका।

(८) बैंकों में पारस्परिक सहयोग का अभाव होने के कारण संकट के समय एक दूसरे की समस्या हल करने के लिए आपसी सहयोग एक दूसरे को प्राप्त नहीं होता। इतना ही नहीं, बैंकों में प्रतियोगिता व प्रतिस्पर्धा बाहुल्य है जिससे ब्याज की दर में कमी होती है और संगठित नीति का भी पालन नहीं किया जा सकता।

(९) देश में अनावश्यक स्थानों पर बैंकों की शाखाएं स्थापित हुई हैं और जहां पर साख साधनों की अधिक आवश्यकता है वहां पर बैंकिंग सुविधा अपर्याप्त मात्रा में है। इस अव्यवस्थित विकास का कारण उनकी आंग्ल-भाषा में कार्य-शैली है जो विदेशी भाषा होने के कारण केवल १०% भारतीय ही समझ पाते हैं एवं जिसकी वजह से ग्रामीण क्षेत्रों में इन बैंकों का विकास न हुआ और स्वदेशी बैंकरों का स्थान महत्त्वपूर्ण बना रहा एवं व्यापारिक बैंकों का अधिक विकास नहीं हुआ। चेक, बिल, साख-पत्र आदि सभी ऐसी भाषा में हैं जिन्हें साधारण भारतीय नहीं समझ पाता और इसलिए वह बैंकों से लेन-देन करने में असमर्थ रहता है।

व्यापारिक बैंकों की बाह्य कठिनाइयां

बैंकों की कार्य-शैली में दोष होने के अतिरिक्त उनकी कुछ ऐसी कठिनाइयां भी हैं जिनके कारण हमारे ये बैंक अधिक उन्नति नहीं कर पाये। विशेष कठिनाइयां निम्नलिखित हैं :—

(१) इन बैंकों को देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना से पहले सरकारी तथा अर्द्धसरकारी संस्थाओं से सहयोग एवं प्रोत्साहन नहीं मिला। प्रान्तीय सरकार व स्थानीय सरकारें इन बैंकों से लेन-देन नहीं करती थी

और न अपना रुपया ही जमा करती थी जिससे इन बैंकों की साख बढ़ी और जमा-राशि में भी कोई वृद्धि न हुई। विदेशी सरकार ने यहीं अपने लेन-देन से योरपीय बैंकों को प्रोत्साहित किया और उनकी साख व जमा-राशि बढ़ाई।

(२) विदेशी सरकार की स्वतन्त्र व्यापारिक नीति के कारण देश का लाभदायक व्यवसाय विदेशी विनिमय-बैंकों के एकाधिकार में था। यदि कभी भारतीय बैंक इसमें भाग लेना भी चाहते थे तो इन बैंकों की प्रतियोगिता में ठहर नहीं पाते थे। इसलिए इनकी विशेष उन्नति नहीं हुई। दूसरे, विदेशी बैंकों के साधन अनेक थे और विदेशों में उनकी शाखाएं होने के कारण उनकी साख इनकी अपेक्षा अधिक थी।

(३) विनिमय-बैंकों ने अपना व्यापार केवल आयात-निर्यात केन्द्रों तक ही सीमित न रखते हुए देश के आन्तरिक व्यापारिक केन्द्रों में भी अपनी शाखाएं खोल दीं एवं वे आन्तरिक क्षेत्रों में व्यापारिक सुविधाएं बढ़ाकर भारतीय बैंकों से स्पर्धा करने लगे। ये विनिमय-बैंक सुसंगठित एवं अच्छी आर्थिक स्थिति में होने के कारण जनता को आकर्षित करते थे जिससे इनके पास राशि अधिक परिमाण में आती थी। इस प्रकार विनिमय-बैंकों की प्रतियोगिता में भारतीय बैंक न ठहर सके और उनका व्यापार-क्षेत्र सीमित रह गया। इसके साथ-साथ विदेशी बैंकों के कर्मचारी भारतीय बैंकों के विरुद्ध जनता में भी अविश्वास उत्पन्न कर देते थे जिसके कारण नये बैंक नहीं पनपने पाते थे और न पुराने ही बैंकों का कार्य-क्षेत्र बढ़ पाता था। इतना ही नहीं, विदेशी बैंकों का समाशोधन-गृहों में अधिक प्रभाव होने के कारण भारतीय बैंकों को समाशोधन-गृहों की सदस्यता नहीं मिल पाती थी। इन कारणों से भारतीय बैंकों की प्रगति में अनेक बाधाएं उपस्थित हुईं।

(४) देश के व्यापार का अधिकांश भाग अभारतीयों के हाथ में है। वे सभी अभारतीय बैंकों से लेन-देन करते रहे। भारतीय बैंकों को इस प्रकार से अधिक व्यवसाय नहीं मिल सका। इतना ही नहीं, अभारतीय

व्यापारियों के भारतीय एजेन्टों को भी बाध्य किया जाता रहा कि वे अभारतीय बैंकों से ही लेन-देन करें। इस प्रकार हमारे बैंक सदैव असुविधा में रहे।

(५) भारतीय व्यापारिक बैंकों को एक ओर इम्पीरियल बैंक से तथा दूसरी ओर 'स्वदेशी बैंकरों' से प्रतियोगिता करनी पड़ती है। इम्पीरियल बैंक की स्थिति विशेष अधिकृत है, यह अर्द्ध-सरकारी बैंक है। अतः इसके पास साधन भी अनेक हैं और जनता का विश्वास भी इसमें अधिक है। यह अधिक लेन-देन कर सकता है तथा इसकी जमा-राशि भी अधिक होती है। इसकी प्रतियोगिता अन्य भारतीय बैंक नहीं कर पाते। दूसरी ओर, 'स्वदेशी बैंकर' अपनी निज की राशि से लोगों को बिना किसी असुविधा के स्थान-स्थान पर उधार देते हैं, जिससे देश की ग्रामीण जनता इन्हीं लोगों से लेन-देन करती है क्योंकि इनकी कार्य-शैली सरल होती है और उधार लेने में बैंकों की तरह अधिक असुविधा नहीं होती। इस प्रकार व्यापारिक क्षेत्रों में इम्पीरियल बैंक की तथा ग्रामीण क्षेत्रों में 'स्वदेशी बैंकरों' की प्रतियोगिता के कारण व्यापारिक बैंकों को अनेक असुविधाएं एवं अड़चनें होती हैं।

(६) गत वर्षों में अनेक बैंकों पर आए हुए संकट के कारण जो अनेक बैंक नष्ट हुए उनसे भी बैंकिंग प्रणाली को भारी धक्का लगा। लोगों में बैंकों के प्रति एक प्रकार का अविश्वास-सा हो जाने से राशि जमा करना भी कम हो गया तथा लोगों ने बैंक स्थापित करना भी कम कर दिया। इससे बैंकों की उन्नति रुक गई।

(७) देश के बहुत से बैंक अपर्याप्त पूंजी से काम आरम्भ कर देते हैं जिससे उन्हें आगे चलकर ऊंची ब्याज-दर देकर जमा-राशि लाने का प्रयत्न करना पड़ता है और जब अधिक ब्याज-दर देते हैं तो अधिक लाभ कमाने के लिए वे कभी-कभी अपनी राशि ऐसे कार्यों में लगा देते हैं जो आगे चलकर नष्ट हो जाय और जिसमें अधिक खतरा हो। अतः ऐसे बैंक

स्वय तो नष्ट होते ही हैं, देश की बैंकिंग व्यवस्था पर भी बहुत बुरा प्रभाव डालते हैं। इससे अन्य बैंकों की उन्नति रुक जाती है।

(८) हमारे देश में हिन्दू और मुस्लिम उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम ऐसे हैं जिनकी वजह से बैंकों को ग्राहकों से ऋण-भुगतान के समय अनेक कठिनाइयां होती हैं। गिरवी सम्बन्धी भी अनेक वैधानिक असुविधाएं होती हैं जिनकी वजह से गिरवी पर ऋण देने के लिए बैंक सहज में तैयार नहीं होते।

इन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि व्यापारिक बैंकों की उन्नति न होने का एकमात्र और विशेष कारण देश में अन्य बैंकों के साथ प्रतियोगिता है। केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी ने इस परिस्थिति को निम्न शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"भारतीय व्यापारिक बैंकों को एक तरफ 'स्वदेशी बैंकरों' की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है तो दूसरी तरफ उन्हें विदेशी विनिमय बैंकों तथा इम्पीरियल बैंक से टक्कर लेनी होती है। अत: इस भांति वे आपत्ति सन्देहात्मक परिस्थितियों तथा कठोर प्रतियोगिता में जीवन निर्वाह करते हैं।"

व्यापारिक बैंकों की उन्नति के सुझाव

उक्त दोषों और कठिनाइयों का निवारण किए बिना हमारे देश के व्यापारिक बैंक आशातीत उन्नति नहीं कर सकते और जब तक हमारी बैंकिंग प्रणाली उन्नत न होगी, देश की कृषि, व्यापार तथा उद्योग भी उन्नत नहीं हो सकते। बैंकिंग की उन्नति में बाधा उत्पन्न करनेवाले जो अनेक कारण थे उनमें से बहुत से देश के स्वतन्त्र होने से दूर हो चुके हैं। देश की समुचित बैंकिंग उन्नति के लिए एवं उनका विकास सुदृढ़ आधार पर आधारित करने के लिए अब देश में बैंकिंग विधान भी १९४९ में स्वीकृत हो चुका है। इसी प्रकार देश-हित में बैंकिंग व्यवस्था का समुचित नियन्त्रण करने एवं सरकार की मौद्रिक एवं आर्थिक नीति को पूर्णरूपेण सफल

बनाने के लिए रिजर्व बैंक का भी राष्ट्रीयकरण हो चुका है। इनके अलावा फिर भी अभी बहुत से दोष ऐसे हैं जिनको दूर करने के लिए निम्न सुझाव उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं :—

(१) व्यापारिक बैंकों के विकास एवं उन्नति के लिए भारतीय सरकार को चाहिए कि वह इन बैंकों को प्रोत्साहन दे। प्रोत्साहन कई प्रकार से दिया जा सकता है—करों में सुविधा देकर, अन्य सुविधाएं देकर तथा इनसे लेन-देन का सम्बन्ध स्थापित करके इनकी साख बढ़ाकर। जिस प्रकार से सरकार ने सहकारिता आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया था उसी प्रकार इस प्रणाली को भी उन्नत करना चाहिए।

(२) बैंकों की पारस्परिक प्रतियोगिता को समुचित रुप से नियन्त्रित किया जाय। विदेशी विनिमय बैंकों को केवल बन्दरगाहों तक ही सीमित रक्खा जाय, उन पर देश के अन्य भागों से अपनी वर्तमान शाखाएं हटाने के लिए कहा जाय एवं नई शाखाएं खोलने के लिए प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। 'स्वदेशी बैंकरों' को भी कोई नई योजना बनाकर नियमबद्ध किया जाय जिससे वे इनकी समता में आ जायं और प्रतियोगी न बने रहें। किन्तु इसमें यह ध्यान में रखने की बात है कि इनका नियंत्रण इस सावधानी से होना चाहिए जिससे ग्रामीण साख-सुविधाओं में अड़चन न हो। इसी प्रकार का प्रतिबन्ध व्यापारिक बैंकों की पारस्परिक प्रतियोगिता को दूर करने के लिए भी आवश्यक है। अच्छा हो कि रिजर्व बैंक इन बैंकों की ब्याज-दरों का नियमन कर दे जिससे अधिक राशि आकर्षित करने के लिए अधिक ब्याज-दर का प्रलोभन न दिया जा सके।

(३) केन्द्रीय बैंकिंग-जांच कमेटी ने सिफारिश की है कि भारतीय बैंकिंग प्रणाली को प्रोत्साहन देने के लिए यह आवश्यक है कि बैंकों को नई-नई शाखाएं खोलने का अवसर दिया जाय और शाखा खोलते समय देश का केन्द्रीय बैंक स्वयं उनमें कुछ राशि जमा करे और जब वे समर्थ हो जायं तो राशि धीरे-धीरे निकाल ली जाय। इसी प्रकार केन्द्रीय बैंक बैंकों को राशि भेजने व मांगने की एवं बिलों के पुर्न-भापण की सुविधाएं भी दे। इनमें से

कुछ सुविधाएं रिजर्व बैंक ने दी भी हैं, जैसे राशि भेजने-मगाने की सुविधाएं इम्पीरियल बैंक के माध्यम से दी जाती हैं। परन्तु ये सुविधाएं केवल उन्हीं स्थानों पर प्राप्त हैं जहा केन्द्रीय बैंक का कार्यालय हो तथा राशि भेजने-मंगाने का शुल्क भी अधिक है, इसलिए ये सुविधाएं अभी अपर्याप्त हैं।

(४) बैंकों को अपनी कार्यशैली में भी कुछ सुधार करने चाहिये। यदि सम्भव हो तो आंग्ल-भाषा के स्थान पर प्रादेशिक भाषाओं में कार्य आरम्भ कर देना उचित होगा तथा केवल विदेशी व्यवहारों के लिए ही आंग्ल-भाषा उपयोग में लाया करे। विशेष प्रकार की असुविधाएं लोगो पर न लादी जायं जिससे लोगो को राशि जमा करने व निकालने मे सुविधा हो।

(५) बैंकों को चाहिए कि वे अपने प्रतियोगियों से कुछ लाभ उठावे। 'स्वदेशी बैंकरों' से मितव्ययिता तथा कार्य-सुगमता सीखें तथा विदेशी बैंकों तथा इम्पीरियल बैंक से कार्य-कुशलता सीखी जाय। विदेशी बैंको को सहयोगी बनाया जाय। बैंक आपस में भी सहयोगी बनकर रहें तथा संकट के समय एक दूसरे की सहायता करें।

(६) बैंकों की शाखाएं बढाने का एक और उपाय है। यदि कोई बैंक किसी ऐसे स्थान पर शाखा स्थापित करना चाहे जहां उस शाखा के लिए भरपूर व्यवसाय न मिल सके तो उस बैंक को किसी बड़े शहर के आसपास जहां उस बैंक की शाखा पहले से हो, एक छोटी शाखा स्थापित करनी चाहिए और उसे सप्ताह के किसी एक या दो दिन खुलवाना चाहिए जब कि पास के बड़ी शाखा वाले कर्मचारी ही उसका काम कर सकें। इस प्रकार शाखा का व्यय भी कम होगा, बैंकिंग सुविधाए भी बढ़ सकेंगी और लोगों को लाभ भी होगा। इम्पीरियल बैंक ने इसी प्रकार शाखा बढ़ाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया है और ऐसी अनेक शाखाएं स्थापित की हैं।

(७) बैंको को कुशल कर्मचारी नियुक्त करने चाहिए और जहा तक हो सके ऐसे लोग रक्खे जायं जो बैंकिंग प्रणाली से परिचित हों। इस कार्य में 'स्वदेशी बैंकरों' से अधिक सहायता मिल सकती है। व्यापारिक केन्द्रों में

बैंकों के योग्य कर्मचारियों के निर्माण के उनकी शिक्षा का प्रबन्ध सार्वदेशिक बैंक संघ द्वारा किया जाय व ग्रामीण क्षेत्रा के विकास के लिए वे स्वदेशी बैंकरों को अपना माध्यम बनाएं अथवा यथासभव उनको अपना अभिकर्त्ता बना लें जिससे स्वदेशी बैंकरों के क्षेत्र में भी इनका कार्य-विस्तार सफलतापूर्वक हो सके।

(८) बैंकों को ग्राहकों की सुविधा का अधिक ध्यान रखना चाहिए। इनको अपनी कार्यशैली का औपचारिक भाग यथासंभव टालना चाहिए तथा कार्य समय ऐसा रखना चाहिए जो लोगों के लिए सुविधाजनक हो। इस विषय में कृषि, व्यापार तथा उद्योग की सामयिक सुविधाओं को भी सामने रखना चाहिए।

(९) जहा तक हो सके बैंकों को देश में 'एक व्यक्ति, एक बैंक' के सिद्धान्त को अपनाना चाहिए। इसके लिए भावी ग्राहकों को यदि उनका लेखा किसी अन्य बैंक में है तो लेखा खोलने से मना करना चाहिए। इस प्रथा को अपनाने मे वे लोगो की व्यक्तिगत साख पर ऋण दे सकेंगे तथा इस प्रकार के ऋणों को प्रोत्साहन देकर, बैंक रोक-ऋण प्रथा (cash credit) को क्रमशः कम कर सकेंगे। इनको चाहिए कि बिलों का प्रयोग बढ़ावे एवं व्यापारिक बिलों का आहरण अधिक मात्रा में किया करे।

(१०) बैंकों को ध्यान रहे कि प्रतियोगिता के कारण उनकी ब्याज-दर ऐसी न हो जाय जो उलटे हानि का कारण बन जाय। लोगों में जागृति पैदा होनी चाहिए कि वे नई-नई शाखाएं खोलने में योग दें। समर्थ लोग नए-नए बैंक भी स्थापित करें। स्थानीय लोगों को ही वहां की शाखा के संचालक पद पर नियुक्त करना चाहिए जिससे उनके कारण जनता में विश्वास पैदा हो। स्थानीय व्यक्ति ही वहां की जनता को राशि जमा करने के लिए उकसा सकते हैं। यदि आवश्यकता हो तो स्थानीय जनता को लेन-देन के व्यवहारों में अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक रिआयत दी जा सकती

है। स्थानीय बैंक भी स्थापित होने चाहिए। इस प्रकार देश में बैंकिंग प्रणाली का विकास होगा और बैंक संगठित होंगे।

(११) जमाकर्त्ताओं की जमा-राशि को सुरक्षित रखने की बैंकों को विशेष चिन्ता करनी चाहिए। अमरीका की भांति हमारे देश में जमा-राशि की सुरक्षा के लिए जमा-राशि का बीमा करने के लिए जमा-बीमा कम्पनियां होनी चाहिए। इससे देश के बैंकिंग कलेवर को बल मिलेगा। यद्यपि यह व्यवस्था है तो ठीक, पर इस योजना को कार्यान्वित करना कठिन है जब तक कि देश के बैंकिंग-स्तर में सुधार होकर उसकी विषमता दूर न हो जाय। (अर्थमंत्री द्वारा संसद में दिया गया भाषण—२२ नवम्बर १९५०—The Hindustan Times, 24-11-50)

देश में बैंकिंग संकट तथा उसके कारण

बैंकों पर देश मे अनेक बार संकट आया। बड़े-बड़े विशाल बैंक इन सकटों के शिकार बन गये। बैंको पर सकट आने के कई कारण रहे हैं। कारण कुछ भी हों; १९१३-१५ का संकट-काल बैंकिंग इतिहास में एक भय की वस्तु है। सब सकटो मे यह सकट-काल अद्वितीय था। १८२९-३२ में सकट आया, १८५७ में बैंक फेल हुये तथा १८६३-६६ में भी संकट था जिसमें विपुल पूंजी नष्ट हुई; परन्तु १९१३-१५ के संकट-काल में भारतीय बैंकों की परिदत्त पूंजी का ३१ प्रतिशत नष्ट हुआ, तथा बहुत से जमा करने वाले भी नष्ट हो गए। इसके प्रमुख कारण निम्न बतलाए जाते हैं :—

(१) एकमात्र कारण बतलाया जाता है कि "भारतीय लोग बैंक का प्रबन्ध करने के योग्य नहीं" परन्तु यह बात सर्वथा ठीक नहीं। इस दोषारोपण का करारा जवाब पं० मदनमोहन मालवीय ने दिया था कि "ऐसे संकट सभी देशों पर आए हैं और किसी देश के बैंकिंग उत्थान के लिये बैंकिंग सकट आना अनिवार्य अंग है।" लाला हरिकिशन लाल ने बतलाया कि ऐसे अनेक बैंक हुए हैं जिनका प्रबन्ध व संचालन योरपीय लोगों के हाथ में था तो भी सकट के कारण नष्ट हो गये। ऐसे बैंकों की संख्या लाला जी

ने ५० आंकी थी। यह सच है कि बैंकों के नष्ट होने का एक प्रमुख कारण प्रबन्धकों की अयोग्यता भी है परन्तु यह बुराई केवल भारतीयों के साथ ही नहीं थी।

(२) स्वदेशी आन्दोलन के परिणामस्वरूप बैंकों की स्थापना ऐसे व्यक्तियों द्वारा हुई थी जिनको इस क्षेत्र का न तो पूर्ण अनुभव ही था और न वे भूतपूर्व बैंकिंग संकटों से परिचित ही थे। इस कारण से इन्होंने बैंकिंग सिद्धान्तों का पूर्णतया पालन नहीं किया।

(३) बैंकों ने जनता को धोखा देने के लिए अपनी अधिकृत पूंजी के बड़े-बड़े आंकड़ों के विज्ञापन किये तथा प्रार्थित पूंजी और परिदत्त पूंजी को छिपा रखा, जिसका अनुपात अधिकृत पूंजी से बहुत कम था और इस कारण से इन्हें कार्यशील पूंजी के लिए जनता की जमा-राशि पर अवलम्बित रहना पड़ा।

(४) अधिकाधिक राशि को जमा करवाने के लिए इनको राशि पर अधिक व्याज देना परमावश्यक था। इसी प्रकार इनको अधिक व्याज देने के लिए अधिक लाभ कमाना भी आवश्यक था। इसलिए इन बैंकों ने अपनी राशि का विनियोग दीर्घकालीन एवं औद्योगिक ऋणों के प्रदाय में किया जिसके फलस्वरूप जब जमा करनेवालों की ओर से माग हुई तब बैंकों का भुगतान करने में असमर्थता प्रतीत हुई और उन्हें अपना व्यवसाय बन्द करना पड़ा। बैंकों ने अल्पकालीन राशि से दीर्घकालीन औद्योगिक ऋण दिये। दी पीपुल्स बैंक ऑव लाहौर, ताता इण्डस्ट्रियल बैंक तथा अमृतसर बैंक क्रमशः १९१३, १९२३ और १९१४ में विलीन हुए।

(५) जमा-राशि का सट्टेबाजी में विनियोग भी अनेक बैंकों ने किया जो बैंकिंग व्यापार के लिए खतरनाक एवं वर्जित है।

(६) अनेक बैंकों के संचालक एवं प्रबन्धक ऐसे थे जिनको बैंकिंग व्यवसाय का किसी भी प्रकार का न तो ज्ञान ही था और न अनुभव ही। अनेक संचालक एवं प्रबन्धक स्वार्थी भी थे जिन्होंने अपने संचालित बैंकों की

राशि से अन्य स्वसंचालित उद्योगों को ऋण-राशि दे रखी थी। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने कुटकामों एवं बेईमानी से झूठे लेखे दिखाकर अपने बैंकों को मरवा दिया।

(७) अनेक बैंक केवल विश्वास टूट जाने के कारण विलीन हुए। किसी न किसी कारण से जनता का विश्वास उनसे उठ गया किन्तु इनमें भी कोई न कोई व्यवस्था की शिथिलता ही थी।

(८) समुचित बैंकिंग विधान का अभाव था।

(९) देश में बैंकिंग विकास के लिए केन्द्रीय बैंक नहीं था जो देश की बैंकिंग व्यवस्था को नियन्त्रित करता तथा संकट में डूबते हुए बैंकों को सहायता प्रदान करता।

(१०) अधिकतर बैंकों के अंशधारी बैंकिंग व्यापार से अनभिज्ञ थे। उन्होंने अपने बैंक की समुचित प्रगति की ओर दुर्लक्ष भी किया तथा बैंक की वास्तविक स्थिति जानने का उन्होंने कष्ट नहीं किया। उन्होंने कभी भी बैंकों के प्रबन्ध की ओर ध्यान नहीं दिया और सारा प्रबन्ध प्रबन्धकों को ही सौंप दिया। इस प्रकार बैंकों पर संकट आया।

परन्तु संकट का अर्थ सदैव आपत्ति ही नहीं समझना चाहिए। इससे एक विशेष लाभ भी हुआ—देश के सारे कमजोर बैंक नष्ट हो गये और इस प्रकार देश की बैंकिंग व्यवस्था निखर गई। कुरीतियों की भी लगभग समाप्ति हो गई।

पांच महान बैङ्क—निम्न बैंकों को 'पाच महान् बैंकों" के नाम से पुकारा जाता है:

	स्थापन-तिथि	कार्यालय-संख्या
(१) सेन्ट्रल बैंक ऑव इंडिया लि०	१९११	३०२
(२) बैंक ऑव इण्डिया लि०	१९०६	३५
(३) इलाहाबाद बैंक लि०	१९२३	७८
(४) पंजाब नेशनल बैंक लि०	१८९४	२००
(५) बैंक ऑव बड़ौदा लि०	१९०८	३५

प्रश्न

१—भारतीय स्कंध बैंकों की धीमी उन्नति के क्या कारण हैं? समझा कर लिखिए।

(यू०पी० १६५४)

२—मिश्रित पूंजी वाले बैंकों के कार्य बताइए। उनके दोषों का विवरण दीजिए और उन्हें दूर करने के उपाय सुझाइए।

(यू०पी० १६५२, १६४७; राज० १६४६, १६४७)

इसीलिए ये भारतीय बैंकों से कुछ अलग समझे जाते हैं। वर्तमान विदेशी विनिमय बैंकों को हम उनके व्यापार की दृष्टि से दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) ऐसे बैंक जो विदेशी बैंको की एजेन्सी हैं और भारत में काम करते हैं परन्तु भारत में जिनका व्यवसाय सीमित है और उनके कुल व्यवसाय का $\frac{1}{50}$ भाग ही है, जिसमें भारत की जमा-राशि उनकी कुलजमा-राशि की एक-चौथाई है। ऐसे बैंक अमेरिकन एक्सप्रेस कम्पनी, योकोहामा स्पीसी बैंक, मितसुई बैंक हैं। इंगलैंट का लायड्स बैंक इसी श्रेणी में आता है।

(२) ऐसे बैंक जिनके प्रधान कार्यालय चाहे विदेशों मे हैं परन्तु जिनका अधिकांश व्यवसाय भारत में है और जिनकी कुल जमा-राशि का २५ प्रतिशत से अधिक भाग भारत की जमा-राशि है। ऐसे बैंक निम्न हैं—चार्टर्ड बैंक आव इंडिया, आस्ट्रेलिया एण्ड चाइना; नेशनल बैंक आव इंडिया; मरकैन्टाइल बैंक आव इंडिया; ग्रिंडले एण्ड कम्पनी; ईस्टर्न बैंक लि० आदि।

लगभग सभी देशों ने, जिनका व्यापार भारत से है, अपने-अपने बैंक इस देश में स्थापित कर रक्खे हैं। केवल बेल्जियम और इटली ही ऐसे दो देश हैं जिनका व्यापार भारत से चलता है परन्तु जिनके विनिमय बैंक हमारे देश में नहीं हैं।

भारतीय व्यापारिक बैंक और विदेशी व्यापार

ऐसा देखने में आता है कि विदेशी विनिमय बैंकों ने भारत के विदेशी व्यापार में एकाधिकार रक्खा है और भारत के बैंकों ने इस ओर अधिक भाग नहीं लिया। इसके कारण स्पष्ट हैं—इम्पीरियल बैंक, जो भारत का सबसे अधिक बलवान् व्यापारिक बैंक है और जो अपने साधनों के अनुरूप विनिमय का व्यवसाय कर सकता था, १९३५ तक नियमबद्ध था और काम नहीं कर सका। परन्तु रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद विदेशी विनिमय व्यापार

करने की इसे स्वतन्त्रता दी गई, फिर भी इम्पीरिल वैंक ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। दूसरे व्यापारिक वैंकों के पास इतने साधन नहीं थे कि वे भिन्न-भिन्न देशों में शाखाए स्थापित करते। विदेशी विनिमय वैंकों के पास अधिक साधन हैं और वे इस कार्य को भली प्रकार कर सकते हैं। यदि भारत के वैंक भी इस काम को करते तो विदेशी वैंकों की प्रतियोगिता में टिक नहीं सकते थे। भारत के वैंकों की वाहर के देशों में इतनी शाखाएं भी नहीं हैं जिनके द्वारा विदेशी विनिमय व्यवसाय किया जा सके। इन वैंकों के पास जितनी पूंजी एवं जमा-राशि है, वह देशी व्यापार के लिए ही पर्याप्त हो पाती है। अतः इस प्रकार विदेशी व्यापार में विदेशी विनिमय वैंकों का ही एकाधिकार रहा और भारत के वैंक पीछे रह गये। अब तालिकाबद्ध वैंकों ने विदेशी विनिमय का कार्य आरम्भ कर दिया है। सेन्ट्रल वैंक ऑव इंडिया ने १९३६ में इंगलैंड में सेन्ट्रल एक्सचेन्ज वैंक ऑव इंडिया स्थापित की परन्तु १९३८ में वह वार्कले वैंक लन्दन में विलीन कर दी गई। १९४६ में वैंक ऑव इंडिया ने इस कार्य के लिए लन्दन में एक शाखा स्थापित कर दी है तथा १९४९-५० से इस वैंक ने जापान में भी व्यवसाय करना आरम्भ कर दिया है। युनाइटेड कमर्शियल वैंक ने इंगलैंड तथा मलाया में शाखाए स्थापित की हैं और अमरीका में भी शाखाएं स्थापित करने पर विचार कर रहा है। आवश्यकता इस वात की है कि भारतीय वैंकों के हाथ में ही यह व्यापार केन्द्रित रहे जिससे लाखों रुपयों की अदृश्य आय कमाई जा सके। अब प्रश्न यह होता है कि भारत के वैंको ने अभी तक विदेशी व्यापार की सुविधा के लिए विदेशों में शाखाएं स्थापित क्यों नहीं कीं? इस कार्य में वैंकों को निम्न असुविधाएं रही हैं :—

(१) भारतीय वैंकों को विदेशी मुद्रा-मंडियों में अपनी साख जमाने के लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता है जिससे वे विदेशों में अधिक व्यवसाय खींच सके। परन्तु इन वैंकों की पूंजी वहुत कम है जिससे इनको विदेशों में व्यवसाय नहीं मिल सकता।

(२) भारतीय वैंकों के आर्थिक साधन वहुत कम रहे तथा उनका

आन्तरिक व्यापार-क्षेत्र बहुत अधिक रहा। इस कारण विदेशी विनिमय व्यापार की अपेक्षा उनके साधनों का भारत में ही अधिक लाभदायक उपयोग होता रहा, अतः भारतीय बैंकों ने विदेशी विनिमय व्यापार को नहीं अपनाया।

(३) यदि भारतीय बैंक विदेशों में शाखाएं स्थापित भी करते तो कुछ समय तक ये हानि पर ही चलाने होते और यह हानि बर्दाश्त करना इन बैंकों की सामर्थ्य के बाहर की बात है। अतः भारतीय बैंक इस काम को नहीं कर सके।

(४) विदेशी विनिमय का कार्य करने के लिए कुशल कर्मचारियों तथा विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है। परन्तु जहां भारतीय व्यापार के लिये ही कुशल कर्मचारी प्राप्त नहीं होते वहां विदेशी विनिमय के विशेषज्ञ भारत में प्राप्त होना असंभव था।

(५) यह भी निश्चित है कि यदि भारतीय बैंक विदेशों में शाखाएं भी खोलें तो इनको वहां जमा-राशि प्राप्त नहीं हो सकती जैसे कि विदेशी बैंकों को हमारे देश में प्राप्त हो जाती है। इसका कारण भारतीय बैंकिंग की कार्य-क्षमता विदेशी बैंकों की तुलना में कम होना एवं विदेशियों में राष्ट्रीय भावना का अधिक तीव्रता से काम करना रहा। इसका भारतीयों में आज भी अभाव है।

(६) भारतीय बैंकों के प्रधान कार्यालय भारत में होने से वे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-मण्डियों से बिलकुल अलग ही रह जायेंगे जिससे उनको अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक परिस्थिति का ज्ञान भी न हो सकेगा और न उन्हें आयात-निर्यात बिल क्रय-विक्रय और संग्रहण के लिए ही मिल सकेंगे। विदेशी बैंकों के प्रधान कार्यालय लन्दन आदि केन्द्रों में हैं जहां से उनको ये सब सुविधाएं मिल सकती हैं।

(७) विदेशी बैंकों की कट्टर प्रतियोगिता।

विदेशी विनिमय बैंकों की क्रियाएं

विदेशी विनिमय बैंकों की क्रियाओं को तीन भागों में बांटा जा सकता है:

(क) भारत के आयात-निर्यात में सहायता देना—भारत के बन्दरगाहों से विदेशी बन्दरगाहों तथा विदेशी बन्दरगाहों से भारतीय बन्दरगाहों तक माल लाने-ले जाने में आर्थिक सहयोग देना।

(ख) भारत के बन्दरगाहों से आन्तरिक नगरों तथा आन्तरिक नगरों से बन्दरगाहों तक माल लाने-लेजाने में सुविधा प्रदान करना।

(ग) विदेशी व्यापार में सुविधा देने के अतिरिक्त विदेशी विनिमय बैंक अन्य सभी प्रकार का बैंकिंग व्यवसाय भी करते हैं।

विदेशी विनिमय बैंकों की कार्यशैली

इन बैंकों की कार्यशैली का अध्ययन हम इनकी क्रियाओं के आधार पर करेंगे—

(क) भारत के आयात-निर्यात मे सहायता देने की पद्धति इस प्रकार है—जब कोई भारतीय व्यापारी इंगलैण्ड को माल निर्यात करे तो वह आयातक के नाम विदेशी विनिमय-बिल लिखकर (जिसके साथ बीजक गोप-लेखे तथा जहाजी रसीद भी लगानी होगी) भारत में किसी विनिमय बैंक को (जिसकी शाखा इंगलैण्ड में भी हो) देकर राशि प्राप्त कर लेगा। यह विनिमय बैंक इस बिल को अपनी इंगलैण्ड की शाखा को भेज देगा। बिल दो प्रकार का लिखा जा सकता है—(१) भुगतान-बिल, (२) स्वीकृति बिल। यदि यह भुगतान-बिल हुआ तो विनिमय-बैंक इंगलैण्ड में आयात करनेवाले व्यापारी से बिल का भुगतान ले लेगा। यदि बिल स्वीकृति बिल हुआ तो व्यापारी उसे स्वीकार करके विनिमय-बैंक को लौटा देगा। विनिमय-बैंक उसे बिल की अवधि तक अपने पास रखकर निश्चित तिथि पर उसका भुगतान ले सकता है अथवा उसकी मुद्र-मंडी मे उसी समय कटौती करा सकता है। इस प्रकार निर्यात करनेवाले को तुरन्त राशि मिल जायेगी

तथा विनिमय बैंक भी इंगलैण्ड में राशि प्राप्त कर लेगा। यह कार्य तभी सम्भव हो सकता है जब कि विनिमय-बैंक की शाखा भारत तथा इंगलैण्ड दोनों स्थानों में हो।

इसी प्रकार यदि किसी भारतीय व्यापारी ने माल आयात किया तो निर्यातक आयातक के नाम विनिमय-बिल लिखकर इंगलैण्ड में किसी विनिमय-बैंक को दे देगा। वह बैंक उसको भारत-स्थित अपनी किसी शाखा को भेज देगा। यह शाखा भारतीय आयातक से भुगतान कराके (यदि बिल भुगतान-बिल है) अथवा स्वीकृत कराके जहाजी रसीद आदि व्यापारी को दे देगा जिनकी सहायता से उसे माल मिल जायगा। अवधि के पश्चात् बैंक उसका भुगतान व्यापारी से ले लेगा।

यदि माल भारत में किसी ऐसी व्यापारिक संस्था ने मंगाया है जिसकी शाखा इंगलैण्ड में भी है तो निर्यातक इंगलैण्ड के विनिमय-बैंक के नाम बिल लिखकर उसमें वहीं पर स्वीकृत कराके उसकी लन्दन-मुद्रा-मंडी में ही कटौती करा लेगा। लन्दन-स्थित बैंक उस बिल को स्वीकृत कराके जहाजी रसीद, आरोप-पत्र तथा बीजक आदि तीनों विपत्र भारत में अपनी शाखा को भेज देगा। भारत-स्थित शाखा आयातक से राशि वसूल करके इन इन विपत्रों को उसे दे देगी और यह संग्रहीत राशि उस बिल की अवधि समाप्त होने से पहले ही इंगलैण्ड भेज दी जायगी।

(ख) भारत के बन्दरगाहों से आन्तरिक नगरों तथा आन्तरिक नगरों से बन्दरगाहों तक माल लाने-लेजाने में सुविधा प्रदान करने की पद्धति इस भांति है—इनको यह कार्य करना इसलिए संभव होता है कि इन्होंने अपनी शाखाएं केवल बन्दरगाहों अथवा आयात-निर्यात केन्द्रों तक ही सीमित न रखते हुए देश के व्यापारिक केन्द्रों में भी खोल रक्खी हैं—उदाहरणार्थ, जब नागपुर का कोई व्यापारी लंदन से आयात करता है तो उसके नाम लिखा गया विनिमय बिल चार्टर्ड बैंक की नागपुर शाखा को भेज दिया जायगा जहां पर उसे जहाजी रसीद आदि मिल जायेंगे तथा वह भुगतान

भी कर देगा। इसी प्रकार यदि उसे निर्यात करना है तो वह अपना लंदन के व्यापारी अथवा बैंक पर आहरित किया हुआ विनिमय बिल स्थानीय शाखा को देकर अपना भुगतान वहीं प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार इनकी शाखाएं होने से व्यापारी का आयात-निर्यात होने में व्यय भी कम होता है तथा सुगमता भी होती है क्योंकि उनको वहीं रहते हुए आयात-निर्यात एव विदेशी विनिमय की सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं और बन्दरगाहों तक जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(ग) अन्य सभी प्रकार के बैंकिंग व्यवसाय करने का पद्धति—भारतीय जनता से राशि जमा करके, ऋण देकर तथा एजेंसी का काम करके ये बैंक इम्पीरियल बैंक तथा देश की व्यापारिक बैंकों के कट्टर प्रतियोगी बन बैठे हैं। भारतीय बैंकों की अपेक्षा इनके साधन अधिक तथा अनेक होने के कारण लोगों का इनमें गहरा विश्वास है और इसलिए इनकी जमा-राशि भी अधिक है। ये देश के आन्तरिक व्यापार में भी सहायता करते हैं देहली के कपड़े का व्यापार, कानपुर के चमड़े का व्यापार तथा बंगाल के जूट व्यापार को इनसे अधिक सहायता मिलती है। मारवाड़ी बैंकरों से ये बहुत लाभ कमाते हैं। पहिले ये बैंक सोने-चादी के आयात-निर्यात में बड़ी सहायता करते थे परन्तु यह काम अब बहुत कम हो गया है।

इस प्रकार विदेशी विनिमय बैंकों ने देश में अपने अनुकूल स्थिति पैदा कर ली है। इस समय देश में पन्द्रह विदेशी विनिमय बैंक हैं। इतने बैंक स्थापित हो जाने का एकमात्र कारण यही है कि भारत सरकार की ओर से 'खुला-द्वार नीति' (Open-Door Policy) रही और विदेशी बैंक आते रहे। परन्तु इस समय इसके विषय में कड़ी आलोचना है। इसलिए सम्भव है अब अन्य बैंक न आने पावें।

विनिमय बैंकों के दोष एवं उनके विरुद्ध शिकायतें

इनकी कार्यशैली एवं क्रियाओं के विरुद्ध अनेक शिकायतें हैं। कह

जाता है कि उन्होंने अपना व्यवसाय केवल विदेशी विनिमय के लेन-देन तक ही सीमित न रखते हुए अन्य क्षेत्रों में भी बढ़ाया जिसके कारण भारतीय बैंक उन्नति न कर सके। इतना ही नहीं, इन्होंने भारतीय बैंकों से पूर्णतया प्रतियोगिता की। सेन्ट्रल बैंकिंग जांच कमेटी तथा प्रान्तीय बैंकिंग जांच कमेटियों ने विनिमय बैंकों के दोषों पर पूर्ण प्रकाश डाला है जो नीचे दिए जाते हैं :—

(१) विनिमय बैंकों के संचालक तथा प्रबन्धक विदेशी हैं परन्तु उनका व्यापार भारत में है। ये बैंक स्थिति-विवरण तो प्रकाशित करते हैं परन्तु भारतीय तथा अभारतीय व्यापार को उसमें अलग-अलग नहीं दिखाते और इस प्रकार वास्तविक स्थिति का भली-भांति ज्ञान नहीं हो पाता। इससे भारतीय जमा-राशि की पूर्ण सुरक्षा नहीं हो सकती। यद्यपि भारतवासी इन बैंकों में अधिक राशि जमा करते हैं परन्तु उनको कोई विशेष अधिकार नहीं होता, चाहे बैंक किसी अन्य कारण से संकट-ग्रस्त हो गया हो।

(२) विदेशी विनिमय बैंक के प्रधान कार्यालय विदेशों में हैं जहां से उनकी नीति का निर्माण एवं संचालन होता है, जो भारतीयों के हित में कभी नहीं हो सकी और न उससे भारत का विदेशी व्यापार ही पनपने पाया क्योंकि वे भारतीय स्थिति से पूर्णतया परिचित नहीं थे। भारतीयों को इन बैंकों की संचालन नीति में भी कोई हाथ नहीं रहा।

(३) विनिमय बैंक भारत की जमा-राशि से विदेशी व्यापार करते हैं। इस प्रकार भारत की दोहरी हानि होती है—पहले तो जमा-राशि के कारण जो हमारे बैंकों में जमा न होकर इनमें जमा की जाती है जिससे हमारे बैंकों को राशि नहीं मिलती है; दूसरे, उस राशि से जो लाभ होता है वह भी विदेशी बैंकों को मिलता है और भारतीय उससे वंचित रह जाते हैं। इसका यह भी परिणाम हुआ कि विदेशी व्यापार भारतीयों के हाथ से निकलकर विदेशियों के हाथ चला जा रहा है क्योंकि विदेशी बैंकों ने विदेशियों को ही सुविधाएं दी हैं, भारतीयों को नहीं।

(४) विदेशी व्यापारी उधार स्वीकार करने के लिए जब इन बैंकों ने भारतीय व्यापारियों की आर्थिक परिस्थिति के बारे में जाच करते रहे तो इन बैंकों ने भारतीयों की आर्थिक स्थिति के बारे में गलत और उल्टी रिपोर्ट भेजी और विदेशियों के विषय में ठीक-ठीक। इससे भारतीयों का विदेशी व्यापार टूट गया। कुछ विदेशी बैंकों ने गलत रिपोर्ट जान-बूझकर भेजी तथा कुछ बैंक भारतीयों के विषय में ठीक-ठीक परिस्थिति ज्ञात करने में असफल भी रहे क्योंकि इन बैंकों के संचालक विदेशी होने के कारण भारतीयों के निकट सम्पर्क में नहीं आ पाते थे। भारत के व्यापारियों को माल मंगाने पर 'स्वीकृति-बिलों' पर माल नहीं मिलता था। वरन् उनको 'भुगतान-बिलों' पर ही माल मिल सकता था। इससे भारतीय व्यापारी उधार माल नहीं मंगा सकते थे। इसका एकमात्र कारण यह था कि विदेशी बैंक इनकी आर्थिक स्थिति के बारे में ठीक ठीक रिपोर्ट नहीं भेजते थे। इसी प्रकार भारतीय निर्यातकों को अपने बिलों को इन बैंकों से कटौती कराने के लिए साख या जमानत देनी होती थी। परन्तु विदेशियों के बिलों की कटौती उनकी ही साख पर कर दी जाती रही।

(५) विदेशी बैंकों का यह भी एक कार्य होता है कि वे अपने ग्राहकों को समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-मंडियों की तथा अन्य आवश्यक सूचना देते रहें परन्तु विदेशी बैंक विदेशियों को तो यह सूचना देते रहे और भारतीयों को नहीं। इससे भारतीयों को कभी-कभी बड़ी हानि उठानी पड़ी। भारतीयों को उनसे साख पत्र लेने में बैंक के पास कुछ राशि जमा करानी होती है परन्तु विदेशी व्यापारी बिना जमा कराए ही प्राप्त कर लेते हैं। इससे भी भारतीयों को बड़ी हानि रही।

(६) विदेशी विनिमय-बैंकों ने देश के अन्य व्यापारों—जैसे, जहाजी कम्पनियों तथा आगोप कम्पनियों को भी नहीं पनपने दिया। जो भारतीय बैंकों से लेन-देन करते हैं उनको बाध्य किया जाता है कि वे अपना माल विदेशी जहाजों में ले जायं तथा विदेशी कम्पनियों से ही अपने माल का अभिगोपन करावें। इस प्रकार की सख्ती पिछले कुछ दिनों से कम हो गई

है। साथ ही साथ भारत में भी आगोप कम्पनियां स्थापित हो गई है जिनसे माल का गोप कराया जाता है।

(७) विदेशी बैंको ने भारतीय मुद्रा-मंडी को दो भागो में बांट दिया है—एक, देशी मुद्रा-मडी जिसमें भारतीय बैंक सम्मिलित हैं; तथा दूसरी, विदेशी मुद्रा-मडी जिसमें ये बैंक काम करते हैं। इसी कारण देश की मुद्रा-मंडी को नियंत्रित नहीं किया जा सका क्योंकि इन दोनो अगों में बहुत प्रतियोगिता रहती है जिसके कारण भारतीय अंग नहीं पनप पाता।

(८) यद्यपि विदेशी बैंक एक लम्बे समय से देश में काम कर रहे हैं परन्तु अभी तक भारतीयों को ऊंचे-ऊंचे पदों पर नियुक्त नहीं किया गया और न भारतीयों को बैंकिंग की शिक्षा देने का ही कोई प्रबन्ध किया गया। सदेव ही अभारतीयों को ऊंचे-ऊचे पदों पर नियुक्त किया गया जिससे भारतीयो को इस प्रकार से हानि ही रही।

(६) कुछ प्रान्तीय बैंकिंग कमेटियों का विचार है और बंगाल प्रान्तीय बैंकिग कमेटी ने तो कहा भी है कि विनिमय बैंक भारतीय बैंकों के कट्टर प्रतियोगी बन चुके हैं। धीरे-धीरे विनिमय बैंक भारतीय व्यापारिक बैंकों की सीमा पर पहुंचते जा रहे हैं और जो काम व्यापारिक बैंक करते थे वे भी अब उसी कार्य को करने लगे हैं। भारत में उनका लेन-देन दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। वे सदैव इस बात की कोशिश करते हैं कि भारतीय बैंक 'समाशोधन-गृहों' में न भरती किए जायं तथा विदेशी व्यवसाय भी उनके हाथ न लगने पावे। 'विनिमय बैंक-संघ' में भी भारतीय बैंकों को सदस्य नहीं बनाया जाता।

(१०) विदेशी बैंकों के विरुद्ध यह भी शिकायत की जाती है कि उन्होंने भारतीय व्यापारियों को समय-समय पर ऊंची विनिमय-दर पर विदेशी विनिमय बेचा है और ऐसा विशेषतः उन देशों के विदेशी विनिमय पर किया है जिन देशों के विदेशी बैंक हमारे देश में नहीं हैं।

(११) विदेशी बैंक भारतीयों की जमा-राशि से विदेशी व्यापार करके

विदेशियों को आर्थिक सहायता देते रहते हैं जिससे देशी व्यापार व उद्योग को हानि होती है तथा देशी पूंजी विदेशियों के हाथों में चली जाती है (केन्द्रीय समिति के सामने पोखनवाला की गवाही)।

(१२) विदेशी विनिमय बैंकों ने विदेशी व्यापार को भारतीयों के हाथ से निकालकर विदेशियों को देने में भी अनेक अनुचित कार्यों का उपयोग किया, जिससे विदेशी व्यापार में भारतीयों का भाग केवल १५ प्रतिशत ही रह गया।

(१३) आयात-निर्यात विनिमय-बिल का लेखन स्टर्लिंग अथवा विदेशी मुद्रा के होने के कारण उनकी कटौती केवल विदेशी मुद्रा-मंडी में ही होती है जिससे यहां की मुद्रा-मंडी को इन विनिमय-बिलों से किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं मिलता और न बिल-मंडी का ही विकास होता है। यदि ये आयात-निर्यात विनिमय-बिल भारतीय मुद्रा में लिखे जायं तो भारतीय आयातकर्त्ताओं को अवश्य ही लाभ होगा, जिसके न होने से अभी तक यह लाभ केवल विदेशियों को मिलता है।

केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी की सिफारिश

कमेटी के बहुमत ने विनिमय बैंकों के दोषों को दूर करने के लिए कुछ उपाय सुझाए जो नीचे दिए जाते हैं :—

(१) विनिमय-बैंकों तथा इन्श्योरेंस कम्पनियों को मिलकर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि किन इन्श्योरेंस कम्पनियों के गोप-लेख बैंकों को स्वीकृत होंगे जिससे भारत की इन्श्योरेंस व्यवस्था उन्नति करे। यदि आवश्यकता हो तो बैंक उन्हीं कम्पनियों से समय-समय पर कुछ लेखा-सूचना अथवा स्थिति-विवरण की भी मांग कर सकता है।

(२) कमेटी ने विनिमय-बैंक संघ को सुझाव दिया है कि वह भारतीय व्यापारिक बैंकों को भी प्रविष्ट करे और सदस्य बनावे। यह भी सिफारिश की है कि जब कभी संघ विनिमय-व्यापार-सम्बन्धी नियमों में कुछ संशोधन

करे तो भारतीय व्यापारियों की सलाह ले जिससे उनको आवश्यक सूचना मिलती रहे और वे उन्हीं के अनुसार कार्य कर सकें।

(३) कमेटी ने सुझाव दिया कि प्रत्येक विनिमय-बैंक की शाखा पर एक सलाहकार समिति स्थापित कर देनी चाहिए जो ऋण देने की समस्या पर शाखा को सलाह दे कि किसको और किन शर्तों पर ऋण देना चाहिए। यद्यपि सलाहकार समिति की यह सलाह मानने के लिए बैंक बाध्य न हो और न उसे बाध्य किया जाय फिर भी इन समितियों द्वारा भारतीयों और बैंकों के विदेशी प्रबन्धकों में अच्छा सम्पर्क स्थापित किया जा सकेगा और तब यह शिकायत भी न रहेगी कि विदेशी प्रबन्धक विदेशियों के साथ ऋण देने में विशेष व्यवहार करते हैं।

(४) सिफारिश की गई कि विदेशी बैंक भारतीयों को ऊंचे-ऊंचे पदों पर नियुक्त करें और उन्हें बैंकिंग सम्बन्धी शिक्षा देने का प्रबन्ध, जैसा कि इम्पीरियल बैंक करता है, करें।

(५) कमेटी की यह भी सिफारिश थी कि विदेशी बैंक अपनी कार्यशैली में भारतीयों को अधिक सुविधाएं देने की दृष्टि रक्खें अर्थात् वे भारतीयों की इच्छानुसार निर्यातकर्त्ताओं को देशी मुद्रा में विनिमय बिल लिखने की सुविधाएं दें जो भारत में कटौती किए जा सकेंगे तथा जिससे भारतीय बिल-बाजार भी विकसित हो सकेगा। इसी प्रकार आयातकर्त्ताओं के विनिमय-बिलों को खरीदने के साथ-साथ उनको स्वीकृत भी किया करें जिससे उनकी कटौती लंदन मुद्रा-मंडी में हो सकेगी तथा भारतीयों को वहां की सस्ती ब्याज-दरों का लाभ मिल सकेगा। इतनी ही नहीं, इस प्रकार की स्वीकृति एवं सुविधाएं भारतीय व्यापारियों को बिना किसी प्रकार की जमानत के मिलनी चाहिए।

कमेटी के बहुमत ने सिफारिश की ताकि विदेशी बैंकों को अनुज्ञा पत्र जारी कर दिए जायं तथा आगे बननेवाले बैंकों को अनुज्ञा-पत्र स्वीकृत करने में विशेष ध्यान रक्खा जाय। इस प्रस्ताव को मनु सूबेदार तथा

(२) अनुज्ञा-पत्र स्वीकृत करने की दूसरी शर्त यह होनी चाहिए कि विदेशी बैंक बन्दरगाह के शहरों को छोड़कर देश के आन्तरिक भागों में अपनी शाखाएं स्थापित न करें।

बहुमत इसके पक्ष में भी न था। उनका विचार था कि उन व्यापारियों का अधिक हानि होगी जो शहरों में रहते हुए बाह्य देशों से सीधा सम्बन्ध करके इन बैंकों से लाभ उठाते हैं। इसके अतिरिक्त विदेशी बैंकों पर सीमा से अधिक प्रतिबन्ध हो जायेंगे, ऐसा उनका विचार था।

(३) यह भी शर्त सुझाई गई कि किसी भी विदेशी बैंक को भारतीय बैंक को खरीदने या अन्य किसी प्रकार से उसका प्रबन्ध अपने अधिकार में लेने की आज्ञा नहीं होनी चाहिए। इस बात के लिए यह सुझाव रक्खा गया कि प्रत्येक भारतीय बैंक को भारतीय तथा अभारतीय सदस्यों की अलग-अलग पुस्तिका रखनी चाहिए और जब कभी कोई भारतीय किसी अभारतीय को अपने अंश बेचे तो सचालकों को पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए। यह भी आवश्यक हो कि ऐसा बैंक समय-समय पर सदस्यों की सूची बनाकर अधिकारियों के पास भेजा करे।

(४) प्रस्ताव किया गया कि विनिमय बैंकों को न्यासी-व्यवसाय (Trustee Business) में भाग नहीं लेना चाहिए क्योंकि इस प्रकार से भारतीय रुपया उनके हाथ में चला जाता है।

(५) विनिमय बैंकों को अनुज्ञा-पत्र देने की एक शर्त यह हो कि मैनेजर तथा एक अन्य पदाधिकारी को छोड़कर शेष सभी कर्मचारी भारतीय होने चाहिए। यह शर्त समयानुसार ढीली भी की जा सकती है।

(६) अनुज्ञा-पत्रधारी बैंकों को अपने सभी विवरणों, रिपोर्टों, स्थिति-विवरणों तथा भारतीय व्यापार सम्बन्धी अन्य सभी कागजों की एक-एक प्रतिलिपि अनुज्ञा-अधिकारी को भेज देना चाहिए। इसके अतिरिक्त भी यदि अधिकारी अन्य कोई सूचना मांगे तो ऐसी सूचना तत्काल भेजनी चाहिए।

(७) अनुज्ञा-पत्र स्वीकार करने की एक शर्त यह भी होनी चाहिए कि

ऐसा अनुज्ञा-पत्रधारी बैंक किसी अराष्ट्रीय क्रिया में या आन्दोलन में भाग नहीं लेगा और किसी भी झगड़े के विषय में भारतीय कानून को मानेगा। कोई दो या इससे अधिक अनुज्ञाधारी बैंक किसी प्रकार का गुट नहीं बनायेंगे।

(८) यदि कोई अनुज्ञाधारी विनिमय-बैंक समाशोधन-गृह में प्रवेश लेना चाहे तो उसका पूर्ण अधिकार रिजर्व बैंक को होना चाहिए कि वह चाहे तो प्रवेश स्वीकार करे अथवा नहीं। इसी प्रकार पुनःकटौती की तथा अन्य सुविधाओं की स्वीकृति के लिए भी केन्द्रीय बैंक को ही अधिकार होना चाहिए। १९३५ के भारत सरकार कानून के अनुसार यह मान लिया गया है कि भारत में अंगरेजी बैंकों पर वे सब प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं जो इंगलैण्ड में भारतीय बैंकों पर लगा रक्खे हैं। १९४९ के भारतीय बैंकिंग कम्पनी कानून के अनुसार विदेशी बैंकों पर कुछ नियंत्रण लगा दिए गए हैं। धारा ११ (२) के अनुसार उन पर पूंजी तथा संचित कोष विषयक प्रतिबन्ध लगाए गए हैं तथा धारा २२ (१) के अनुसार उन्हें रिजर्व बैंक से *लाइसेन्स प्राप्त करना अनिवार्य होता है।*

विदेशी विनिमय बैंकों पर कितने ही प्रतिबन्ध लगाए जायं, यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतीय बैंक भी विदेशी व्यापार को सुविधा देने का कार्य आरम्भ करें। यह बात केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी ने भी स्वीकार की है कि विदेशी व्यापार की आर्थिक सुविधाओं के लिए भारत को अब विदेशी बैंकों पर आश्रित नहीं रहना चाहिए क्योंकि विदेशी व्यापार की उन्नति के लिए विदेशी बैंकों से ही समस्या हल नहीं हो सकती। देश का अपना भी एक बैंक होना चाहिए। इस बात का प्रमाण इस तरह मिलता है कि भारत में इंगलैण्ड के बैंक होते हुए भी, अमरीका, जापान, फ्रांस, हालैण्ड आदि देशों ने भी अपने-अपने बैंक स्थापित किए। इसका कारण यही था कि सभी देश अपने बैंकों द्वारा ही विदेशी व्यापार उन्नत करना चाहते थे। केन्द्रीय जांच-कमेटी तथा विदेशी विशेषज्ञों का कहना है कि बड़े-बड़े भारतीय व्यापारिक बैंकों को अपने-अपने ग्राहकों की सुविधा के लिए विदेशों में यदि

वे शाखाएं न खोल सकें तो अन्य बैंकों तथा ऐसी ही अन्य संस्थाओं से सम्बन्ध स्थापित कर लेना चाहिए। कमेटी ने यह भी सिफारिश की है कि इम्पीरियल बैंक को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए—यह बैंक विदेशी विनिमय का कार्य अच्छी तरह से कर सकता है। रिजर्व बैंक को भी यह प्रयत्न करना चाहिए कि किसी प्रकार से इम्पीरियल बैंक इस कार्य में भाग ले। कमेटी के ६ सदस्यों की तो राय थी कि सरकार को फौरन एक विनिमय-बैंक स्थापित कर देना चाहिए। उनका विचार पूर्ण रूप से सरकारी विनिमय बैंक स्थापित करना था क्योंकि वे समझते थे कि देश में विदेशी विनिमय-बैंकों का ऐसा एकाधिकार हो गया है कि उसको सरकारी बैंक ही दूर कर सकता है।

कुछ लोगों का यह भी विचार था कि 'सम्मिलित बैंक' स्थापित किए जाय। भारत उन देशों से मिलकर जिनके साथ भारत का व्यापारिक लेन-देन है, विदेशी बैंक स्थापित करे। इनकी पूंजी सम्मिलित पूंजी हो और प्रबन्ध भी सम्मिलित हो और लाभ भी बराबर-बराबर बांटा जाय। कमेटी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया परन्तु बताया कि ऐसे बैंक सहयोग से ही स्थापित हो सकते हैं, कानून से नहीं। परन्तु श्री सरकार ने इस प्रस्ताव को अव्यावहारिक बतलाया क्योंकि इस प्रकार जितनी पूंजी की आवश्यकता होगी उतनी पूंजी भारतवासी नहीं दे सकेंगे।

इस प्रकार अनेक प्रस्ताव आते रहे हैं परन्तु इस ओर अभी तक कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। अब भी विदेशी विनिमय-बैंकों का ही देश में आधिपत्य है। अब चूंकि राष्ट्रीय सरकार है और रिजर्व बैंक का भी राष्ट्रीयकरण हो चुका है तो ऐसी आशा है कि भारतीय बैंकों की विदेशी विनिमय क्षेत्र में कुछ प्रगति होगी।

प्रश्न

१—भारत में काम करने वाले विनिमय बैंक अधिकतर विदेशी हैं। ऐसा क्यों है और इससे हमारे देश का क्या अहित होता है ?

(यू०पी० १९५३)

२—भारतीय अधिकोषण में विनिमय बैंकों का क्या स्थान है ? उनके कार्यों का वर्णन करो। (यू०पी० १९४९, म०भा० १९५२, १९४९)

३—भारत में विनिमय बैंकों का विकास कैसे किया जा सकता है ?

(यू०पी० १९४८)

४—विनिमय बैंकों की क्रियाओं का उल्लेख कीजिए। भारत-स्थित विनिमय बैंकों के विरुद्ध क्या आरोप लगाए जाते हैं ? (राज० १९५१)

अध्याय २८

औद्योगिक बैंक

(Industrial Banks)

औद्योगिक बैंक वे बैंकिंग संस्थाएं होती हैं जो उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण देकर उनकी वित्त-सहायता करती हैं। जिस प्रकार व्यापारिक बैंक उद्योगों को कर्मवाहक पूंजी देते हैं उसी प्रकार औद्योगिक बैंक उद्योगों को दीर्घकालीन एवं स्थिर पूंजी देते हैं। औद्योगिक बैंक दीर्घकालीन ऋण देने के लिए लोगों से लम्बे काल के लिए ही राशि जमा करते हैं। ये बैंक औद्योगिक कम्पनियों के अंश या स्कंध बेचकर अथवा उनके अंशों तथा स्कंधों का अभिगोपन करके भी उनकी सहायता करते हैं।

भारत में औद्योगिक बैंकों की आवश्यकता—सभी मानते हैं कि देश की आर्थिक व्यवस्था की उन्नति के लिए देश का औद्योगीकरण करना आवश्यक है क्योंकि उद्योगों की उन्नति हुए बिना देश में उपलब्ध साधनों का पूर्ण एवं उचित उपयोग नहीं हो सकता। पर हमारे देश में उद्योगों के लिए पर्याप्त वित्त-सुविधाएं प्राप्त नहीं हैं। इसी कारण नैसर्गिक साधनों की अधिकता होते हुए भी भारत का औद्योगिक विकास पर्याप्त रूप में नहीं हो पाया। अतः देश में उद्योगों को वित्त सहायता देने के लिए औद्योगिक बैंक एवं अन्य ऐसी ही विशिष्ट संस्थाएं होना चाहिए।

उद्योगों की वित्त-आवश्यकताएं प्रायः दो प्रकार की होती हैं—(१) स्थायी सम्पत्ति जैसे भूगृहादि, यन्त्रादि खरीदने के लिए; (२) कर्मवाहक पूंजी जैसे कच्चा माल खरीदने के लिए, वेतन चुकाने के लिए, आदि। माल बेचने में भी राशि की आवश्यकता होती है। हमारे देश में उद्योगों को वित्त-सहायता

देने के लिए उचित साधनों एवं संस्थाओं का बहुत अभाव है। नए उद्योगों का स्थापित करने के साधन तो हमारे देश में नहीं के बराबर हैं।

सन् १९१९-२२ तथा १९४३ में आने के समय को छोड़कर, जबकि देश में मुद्रा-स्फीति के कारण राशि का बाहुल्य रहा, उद्योगों को धन-राशि का भारी अभाव रहा है। कृषक वर्ग जिनके पास राशि आई वे या तो इकट्ठा करते रहे या पास-पड़ोसवालों को उधार देते रहे। मध्यम श्रेणी के लोग अपनी बचत-राशि बैंकों में जमा करते हैं अथवा उससे सरकारी सिक्यूरिटियां खरीद लेते हैं। यदि सच कहा जाय तो उद्योगों में राशि न लगाए जाने का एक मुख्य कारण यह है कि देश में औद्योगिक बैंक या अन्य ऐसी संस्थाएं नहीं हैं जो इस छोटी-छोटी राशि को मध्यम वर्ग से इकट्ठा करके उद्योगों में विनियोग कर सकें अथवा उन्हें ऋण दे सकें।

व्यापारिक बैंक एवं उद्योगों की वित्त-सहायता

देश के व्यापारिक बैंकों ने उद्योगों को आर्थिक सहायता देने में कोई विशेष योग नहीं दिया है और जो कुछ सहायता दी भी है वह अपर्याप्त है। इसके अनेक कारण हैं :—

(१) व्यापारिक बैंकों ने यद्यपि अनेक बार उद्योगों के अंश तथा ऋण पत्र खरीदकर उन्हें जनता को हस्तान्तरित करना चाहा परन्तु अपनी अल्प-कालीन व्यवसाय-नीति के कारण न कर सके। उन्होंने उद्योगों के अंशों या ऋण-पत्रों का अभिगोपन तक नहीं किया। इम्पीरियल बैंक ने भी जो सबसे बड़ा व्यापारिक बैंक माना जाता है, यह कार्य नहीं किया। उसे तो ६ माह से अधिक अवधि पर राशि उधार देना भी मना है। अन्य बैंकों ने भी इसी प्रकार उद्योगों को सहायता न दी।

(२) व्यापारिक बैंकों को जब व्यापार तथा उद्योग दोनों को ही आर्थिक सहायता देनी थी तो उनके लिए यही उचित था कि अल्पकाल के लिए व्यापार को ही सहायता देते। अतः उद्योग उनकी इस सहायता से वंचित रहे।

(३) भारत के व्यापारिक बैंक व्यक्तिगत साख या उधार लेनेवालों की वैयक्तिक जमानत पर ऋण नहीं देते। अतः उद्योगों को सहायता न देकर अपनी राशि व्यापारियों को साख-सुविधाएं देने में विनियोग कर दी।

(४ कुछ उद्योगों को इन बैंकों से सहायता मिलती थी परन्तु ये बैंक उन उद्योगों की सम्पत्ति तथा अन्य साधनों का मूल्यांकन करना चाहते थे और मूल्यांकन करने के लिए इनके पास कुशल विशेषज्ञ नहीं थे जो उद्योगों की सम्पत्ति का मूल्यांकन कर सकते।

(५) व्यापारिक बैंकों ने जो कुछ सहायता दी है वह सब उन्होंने अपनी अल्पकालीन जमा राशि में से दी है और समय-समय पर उसका नवकरण भी किया है परन्तु जब बैंकों की जमा-राशि कम हो गई तो उन्हें सहायता भी कम करनी पड़ी। इस प्रकार इनकी सहायता सदैव अनिश्चित ही रहती है। कुछ व्यापारिक बैंक तो ऐसे भी हैं जो उद्योगों को राशि उधार देना बड़ा भारी खतरा समझते रहे हैं।

(६) केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी के कुछ सदस्यों तथा अन्य प्रश्नकर्त्ताओं का विचार है कि इम्पीरियल बैंक के उच्च पदाधिकारी अभारतीय होने के कारण अभारतीयों को ही ऋण देते हैं और भारतीय उद्योग इससे वंचित रह जाते हैं।

(७) व्यापारिक बैंकों की जमा-राशि अल्पकालीन होती है, अतः वे उद्योगों को लम्बे समय के लिए उधार नहीं दे सकते। यद्यपि बम्बई और अहमदाबाद की ओर जमा-राशि की प्रथा का उद्योगों ने भी पालन किया—उद्योगों ने भी लोगों से जमा राशि की और औद्योगिक कार्यों में लगाई—परन्तु यह राशि भी अल्पकालीन एवं अनिश्चित ही थी, अतः इसमें भी उद्योगों को सदैव खतरा ही बना रहता था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि देश के व्यापारिक बैंकों ने उद्योगों को कुछ भी सहायता नहीं दी और जो कुछ देते भी हैं वह सन्तोषजनक नहीं। यह ठीक है कि व्यापारिक बैंकों को केवल उन्हीं सिक्यूरिटियों पर राशि उधार

देना चाहिए जो सुरक्षित हों और शीघ्र ही रोकड राशि में भुनाई जा सके। परन्तु यह बात हमारे उद्योगों में नहीं मिलती। अतः उद्योगों की वित्त-सहायता का हमारे देश में कोई प्रबन्ध नहीं। जर्मनी, जापान तथा अमरीका आदि देशों में तो विशेष प्रकार के औद्योगिक बैंक हैं जो उद्योगों को राशि उधार देते हैं। हमारे देश में भी यह सुविधा दो प्रकार से प्राप्त की जा सकती है :—

(१) देश के व्यापारिक बैंक ही जर्मन बैंकों की भांति उद्योगों को सहायता दे सकते हैं।

(२) उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण देने के लिए विशेष प्रकार के औद्योगिक बैंक स्थापित किए जा सकते हैं।

औद्योगिक बैङ्कों की स्थापना

देश के उद्योगों को वित्त-सहायता देने के लिए तथा नये-नये उद्योग स्थापित करने के लिए औद्योगिक बैंकों की ही आवश्यकता है जिसके पास पर्याप्त मात्रा में साधन हों व जो उन साधनों को दीर्घकालीन कार्यों में विनियोग कर सके। ऐसे बैंक हों जिनकी परिदत्त पूंजी अधिक हो तथा जिनकी जमा-राशि भी दीर्घकालीन हो। यदि उन्हें और अधिक राशि की आवश्यकता हो तो वे ऋण-पत्र बेचकर प्राप्त कर सकें। औद्योगिक बैंकों को अल्प कालीन जमा-राशि के आवागमन तथा व्यापारिक बैंकिंग क्रियाओं से कोई सरोकार नहीं रखना चाहिए।

प्रस्तावित औद्योगिक बैंकों को चाहिए कि वे केवल एक ही उद्योग में अथवा एक ही उद्योग-संस्था में राशि विनियोग न करें। उन्हें तो राशि भिन्न-भिन्न उद्योगों में तथा भिन्न-भिन्न उद्योग-संस्थाओं में विनियोग करनी चाहिए जिससे उनका खतरा बंट जाय और एक ही संस्था या एक ही उद्योग के नष्ट होने से उनकी राशि डूब न जाय। अंशों तथा स्कंध का अभिगोपन करने का काम भी बैंक को ले लेना चाहिए। परन्तु इस कार्य के लिए बैंक को विशेषज्ञों की सहायता लेनी चाहिए। इसके अतिरिक्त इन

बैंकों को जनता की निठल्ली राशि निकालकर लाने का प्रयत्न भी करना चाहिए। भारतीय पूंजी गतिशील नहीं, लोचदार नहीं और न पर्याप्त ही है। अतः इन बैंकों को जनता से लम्बे समय के लिए राशि लेकर उद्योगों में जुटानी चाहिए।

हमारे देश में पहिले कुछ औद्योगिक बैंक स्थापित हुए थे। सबसे पहले ताता इंडस्ट्रियल बैंक ने कार्य आरम्भ किया। और फिर अन्य बैंक स्थापित हुए परन्तु उन्होंने उक्त नियमों का पालन नहीं किया; अतः उन्हें अपना कार्य बन्द करना पड़ा।

प्रान्तीय औद्योगिक वित्त कारपोरेशन (प्रान्तीय औद्योगिक वित्त कारपोरेशन एक्ट १९५१)

केन्द्रीय बैंकिंग जाच-कमेटी तथा प्रान्तीय बैंकिंग कमेटियों ने उद्योगों की सहायता के लिए प्रान्तीय औद्योगिक वित्त कारपोरेशन स्थापित करने की सिफारिशें की थीं। उनका कहना था कि "औद्योगिक विकास का कार्य प्रान्तों का उत्तरदायित्व है तथा प्रत्येक प्रान्त वहां के लोगों से आसानी से राशि निकलवाकर प्रान्तीय सीमा में स्थित उद्योगों की सरलता के साथ सहायता कर सकता है, इसलिए प्रान्तीय कारपोरेशन इस क्षेत्र में अधिक कार्य कर सकते हैं। इन कारपोरेशनों को अंश बेचकर अधिक से अधिक राशि जनता से प्राप्त करनी चाहिए। परन्तु जनता से सभी आवश्यक राशि प्राप्त नहीं हो सकती। अतः प्रान्तीय सरकारों को भी इसमें कुछ भाग देना चाहिए। इससे जनता में कुछ विश्वास बढ़ेगा। अंश-पूंजी के अतिरिक्त यदि और भी पूंजी की आवश्यकता हो तो ऋण-पत्र बेचकर प्राप्त की जा सकती है। सरकार यदि इन ऋण पत्रों के ब्याज की गारंटी करे तो जनता उनको शीघ्र ही खरीद सकती है और यदि आवश्यकता हो तो दीर्घकाल के लिए जमा-राशि लोगों से ली जा सकती है। परन्तु इसमें इस बात पर ध्यान रखना होगा कि यह जमा-राशि अल्पकालीन न हो।"

जांच-कमेटियों ने यह भी सिफारिश की कि "कारपोरेशन जिन उद्योगों को राशि उधार दे उनकी संचालक समिति पर अपना एक प्रतिनिधि भेज सकते हैं जो उस उद्योग-संस्था की कार्यशैली को देखता रहे तथा कारपोरेशन के अधिकारियों को सूचना देता रहे जिससे सरकार को इसके विषय में पूरा-पूरा ज्ञान रहे। प्रस्तावित कारपोरेशन को अपनी-अपनी नियमावली तैयार कर लेनी चाहिए जिसके अनुसार ये उद्योगों को राशि उधार दें। परन्तु इसी नियमावली पर प्रान्तीय सरकार की स्वीकृति प्राप्त कर लेनी चाहिए। राशि उधार देते समय कारपोरेशनों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिन उद्योगों को राशि उधार दी जा रही है वे जनता के भी किसी उपयोग के हैं या नहीं, प्रान्त की उत्पादन-वृद्धि में कुछ योग दे रहे हैं या नहीं, जनसंख्या के लिए रोजगार के साधन भी हैं या नहीं और आगे भी इस राशि से उन्नत हो सकेंगे या नहीं। इन सब बातों को भली प्रकार जानने के लिए प्रस्तावित कारपोरेशनों को विशेषज्ञों की सहायता लेना आवश्यक है। अधिकांश में राशि नये उद्योगों को कुछ अचल पूंजी खरीदने के लिए तथा उद्योगों को अपना विस्तार करने के लिए देनी चाहिए। कर्मवाहक पूंजी तो उद्योगों को व्यापारिक बैंकों से ही उधार लेनी चाहिए जिससे कारपोरेशन तथा व्यापारिक बैंकों में प्रतियोगिता न हो।"

उक्त सिफारिशों को दृष्टिगत रखते हुए तथा इनको कार्यान्वित करने के लिए भारत सरकार ने २८ सितम्बर १९५१ को प्रान्तीय औद्योगिक वित्त-कारपोरेशन एक्ट पास किया। एक्ट में प्रान्तीय औद्योगिक वित्त-कारपोरेशन की स्थापना के विषय में निम्न व्यवस्था की गई है :—

उद्देश्य—अपने-अपने प्रान्त में मध्यम श्रेणी एवं निम्नश्रेणी के उद्योग-संस्थाओं तथा कुटीर उद्योगों को प्रत्यक्ष रूप से अर्थ-सहायता करना।

कार्य—एक्ट के अन्तर्गत प्रस्तावित कारपोरेशनों को निम्न कार्य करने का अधिकार दिया गया है :—

(१) औद्योगिक कम्पनियों को बीस वर्ष की अवधि के लिए ऋण देना तथा उनके ऋण-पत्र भी खरीदना,

(२) औद्योगिक कम्पनियों द्वारा २० साल की अवधि पर अन्य स्रोतों से लिए हुए ऋणों की गारंटी करना,

(३) औद्योगिक कम्पनियों द्वारा निर्गमित अंशों, स्कंधों तथा ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना (पर यदि इस प्रकार कोई अंश या ऋण-पत्र खरीदने पड़ें तो उनको सात वर्ष के अन्दर-अन्दर बेच देना)।

प्रस्तावित कारपोरेशन को सरकारी सिक्यूरिटियों, सोने-चांदी अथवा अन्य किसी प्रकार की चल या अचल जमानत लिए बिना ऋण देने का अधिकार नहीं दिया गया है। कारपोरेशन अपने ही अंशों की साख पर कोई ऋण नहीं दे सकते। किसी भी एक औद्योगिक कम्पनी को अपनी परिदत्त पूंजी का १० प्रतिशत या १० लाख रुपये—इसमें से जो भी कम हो—से अधिक राशि उधार देने का अधिकार नहीं है। यदि कोई कम्पनी कारपोरेशन से ऋण लेकर उसका उचित प्रयोग न करती जान पड़े तो कारपोरेशन उसी समय राशि वापस ले सकता है।

पूंजी—वैसे तो प्रान्तीय सरकार को अधिकार है कि वह प्रस्तावित कारपोरेशन स्थापित करते समय उसकी पूंजी निर्धारित करे पर एक्ट के अनुसार कारपोरेशन की पूंजी अधिकाधिक ५ करोड़ तथा न्यूनातिन्यून ५० लाख रुपयों से अधिक नहीं हो सकती। पूंजी का २५ प्रतिशत भाग अंश बेचकर जनता से प्राप्त किया जा सकता है। शेष पूंजी प्रान्तीय सरकार, रिजर्व बैंक, तालिकाबद्ध बैंकों, इन्श्योरेन्स कम्पनियों, सहकारी समितियों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त करना अनिवार्य है। उक्त संस्थाओं को अलग-अलग कितने अंश दिए जायं, इसका निर्धारण प्रान्तीय सरकार पर छोड़ दिया गया है।

प्रान्तीय सरकार को कारपोरेशन की पूंजी तथा लाभांश की निश्चित दर की गारंटी करना अनिवार्य है। लाभांश की दर प्रान्तीय सरकार केन्द्रीय सरकार की सलाह से निश्चित कर सकती है। एक्ट के अनुसार लाभांश ५ प्रतिशत प्रतिवर्ष से अधिक नहीं किया जा सकता। गारंटी किये गये लाभांश

से अधिक राशि तब तक वितरित नहीं की जा सकती जब तक कि संचित-कोप परिदत्त पूंजी के बराबर न हो जाय। लाभांश देने के पश्चात् जो लाभ शेष रहे उसे प्रान्तीय सरकार को लेने का अधिकार दिया गया है।

प्रस्तावित कारपोरेशनों को एक्ट के अन्तर्गत अपनी परिदत्त पूंजी तथा संचित कोप को मिलाकर राशि के पाच गुने तक ऋण-पत्र बेचने का अधिकार दिया गया है ताकि कारपोरेशन आवश्यकतानुसार ऋण-पत्र बेचकर राशि प्राप्त कर सकें। पर तब प्रान्तीय सरकार को निर्गमित ऋण-पत्रों की मूल राशि एवं प्रव्याजि की गारंटी करना अनिवार्य होगा। ब्याज की दर प्रान्तीय सरकार केन्द्रीय सरकार की सलाह से निश्चित करेगी। कारपोरेशन कम से कम पाच वर्षों की अवधि के लिए जनता से राशि भी जमा रख सकते हैं। जमा-राशि परिदत्त पूंजी से अधिक नहीं रक्खी जा सकती।

प्रबन्ध-सचालन—प्रस्तावित कारपोरेशनों का प्रबन्ध-संचालन संचालक समिति के अधीन रखने की व्यवस्था की गई है। संचालक समिति में दस सदस्य होंगे जिनमें तीन प्रान्तीय सरकार द्वारा मनोनीत, एक रिजर्व बैंक के केन्द्रीय बोर्ड द्वारा मनोनीत, एक अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त कारपोरेशन द्वारा मनोनीत, एक प्रबन्ध-संचालक प्रान्तीय सरकार द्वारा नियुक्त तथा चार अन्य अंशधारी संस्थाओं द्वारा चुने हुए होंगे। संचालक समिति की सहायतार्थ एक प्रबन्ध समिति होगी जिसमे प्रबन्ध-संचालक (प्रधान) तथा अन्य तीन सचालक सदस्य होंगे। यदि सचालक समिति ठीक-ठीक कार्य न करे तो प्रान्तीय सरकार उसको भग करके सम्पूर्ण कार्य अपने अधिकार में ले सकती है।

प्रान्तीय औद्योगिक वित्त कारपोरेशन एक्ट १९५१ के अनुसार मद्रास, बंगाल, बम्बई, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पंजाब, हैदराबाद, मैसूर तथा ट्रावनकोर-कोचीन प्रान्तों में कारपोरेशन बन चुके हैं।

अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त-कारपोरेशन

केन्द्रीय बैंकिंग-जांच कमेटी के श्री मनु सूबेदार और अन्य सदस्यों ने एक

अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त-कारपोरेशन की स्थापना का सुझाव रखा था। उन्होंने बताया कि राष्ट्रीय उद्योगों की सहायता प्रान्तीय कारपोरेशनों के द्वारा ठीक-ठीक नहीं हो सकती। इसलिए ऐसे उद्योगों के लिए एक सार्वदेशिक संस्था ही होनी चाहिए।

यह संस्था देश की निठल्ल पूंजी को अच्छी तरह गतिशील बना सकती है तथा प्रान्तीय वित्त-कारपोरेशनों से मिलकर सहयोग के साथ काम कर सकती है सार्वदेशिक संस्था को विशेषज्ञों की सलाह आसानी से प्राप्त हो सकती है क्योंकि वह उसे प्राप्त करने में जितना व्यय कर सकती है उतना प्रान्तीय संस्थाएं नहीं कर सकतीं। उनका कहना था कि सार्वदेशिक संस्था को केन्द्रीय सरकार की सहायता रहेगी अतः उनके पास साधनों की कमी भी नहीं रहेगी। उसका क्षेत्र विस्तृत होगा और इसलिए असाधारण परिस्थिति के कारण उस पर कोई हानिकारक प्रभाव नहीं होगा।

औद्योगिक वित्त-कारपोरेशन १९४८—उक्त सिफारिशों को ध्यान में रख कर तथा देश के उद्योगों की पूंजी सम्बन्धी समस्याओं को हल करने के विचार से सार्वदेशिक वित्त-कारपोरेशन स्थापित कर दिया गया है। कारपोरेशन १ जुलाई १९४८ से काम कर रहा है। कारपोरेशन का प्रमुख उद्देश्य "भारतीय औद्योगिक संस्थाओं को दीर्घकालीन तथा मध्यकालीन आर्थिक सहायता देना है, विशेषकर उन परिस्थितियों में जब कि उनको साधारण बैंकिंग सुविधाएं प्राप्त न हों और पूंजी प्राप्त करने के अन्य स्रोत भी दुर्लभ हों।"

पूंजी—कारपोरेशन की अधिकृत पूंजी १० करोड़ रुपये है जिसमें पांच-पांच हजार रुपये के २०,००० अंश हैं। अंशों की मूल राशि तथा २½ प्रतिशत लाभांश का न्यूनातिन्यून दर की गारंटी भारत सरकार ने दी है। अभी तक २०,००० अंशों में से केवल १०,००० अंश ही निर्गमित किए गए हैं जो ५ करोड़ की राशि के हैं। १ करोड़ रुपये के अंश रिजर्व बैंक ने, १ करोड़ के भारत सरकार ने तथा ३ करोड़ के अंश्य शालियाल्ट्ड बैंकों,

इन्श्योरेन्स कम्पनियों, ट्रस्टों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं को दिये गये हैं जो इस प्रकार हैं—

तालिकाबद्ध बैंकों को	२५०० अंश	१¼	करोड़ रुपये
इन्श्योरेन्स कम्पनियों को	२५०० ,,	१¼	करोड़ रुपये
सहकारी बैंकों को	१००० .	½	करोड़ रुपये

तालिकाबद्ध बैंकों तथा इन्शोरेन्स कम्पनियों ने अपने-अपने हिस्से के अंश पूरे ले लिए पर सहकारी बैंक अपना हिस्सा न खरीद सके। अतः शेष अंश सरकार तथा रिजर्व बैंक को और लेने पड़े।* ये अंश उक्त विभिन्न संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य किसी के नाम हस्तान्तरित नहीं किए जा सकते। गत वर्षों में ये अंश विभिन्न संस्थाओं के पास इस प्रकार रहे—

	३० जून, १६५०	३० जून, १६५१	३० जून, १६५२	३० जून, १६५३
१ केन्द्रीय सरकार	२,०००	२,०००	२,०००	२,०००
२. रिजर्व बैंक	२,०५५	२,०५४	२,०५४	२,०५४
३ तालिकाबद्ध बैंक	२,४८०	२,४७५	२,४३५	२,४३५
४. इंश्योरेंस कम्पनियां तथा अन्य संस्थाएं	२,५२३	२,५२८	२,५६८	२,५६८
५. सहकारी बैंक	६४२	६४३	६४३	६४३
योग	१०,०००	१०,०००	१०,०००	१०,०००

*पाकिस्तान औद्योगिक वित्त-कारपोरेशन में पाकिस्तान की सरकार ने कुल पूंजी का ५१ प्रतिशत अपने हाथ में रक्खा है।

इंगलैण्ड में जो दो औद्योगिक वित्त-कारपोरेशन हैं उनमें इंगलैण्ड की सरकार का कोई हिस्सा नहीं है पर बैंक ऑव इंगलैण्ड ने दोनों में कुछ अंश ले रक्खे हैं।

दिसम्बर १९४९ से कारपोरेशन के अंश 'ट्रस्टी सिक्यूरिटी' घोषित कर दिए गए हैं। कारपोरेशन को बौण्ड बेचकर राशि प्राप्त करने का अधिकार भी प्राप्त है। इस अधिकार के अनुसार कारपोरेशन ने अब तक ५.८१ करोड़ रुपये के बौण्ड बेचे हैं। ५.३० करोड़ रुपये के बौण्ड १९४९-५० में बेचे गए तथा ५१ लाख रुपये के बौण्ड १९५१-५२ में बेच डाले गए। इस प्रकार अब कारपोरेशन की कुल देनदारी में ४९% अंश-पूंजी तथा ५१% बौण्ड राशि है। कारपोरेशन को जनता से राशि जमा करने का अधिकार भी प्राप्त है पर अब तक उसने जमा-राशि स्वीकृत नहीं की है।

कारपोरेशन की कुल देनदारी, जिसमें संभाव्य दायित्व (Contingent Liability) भी सम्मिलित है, उसकी परिदत्त पूंजी के पांचगुने से अधिक नहीं हो सकती; जमा-राशि जो दीर्घकाल के लिए स्वीकृत की जाय, किसी भी समय १० करोड़ रुपये से अधिक नहीं हो सकती।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कारपोरेशन की अंश-पूंजी तथा इस पर २½% प्रतिवर्ष लाभांश की न्यूनतम दर की गारण्टी केन्द्रीय सरकार ने की है। लाभांश किसी भी स्थिति में ५% प्रतिवर्ष से अधिक नहीं दिया जा सकता। इस दर पर भी लाभांश तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि संचित-कोष परिदत्त पूंजी के बराबर न हो जाय, और जितनी राशि केन्द्रीय सरकार ने गारण्टी के रूप में दी है, वह कारपोरेशन केन्द्रीय सरकार को भुगतान न कर दे। जब संचित कोष परिदत्त पूंजी के बराबर हो जाय तो अंशों पर ५% लाभांश देने के पश्चात् जो लाभ होगा वह केन्द्रीय सरकार को मिलेगा। गारण्टी किए गए लाभांश का भुगतान करने के लिए कारपोरेशन को ११.२५ लाख रुपये की प्रतिवर्ष आवश्यकता होती है। ३० जून १९५२ तक कारपोरेशन की आय कम रही और वह उक्त राशि लाभांश में न दे सका। अतः भारत सरकार ने अपनी गारंटी पर २६,८६,१२६ रुपये व्यय करके लाभांश पूरा किया। १ जुलाई १९५२ से ३० जून १९५३ तक कारपोरेशन की आय अच्छी रही और इसने भारत सरकार की सहायता के बिना ही गारण्टीड लाभांश चुका दिया। पांच वर्षों में यह पहला ही

अवसर था जबकि कारपोरेशन को लाभांश देने में सरकार की सहायता नहीं लेनी पड़ी। अब कारपोरेशन को सरकार की उक्त राशि चुकानी शेष है।

प्रबन्ध-संचालन—कारपोरेशन का प्रबन्ध-संचालन समिति के अधीन है जिसमें १२ संचालक होते हैं। इनमें से ३ भारत सरकार द्वारा मनोनीत, २ रिजर्व बैंक द्वारा मनोनीत, ६ अन्य अंशधारियों द्वारा चुने एवं १ प्रबन्ध-सचालक द्वारा नियुक्त किया हुआ होता है। संचालक-समिति की सहायतार्थ एक कार्यकारणी सभा है जिसमें प्रबन्ध-संचालक (प्रधान), २ सदस्य मनोनीत सचालकों में से तथा २ सदस्य निर्वाचित संचालकों में से चुने जाते हैं। यदि संचालक समिति ठीक-ठीक कार्य न करे तो भारत सरकार को उसे भंग करके प्रबन्ध अधिकार अपने हाथ में ले लेने का अधिकार है।

कारपोरेशन का प्रमुख कार्यालय दिल्ली में है तथा इसके अन्य कार्यालय बंबई तथा मद्रास में हैं। कानपुर में भी एक शाखा खोलने की व्यवस्था है पर अभी तक उस ओर से ऋण के अधिक आवेदन-पत्र न आने के कारण वहां कार्यालय नहीं खोला जा सका है।

कार्यक्षेत्र—कारपोरेशन का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक एवं विस्तृत रक्खा गया है जिससे वह औद्योगिक संस्थाओं की अधिकाधिक सहायता कर सके। कारपोरेशन के निम्न कार्य निर्धारित किए गए हैं :—

(१) सीमित देनदारी की कम्पनियों तथा सहकारी समितियों को अधिकाधिक २५ वर्षों की अवधि पर ऋण स्वीकृत करना।

(२) औद्योगिक कम्पनियों के अंशों तथा ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना और यदि इस प्रकार अभिगोपन करने से कोई भी अंश व ऋण-पत्र न बिक सके तो उन्हें स्वयं ले लेना पर सात वर्ष की अवधि के अन्दर बेचकर राशि प्राप्त कर लेना।

(३) कम्पनियों द्वारा बेचे जानेवाले ऋण-पत्रों की मूल राशि एवं ब्याज की गारण्टी करना तथा गारंटी के बदले कमीशन वसूल करना।

(४) यदि किसी उद्योग को विदेशी मुद्रा में ऋण लेने की आवश्यकता पड़े तो केन्द्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त करके अन्तर्राष्ट्रीय बैंक तथा अन्य स्रोतों से ऋण प्राप्त करना।

(५) ऋण याचक कम्पनियों की संचालक सभाओं में अपने प्रतिनिधि भेजना और देखना कि वे कम्पनियाँ ऋण-राशि का दुरुपयोग तो नहीं कर रही हैं।

(६) जनता से कम से कम पांच साल की अवधि पर राशि जमा करना पर यह जमा राशि परिदत्त पूंजी तथा संचित कोष के दूने से अधिक न हो।

(७) ऋण लेनेवाली किसी भी औद्योगिक कम्पनी को समय-समय पर औद्योगिक तथा तांत्रिक सलाह देना एवं सलाह देने के लिए सलाहकार समितियाँ नियुक्त करना।

(८) किसी भी एक औद्योगिक कम्पनी को ५० लाख रुपये से अधिक राशि के ऋण स्वीकृत न करना। (इस सीमा को बढ़ाकर १ करोड़ रुपये तक करने का एक प्रस्ताव गत संसद—फर्वरी १९५२—में रक्खा गया था जिस पर विचार किया गया और स्वीकृति दी गई। अब ऋण देने की महत्तम सीमा १ करोड़ रुपये है।)

ऋण देने की शर्तें—कारपोरेशन की नीति निम्न शर्तों पर वित्त-सहायता देना है—

(१) औद्योगिक कम्पनियों की अचल सम्पत्ति, जैसे भूमि, भूगृहादि एवं यंत्रादि के प्रथम बन्धक (First Mortgage) पर ऋण दिया जाता है विशेषतः अचल सम्पत्ति खरीदने के लिए ही ऋण दिया जाता है।

(२) कच्चे माल या पक्के माल की जमानत पर कारपोरेशन ऋण नहीं देता क्योंकि ऐसा ऋण देना व्यापारिक बैंकों का काम है और कारपोरेशन का उद्देश्य बैंकों से प्रतियोगिता करना नहीं है।

(३) दिए हुए ऋणों की कम्पनियों के संचालकों या प्रबन्धकों द्वारा

उनकी व्यक्तिगत हैसियत से गारंटी कराई जाती है जिससे वे राशि व्यय करने का प्रबन्ध ठीक-ठीक करें और इसके लिए उनका उत्तरदायित्व रहे।

(४) कम्पनियों के प्रबन्ध पर दृष्टि रखने के लिए तथा अन्य जानकारी के लिए दो संचालक कारपोरेशन की ओर से कम्पनी की संचालक समिति पर नियुक्त किए जाते हैं।

(५) जब तक कम्पनी ऋण का भुगतान नहीं कर देती, लाभांश-दर ६% प्रतिवर्ष के हिसाब से सीमित रहती है परन्तु यह दर दोनों पक्षों के सम्मेल से अदली-बदली भी जा सकती है।

(६) ऋण वापस करने की अवधि, कम्पनी के व्यापार की प्रकृति तथा उसके भविष्य को दृष्टि में रखकर निश्चित की जाती है। एक्ट के अन्तर्गत कारपोरेशन २५ वर्ष की अवधि पर ऋण दे सकता है पर अब तक जो ऋण कारपोरेशन ने दिए हैं उनकी अवधि १५ साल है।

(७) ऋण का भुगतान किश्तों में किया जा सकता है। किश्तों की राशि सम्मेल से निश्चित की जाती है परन्तु किश्त साधारणतः बराबर राशि की होती है।

(८) जिस सम्पत्ति की साख पर कारपोरेशन ऋण देता है वह सम्पत्ति अग्नि, विद्रोह, साम्प्रदायिक उपद्रवों से सुरक्षित रखने के लिए किसी उच्च कोटि की इन्श्योरेंस कम्पनी से नाप करानी होती है।

(९) ऋण देने के पश्चात् कारपोरेशन का यह कर्तव्य होता है कि वह इस बात को देखे कि राशि का उपयोग ठीक-ठीक हो रहा है या नहीं। इस काम की जाच के लिए निरीक्षक नियुक्त किए जाते हैं।

(१०) यदि कोई कम्पनी ऋण लेकर ऋण की शर्तों को पूरा न करे अथवा भुगतान करने में गड़बड़ करे अथवा अन्य किसी प्रकार से अनुचित कार्यवाही करे तो कारपोरेशन को अधिकार होता है कि वह उस कम्पनी को अपने प्रबन्ध-संचालन में ले ले। गत वर्ष कारपोरेशन ने एक कम्पनी को इसीलिए अपने अधिकार में ले लिया था कि वह ऋण की शर्तों का पालन नहीं कर रही थी।

कारपोरेशन ने सबसे पहले ५½% प्रतिवर्ष ब्याज की दर पर ऋण देना आरम्भ किया था। तिस पर भी यदि कोई कम्पनी मूल राशि और ब्याज का निश्चित समय पर भुगतान करती रहती थी तो उसे ½% की छूट मिलती थी। फरवरी १९५२ में यह दर बढ़ाकर ६% कर दी गई और गत वर्ष इसे बढ़ाकर ६½% कर दिया गया है। आलोचकों का कथन है कि ६½% ब्याज-दर बहुत ऊंची है अतः कारपोरेशन को इसे कम कर देना चाहिए। कारपोरेशन के प्रबन्ध-संचालक लाला श्रीराम का कहना है कि वर्तमान परिस्थितियों में दर नीची नहीं की जा सकती क्योंकि पहले ही कारपोरेशन को २७ लाख रुपये की राशि, जो सरकार ने गारण्टी में दी है, भुगतान करना है।

गति-विधि—कारपोरेशन ने ३० जून १९५३ को पांचवां वर्ष पूरा किया। ३० जून १९५३ को समाप्त होनेवाले वर्ष में उद्योगों की धनराशि की मांग बहुत अधिक रही। कुल ७४ आवेदन-पत्र आए जिनमें ८,२५ लाख रुपये की मांग की गई थी जबकि चौथे वर्ष में केवल ५४ आवेदन-पत्र आए थे और उनमें ७,३० लाख रुपये की ही मांग थी। गत वर्ष अधिकांश आवेदन-पत्र उन कम्पनियों के आए जो अपना व्यापार विस्तृत करना चाहते थे या अपनी उत्पादन-शैली का वैज्ञानीकरण करना चाहते थे। कारपोरेशन ने अधिक संख्या में आवेदन-पत्रों को अपूर्ण कहकर रद्द कर दिया। अतः गत वर्ष १·७४ करोड़ रुपये के ही ऋण स्वीकृत किए जा सके। १९५३ के ३० जून तक जो ऋण स्वीकृत किए गए वे इस प्रकार हैं :—

	स्वीकृत ऋण-राशि	स्वीकृत ऋणों की देय-राशि
३० जून १९४९ को	३.४२	१.३३
३० जून १९५० को	७.२९	३.४२
३० जून १९५१ को	९.५८	५.६६
३० जून १९५२ को	१४.०३	७.६५
३० जून १९५३ को	१५.४७	९.२७

इस तालिका से ज्ञात होता है कि कारपोरेशन ने जितनी राशि के ऋण औद्योगिक कम्पनियों को स्वीकृत किए उतनी पूर्ण राशि कम्पनियो ने कारपोरेशन से ली नहीं। जून ३०, १९५१ को स्वीकृत ऋण-राशि और देय-राशि का अन्तर ३.९२ करोड़ रुपये का था जो १९५२ के जून मे ६.७८ करोड़ रुपये हो गया। इसका यह अर्थ है कि कम्पनियो ने ऋण स्वीकृत तो करा लिए पर उतनी राशि ली नहीं। इसके कई कारण हैं। कुछ कम्पनियों ने ऋण स्वीकृत करा लिए पर फिर उनकी आर्थिक स्थिति ठीक हो जाने के कारण उन्हे राशि की आवश्यकता न रही। कुछ कम्पनियों ने आर्थिक वायुमडल बदल जाने के कारण और ऋण-भार लेना ठीक न समझकर स्वीकृत ऋणा की संपूर्ण राशि कारपोरेशन से नहीं ली। कुछ कम्पनियों को आवश्यक मात्रा में कच्चा माल तथा यन्त्रादि उपलब्ध न होने के कारण कारपोरेशन से ऋण की समूची राशि की आवश्यकता न हुई। कुछ कम्पनियों ने ऋण सम्बन्धी शर्तें ही पूरी नहीं कीं जिनके कारण कारपोरेशन ने उन्हें और राशि नहीं दी। कुछ भी हो, इस स्थिति से कारपोरेशन के अधिकारियों में बड़ा असन्तोष है। कारपोरेशन की एक वार्षिक रिपोर्ट में कहा गया है कि "यदि कम्पनिया ऋण स्वीकृत करके समूची स्वीकृत राशि नहीं लेतीं तो इससे कारपोरेशन का बड़ी हानि होगी। कारपोरेशन ऋण स्वीकृत करके उतनी राशि सदैव तरल रूप मे इसलिए रखता है कि न मालूम कब ऋण-याचक कम्पनी माग कर बैठे। पर जब राशि की माग नहीं होती तो कारपोरेशन को बड़ी हानि होती है क्योकि न तो वह उस राशि को किसी और को उधार दे सकता है और न उसका विनियोग ही कर सकता है।"

३० जून १९५३ को ४१ आवेदन-पत्र, जिनमें ५२२ लाख रुपये की माग की गई थी, कारपोरेशन के विचाराधीन थे जबकि गत वर्ष इसी दिन केवल १७ आवेदनपत्र ही विचाराधीन थे और उनमें केवल २०३ लाख रुपये की मांग की गई थी। इससे ज्ञात होता है कि उद्योगो में कारपोरेशन से ऋण लेने के विषय में उत्सुकता रही है और अधिक से अधिक कम्पनियां उससे लाभ उठाना चाहती हैं। यही नहीं, कारपोरेशन ने गत वर्ष जो

कमाई की उसमें भी कारपोरेशन की बढ़ती हुई गति-विधि का संकेत मिलता है। चौथे वर्ष में कारपोरेशन का शुद्ध लाभ केवल ६.२५ लाख रुपये था जिसमें गारंटीड लाभांश का वितरण भी सम्भव नहीं हो सका और सरकार को गारंटी पूरी करनी पड़ी। गत वर्ष कारपोरेशन का लाभ बढ़कर १४.६४ लाख रुपये हो गया जिसमें से गारंटीड लाभांश भी बांट दिया गया और संचित-कोष मे २.५ लाख रुपये जमा कर दिये गये। गत वर्ष कारपोरेशन को सरकार ने सहायता की कोई आवश्यकता न रही। इस समय कारपोरेशन का संचित कोष ५.५ लाख रुपये है।

'कारपोरेशन को अधिकार है कि वह औद्योगिक कम्पनियों द्वारा निर्गमित २५ साल की अवधिवाले ऋण-पत्रों का गारंटी करे पर कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण वह ऐसा नहीं कर पाया है। ऋण देनेवाली कम्पनियां प्रायः ठीक समय पर किश्तों और व्याज का भुगतान करती रही है। गत वर्ष केवल एक कंपनी ने भुगतान करने में गड़बड़ की थी जिसे कारपोरेशन ने एक्ट के अनुसार अपने प्रबन्ध-संचालन में ले लिया है।

३० जून १९५४ के वर्ष में कारपोरेशन के पास ६ करोड़ रुपये के ऋणों के लिए ४३ आवेदन पत्र आए जिनमें से २६ आवेदन-पत्र स्वीकार किए गए और ५.२७ करोड़ रुपये की राशि स्वीकृत की गई। इस प्रकार कारपोरेशन ने अपने जीवन-काल में १३७ औद्योगिक कम्पनियों को लगभग २१ करोड़ रुपये के ऋण स्वीकृत किए गए हैं। स्वीकृत किए गए ऋणों की स्थिति-तालिका इस प्रकार है :—

वर्ष	स्वीकृत किए गए ऋण (रुपया में)
१९४८-४९	३,४२,२५,०००
१९४९-५०	२,७७,००,०००
१९५०-५१	२,३८,६५,०००
१९५१-५२	४,४५,२५,०००
१९५२-५३	१,४३,२५,०००
१९५३-५४	५.२७,०५,०००

स्पष्ट है कि अपने जीवन-काल मे गत वर्ष ही कारपोरेशन ने सबसे अधिक राशि स्वीकृत की है। पर कारपोरेशन का लाभ फिर भी कम रहा। गत वर्ष कम्पनी को १०,१८,६३६ रुपये का लाभ रहा जब कि इससे पहिले वर्ष मे २३,१६,६६१ रुपये का लाभ था। २½% गारंटीड लाभांश चुकाने के लिए कारपोरेशन को ११,२५,००० रुपये की आवश्यकता होती है पर गत वर्ष लाभांश के लिए कारपोरेशन के पास व्यय काटकर केवल ७,१८,६३६ रुपये ही शेष रहे। अत. निश्चित दर पर लाभांश का भुगतान करने के लिए ४,०६,३६४ रुपये भारत सरकार को देने होंगे क्योंकि भारत सरकार ने २½% की दर से लाभांश की गारंटी की हुई है। गत वर्ष से पहले वर्ष में कारपोरेशन को सरकार से कोई राशि इस हेतु नहीं लेनी पड़ी अन्यथा प्रत्येक वर्ष भारत सरकार को लाभांश के भुगतान में अंशदान देना पड़ा है।

दिए गए ऋणों पर कारपोरेशन को १.४७ करोड़ रुपये की राशि ब्याज में मिलनी थी जिसमें से अभी तक १.३४ करोड़ रुपये ही प्राप्त हो सके हैं। मूल राशि में से ८०.३० लाख रुपये मिलने थे जिसमें से केवल ६१.४४ लाख रुपये ही मिले हैं।

गत वर्ष मे कारपोरेशन ने आवेदन-पत्रों पर विचार करने के लिए दो अस्थायी समितियों का और निर्माण किया गया है जो इंजीनियरिंग और रसायन-उद्योगों से सम्बन्धित हैं। गत वर्ष मे कारपोरेशन की गतिविधि को लेकर पार्लियामेंट मे काफी वाद-विवाद रहा। एक जांच कमेटी भी बनाई गई और परिणामस्वरूप कारपोरेशन के एक्ट मे कुछ संशोधन भी किए गये। आजकल कारपोरेशन के संचालक सरकार द्वारा नामजद श्री पी० सी० भट्टाचार्य हैं जो ११ मार्च १९५४ से कार्य कर रहे हैं।

कारपोरेशन की कठिनाइयां

(१) कारपोरेशन के पास विभिन्न औद्योगिक कम्पनियों के जो आवेदन-पत्र आते रहे हैं उनमें उन योजनाओं का पूरा वर्णन नहीं दिया जाता जो

ऋण-याचक उद्योग ऋण-राशि लेकर पूर्ण करना चाहते हैं। । इस अभाव के कारण कारपोरेशन के अधिकारियों और विशेषज्ञों को आवेदन-पत्रों पर पूर्ण विचार करने का क्षेत्र नहीं मिल पाता और न आवेदकों की भावी योजनाओं का ही पता लग पाता है।

(२) अनेक आवेदन-पत्रों के साथ जो योजनाएं आती हैं वे पूर्ण नहीं होतीं और न विशेषज्ञों की सलाह से ही बनी हुई होती हैं। उन पत्रों में उल्लिखित अपूर्ण योजनाओं के विषय में न साफ-साफ जानकारी दी जाती है और न यह बतलाया जाता है कि उस योजना की पूर्ति के लिए कौन-कौन से साधनों की आवश्यकता होग । इससे कारपोरेशन को योजनाओं के विषय में पूर्ण जानकारी नहीं हो पाती और तब याचित ऋण स्वीकृत करने में कठिनाई भी होती है।

(३) अनेक ऐसी कम्पनियां ऋणों के लिए आवेदन-पत्र भेज देती हैं जिनके पास न पर्याप्त साधन होते हैं और न पर्याप्त मात्रा में कार्यशील पूंजी ही होती है। यदि कारपोरेशन ऐसे कम्पनियों को ऋण दे भी दे तो वे कम्पनियां अपने पास साधनों का अभाव होने के कारण उस ऋण राशि का भरपूर प्रयाग नहीं कर सकतीं और तब कारपोरेशन की राशि भी खतरे में पड़ जाती है।

(४) अनेक ऐसी कम्पनियां होती हैं जो ऋण ले लेने पर भी वैधानिक कार्यवाही पूर्ण नहीं करतीं और न करने का प्रयत्न ही करती हैं। इससे कारपोरेशन की राशि उलझ जाती है और उसका समुचित समय पर उचित प्रयोग नहीं हो पाता।

(५) अनेक ऐसी कम्पनियों ने ऋणों के लिए आवेदन-पत्र भेजे हैं जिनकी भूमि-गृहादि तथा यंत्रादि के स्वामित्व का निर्धारण करना संभव नहीं है। यदि उनकी भूमि पर मैनेजिंग एजेन्ट का स्वामित्व था तो गृहादि पर कम्पनी का; जिससे उन्हें बन्धक (Mortgage) रखने में कारपोरेशन को बड़ी कठिनाई प्रतीत होती है।

(६) कई कम्पनियों ने कारपोरेशन से ली हुई राशि का समुचित प्रयोग

नहीं किया और न उनके व्ययादि का कोई ब्यौरा रक्खा। इससे कार-पोरेशन को अपनी ऋण-राशि के उपयोग का सच्चा ज्ञान नहीं हो सका।

(७) जिन कम्पनियों ने कारपोरेशन से ऋण लिए हैं उन्होंने स्वीकृत ऋणों की पूरी राशि नहीं उठाई है जिससे कारपोरेशन को कोष रखने में बड़ी अनिश्चितता रहती है तथा कारपोरेशन यह निश्चित नहीं कर पाता कि उसे कितनी राशि नकद रूप में अपने पास रखनी चाहिए। कारपोरेशन को इससे ब्याज की हानि भी होती है।

उक्त कठिनाइयां वास्तव में कारपोरेशन के कार्यक्षेत्र में बड़ी बाधाएं रही हैं और इसी कारण वह बहुत सी कम्पनियों को ऋण नहीं दे सकी है। परन्तु फिर भी कारपोरेशन ने अपने पांच वर्षों के जीवन में पर्याप्त कार्य किया है। हमारे देश में जहां न पूंजी-मंडी है और न संगठित मुद्रा-मंडी ही है, पांच वर्षों में १५½ करोड़ रुपये के ऋण स्वीकृत करना प्रशंसनीय कार्य है। अनेक उद्योगों को और विभिन्न प्रान्तों में जिस समायोजन के साथ ऋण स्वीकृत किये गये हैं उससे ज्ञात होता है कि कारपोरेशन के अधिका-रियों ने समूचे देश को एक समान दृष्टि से उन्नत बनाने की कल्पना की है। कारपोरेशन के कार्य को बढ़ावा देने के लिए औद्योगिक कम्पनियों को चाहिए कि वे उक्त कठिनाइयों को दूर करने के प्रयत्न करें और कारपो-रेशन को अधिकाधिक सहायता और सहयोग दें।

कारपोरेशन के एक्ट में संशोधन—संशोधित एक्ट के अनुसार कारपोरेशन के क्रियाकलापों में निम्नलिखित पांच मुख्य व्यवस्थाएं कर दी गई हैं :—

(१) कारपोरेशन भारत सरकार की आज्ञा लेकर अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं से विदेशी मुद्रा में ऋण ले सकता है और उस पर भारत सरकार की गारंटी करा सकता है।

(२) वह रिजर्व बैंक से सरकारी सिक्यूरिटियों की जमानत पर अल्प-कालीन, अधिक से अधिक ९० दिन की अवधि पर, ऋण ले सकता है।

वह अपने द्वारा निर्गमित ऋणपत्रों की साख पर भी बैंक से १८ महीनों की अवधि वाले अधिक से अधिक ३ करोड़ रुपये तक के ऋण ले सकता है।

(३) भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक कारपोरेशन में खरीदे हुए अपने अंशों पर तब तक लाभांश नहीं लेंगे जब तक उन लाभांशों के लेखे पर ५० लाख रुपए की राशि विशिष्ट संचित कोष में स्थानान्तरित न हो जाय।

(४) कारपोरेशन किसी भी एक औद्योगिक कम्पनी को १ करोड़ रुपए तक के ऋण स्वीकृत कर सकता है। (इससे पूर्व वह केवल ५० लाख रु० तक के ही कर सकता था।)

(५) कारपोरेशन जहाजी कम्पनियों को भी ऋण स्वीकृत कर सकता है।

प्रश्न

१—मुख्य-मुख्य उद्योगों के लिए पूंजी किस प्रकार मिलती है?

(यू०पी० १९५४, १९४९)

२—भारत के औद्योगिक बैंकिंग की मन्द वृद्धि के क्या कारण हैं?

(यू०पी० १९५१, १९५०)

३—भारत में औद्योगिक बैंकों का विकास किस प्रकार होना चाहिए?

(यू०पी० १९४७)

अध्याय २६

सहकारी बैंक

(Co-operative Banks)

सहकारी बैंक क्या है ?

अन्य बैंकों की भांति हमारे देश में सहकारी बैंक जनता से लेन-देन का काम करते हैं परन्तु व्यापारिक बैंकों तथा सहकारी बैंकों में कुछ मूल भेद हैं। सहकारिता ऐसा संगठन है जिसके अनुसार कुछ लोग अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए समान अधिकारों के साथ मिलकर काम करते हैं। इस संगठन से गरीब और निर्बल स्वावलम्बन, बचत तथा विनियोग के सिद्धान्तों को लेकर एक दूसरे की सहायता करके आर्थिक उन्नति करते हैं। सहकारी बैंकिंग प्रणाली में कुछ साधनहीन लोग आपस में मिलकर चंदा इकट्ठा करके, अंश खरीदकर अथवा अन्य लोगों से उधार लेकर एक कोष बना लेते हैं जिसमें से समय-समय पर सदस्यों को राशि उधार देकर उनकी सहायता की जाती है। राशि मुख्यतया उत्पादन-कार्यों के लिए ही उधार दी जाती है। सहकारी कोष को 'सहकारी बैंक' कहते हैं। इसका प्रमुख उद्देश्य सदस्यों से थोड़ी-थोड़ी राशि अंश-पूंजी के रूप में अथवा जमा-राशि के रूप में लेना तथा उसमें से समय-समय पर उत्पादन-कार्यों के लिए ऋण देकर उनकी सहायता करना है। इस कार्य-शैली के निम्नलिखित मुख्य लाभ हैं :—

(१) पारस्परिक सहयोग से काम करने के कारण आत्मविश्वास बढ़ता है एवं नागरिकता की भावना उत्पन्न होती है।

(२) इनकी कार्यवाहक पूंजी इतनी छोटी-छोटी राशियों में आती है कि जिसको देश के अन्य बैंक स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार देश की निठल्ली राशि का उपयोग होकर मुद्रा एवं साख की गतिशीलता बढ़ती है तथा बहुमुखी आर्थिक उन्नति भी होती है।

(३) साधनहीन व्यक्तियां को सस्ती ब्याज-दरों पर उत्पादन के लिए ऋण मिलता है और इस प्रकार निष्क्रियता की समस्या का भी हल होता है।

(४) सदस्य सहकारी बैंकों के लेखे किसी भी समय देख सकते हैं, जिससे इनकी कार्य-शैली में सदस्यों का विश्वास बना रहता है।

(५) इस प्रणाली से ग्रामीण जनता में बचत करने की लगन पैदा होती है।

भारत में ऐसे सहकारी बैंक केवल कृषकों को ही वित्त-सहायता देने के लिए स्थापित किए गए थे। सहकारिता द्वारा कृषकों को सहायता देने का मौलिक उद्देश्य यह है कि गरीब किसानों को आवश्यकतानुसार सस्ती ब्याज-दर पर शीघ्र ही ऋण प्राप्त हो सके। हमारे देश में सहकारी बैंकिंग संस्थाएं ऐसे लोगों ने बनाई हैं जिनके पास साधनों की कमी है। अतः भारतीय सहकारी संस्थाओं के पास आवश्यकता के अनुकूल पूंजी नहीं होती। अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से सहकारी बैंकों को तीन भागों में बांट सकते हैं :—

(१) प्राइमरी सहकारी साख-समितियां—

(क) ग्रामीण सहकारी साख समितियां,

(ख) नगर सहकारी साख-समितियां;

(२) केन्द्रीय सहकारी समितियां (बैंक);

(३) प्रान्तीय सहकारी बैंक।

प्राइमरी सहकारी साख-समितियां

दस या दस से अधिक व्यक्ति मिलकर एक प्राइमारी साख-समिति बना सकते हैं। साख-समिति बनाने की स्वीकृति सहकारी एक्ट १६०४ के अन्तर्गत सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार से लेनी होती है। यह समिति किसी एक गाव अथवा किसी एक क्षेत्र के लिए एक ही होती है। उस गाव या क्षेत्र में रहनेवाला कोई भी व्यक्ति उसका सदस्य बन सकता है। समिति के सदस्यों की देनदारी असीमित (unlimite 1) होती है जिससे सभी सदस्य अपना-अपना उत्तरदायित्व समझ सकें और बाहर वाले भी उसमें विश्वास रख सकें। सदस्यों से प्रवेश-शुल्क लेकर, उनको अंश बेचकर अथवा उनसे राशि जमा रखकर समिति की पूंजी प्राप्त की जाती है। आवश्यकता आने पर सरकार से ऋण लेकर अथवा केन्द्रीय सहकारी बैंकों से ऋण लेकर भी पूंजी प्राप्त की जा सकती है।

अपने सदस्यों को उत्पादन व कृषि-कार्यों के लिए ही समितियां राशि उधार देती हैं। परन्तु यह बात सदैव ही संभव नहीं हो सकती कि केवल उत्पादन के लिए ही उधार दिया जावे, अन्य कार्यों के लिए बिल्कुल नहीं; क्योंकि इस प्रकार सदस्यों की आवश्यकताएं अधूरी रह जाती हैं और फिर यह भय बना रहता है कि वे कहीं महाजन के चंगुल में न फंस जायं। अतः समिति आवश्यकतानुसार सदस्यों की सामाजिक आवश्यकताओं के लिए तथा पुराने ऋणों के भुगतान के लिए भी ऋण देती है। साधारणतः ऋण उधार लेनेवालों की व्यक्तिगत साख पर दिए जाते हैं। उधार लेनेवाला ऋण का भुगतान सुविधानुसार किश्तों में करता है।

प्रत्येक समिति को अपने लाभ में से कुछ राशि संचित कोष में रखना होता है। यदि समिति में अंशधारी हैं तो लाभ का ¼ भाग संचित कोष में रखना होता है अन्यथा सम्पूर्ण लाभ ही संचित कोष में रखना आवश्यक है। रजिस्ट्रार की स्वीकृति से लाभ का १०% जनहित (Charity) में व्यय किया जा सकता है। समिति को लेन-देन का पूरा-पूरा ब्यौरा रखना

पड़ता है और समय-समय पर निरीक्षकों द्वारा उसका निरीक्षण कराना होता है। निरीक्षक रजिस्ट्रार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं।

समिति का प्रबन्ध व संचालन दो कमेटियों के हाथ में होता है—(१) साधारण कमेटी, जिसमें समिति के सभी सदस्य होते हैं; (२) प्रबन्ध कमेटी, जिसमें साधारण कमेटी के चुने हुए कुछ सदस्य होते हैं जो समिति का प्रबन्ध करते हैं। साधारण कमेटी समिति की नीति तथा नियम निर्धारित करती है तथा प्रबन्ध कमेटी समिति का प्रबन्ध करती है।

गत महायुद्ध से पूर्व 'अवसाद' (Depression) के कारण प्राइमरी साख-समितियों की परिस्थिति बड़ी भयंकर सी रही परन्तु आगे चलकर कुछ सुधरी। १९२९-३० से १९३९-४० तक समितियों के द्वारा दिए जानेवाले ऋणों में भारी कमी हो गई। लेकिन द्वितीय महायुद्ध ने परिस्थिति बदल दी। १९३८-३९ में समितियों की वीतकाल ऋण-राशि (Overdues) लगभग ११ करोड़ रुपये थी जो १९४५-४६ में लगभग ६ करोड़ रह गई। समितियों की संख्या, सदस्यता तथा जमा-रशि में वृद्धि हुई। परन्तु समितियों द्वारा दी जानेवाली ऋण-राशि में कमी हो गई क्योंकि मूल्यस्तर बढ़ जाने के कारण कृषकों के पास अधिक रुपया आता रहा और उन्हें समितियों से ऋण लेने की आवश्यकता ही नहीं रही। समितियों के दिए गए ऋण वापिस आने लगे जिससे समितियों की आर्थिक परिस्थिति अच्छी हो गई।

केन्द्रीय सहकारी बैंक

प्राथमिक सहकारी साख-समितियों के साधन उनकी आर्थिक आवश्यकताओं की अपेक्षा बहुत कम होते हैं। अतः इनकी सहायता के लिए ही केन्द्रीय सहकारी बैंकों का संगठन किया गया है। किसी तहसील, जिला या किसी विशेष क्षेत्र की प्राइमरी साख-समितियों के ऊपर एक केन्द्रीय सहकारी बैंक होता है जिसका प्रधान कार्यालय किसी विशेष केन्द्र पर स्थापित किया जाता है। साधारणतः केन्द्रीय सहकारी बैंक जिले का एक बैंक होता

है। कुछ केन्द्रीय सहकारी बैंक अपने-अपने जिलों में शाखाएं भी खोल लेते हैं। केन्द्रीय सहकारी बैंक दो प्रकार के होते हैं—

(१) जिनमें केवल प्राइमरी सहकारी साख-समितियां ही सदस्य बनाई जायं—इन्हें 'यूनियन' कहते हैं;

(२) जिनमें प्राइमरी समितियां भी सदस्य हों तथा अन्य व्यक्ति भी सदस्य बनाए जा सकें—इन्हें केन्द्रीय सहकारी बैंक कहते हैं।

यूनियन (Union) एक प्रकार से प्राइमरी समितियों का एक संघ है, जिसका प्रबन्ध प्राइमरी समितियों के द्वारा चुने हुए संचालकों द्वारा होता है। यह संघ प्राइमरी समितियों का निरीक्षण व उनकी देख-भाल करता है। तथा समय आने पर उनको ऋण भी देता है।

केन्द्रीय सहकारी बैंकों का जन्म १६१२ के पश्चात् हुआ। इनका प्रधान उद्देश्य प्राइमरी समितियों को धन-राशि देकर सहायता करना है। ये बैंक तहसील या जिले के एक विशाल क्षेत्र में काम करते हैं। इसलिए इनके पास साधन अनेक और अधिक होते हैं जिनके द्वारा ये प्राइमरी समितियों की भली प्रकार सहायता कर सकते हैं। प्राइमरी समितियों की सहायता करने के अतिरिक्त ये अन्य प्रकार का बैंकिंग कार्य भी करते हैं जैसे राशि जमा करना, बिलों का संग्रहण करना आदि-आदि। किसी-किसी प्रान्त में तो ये बैंक अचल सम्पत्ति की जमानत पर लोगों को ऋण भी देते हैं। केन्द्रीय सहकारी बैंक अंश बेचकर, लोगों से राशि जमा करके, प्राइमरी समितियों (जो इसकी सदस्य हों) से उनके संचित कोष जमा करके अर्द्ध-सहकारी संस्थाओं जैसे विश्वविद्यालयों, म्यूनिसिपैल्टियों तथा जिला बोर्डों से उनकी अतिरेक राशि (Surplus Fund) जमा करके तथा इम्पीरियल-बैंक और अन्य व्यापारिक बैंकों से भी ऋण लेकर पूंजी इकट्ठी करते हैं। प्राइमरी समितियों के ऋण स्वीकार करने से पहले ये अपने निरीक्षकों द्वारा उनकी आर्थिक स्थिति की पूरी-पूरी जांच करा लेते हैं। जमा करनेवाले व्यक्तियों की मांग पूरी करने के लिए ये कुछ राशि तरल रूप (Liquid form) में सदैव अपने पास कोष में रखते हैं।

गत महायुद्ध काल में इन बैंकों की आर्थिक स्थिति संगठित हो गई है यद्यपि इनकी संख्या में कोई विशेष वृद्धि नहीं जान पड़ती। इनकी पूंजी तथा जमा-राशि में पर्याप्त वृद्धि हुई है। परन्तु प्राइमरी समितियो ने पिछले दिनों में इनसे कोई ऋण नहीं लिये हैं। अतः इन्होंने अपनी व्यापारिक बैंकिंग क्रियाएं बढ़ा दी हैं। सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि केन्द्रीय सहकारी बैंको के सदस्यों में आजकल प्राइमरी सहकारी समितियों की संख्या बढ़ती जा रही है और व्यक्तियों की संख्या कम होती जा रही है। युद्धकाल में तो इन केन्द्रीय बैंकों ने "अधिक अन्न उपजाओ" तथा वस्तुओं के वितरण में भी अधिक योग दिया था।

प्रान्तीय सहकारी बैंक

प्रान्तीय सहकारी बैंक देश के सहकारी बैंकिंग कलेवर के शीर्ष बैंक (Apex Bank) का काम करता है। प्रान्तीय सहकारी बैंक प्रान्त भर के केन्द्रीय सहकारी बैंको का संगठन करता है तथा उनकी क्रियाओं की भली-भांति देख-भाल करता है। ये बैंक समय-समय पर केन्द्रीय सहकारी बैंकों को ऋण देते हैं। एक प्रकार से ये बैंक गांव-गांव की प्राइमरी साख-समितियों तथा देश की मुद्रा-मंडी के बीच मध्यस्थ का काम करते हैं। प्राइमरी समितियों से प्रान्तीय बैंक सीधा लेन-देन नहीं करते वरन् केन्द्रीय बैंकों से ही इनका लेन-देन रहता है। जिन स्थानों पर केन्द्रीय सहकारी बैंक नहीं है, प्रान्तीय बैंक स्वयं प्राइमरी समितियों से लेन-देन करते हैं। बम्बई, मद्रास, मध्य-प्रदेश, बिहार तथा आसाम में प्रान्तीय बैंक प्रान्त की केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा अन्य व्यक्तियों को भी अपना सदस्य बनाते हैं। परन्तु बंगाल तथा पूर्वी पंजाब में केवल केन्द्रीय सहकारी बैंक ही प्रान्तीय सहकारी बैंकों के सदस्य हो सकते हैं।

प्रान्तीय सहकारी बैंकों को अपनी पूंजी अंश बेचकर, जमा-राशि द्वारा तथा इम्पीरियल बैंक और व्यापारिक बैंकों से ऋण लेकर प्राप्त होती है। केन्द्रीय सहकारी बैंक भी अपनी अपनी अतिरेक राशि (Surplus Fund)

इसमें जमा करते हैं। प्रान्तीय सहकारी बैंक केन्द्रीय सहकारी बैंकों को ऋण देते हैं, केन्द्रीय सहकारी बैंक प्राइमरी सहकारी समितियों को ऋण देते हैं और प्राइमरी समितियां सदस्यों को उधार देती हैं। प्रान्तीय सहकारी बैंकों को केन्द्रीय बैंकों के ऊपर निरीक्षण या अनुशासन का कोई अधिकार नहीं होता, केवल ऋण देकर ही उनके सिलसिले में थोड़ा बहुत आवश्यक निरीक्षण किया जा सकता है।

प्रान्तीय सहकारी बैंकों के ऊपर रिजर्व बैंक ऑव इंडिया है जो समय-समय पर विशेष कटौती-दर (Discount Rate) पर राशि देकर सहायता करता है।

इस प्रकार ऋण देने का काम चार सीढ़ियों में होता है—

(१) प्रान्तीय बैंक को इम्पीरियल बैंक एवं व्यापारिक बैंक ऋण देते हैं।

(२) केन्द्रीय बैंको को प्रान्तीय बैंक ऋण देते हैं;

(३) सहकारी साख-समितियों को केन्द्रीय बैंक ऋण देते हैं; तथा

(४) व्यक्तियों को सहकारी साख-समितियां ऋण देती हैं।

द्वितीय महायुद्ध काल में इन प्रान्तीय बैंकों की आर्थिक स्थिति भी विशेप सुदृढ़ हो गई है क्योंकि इस काल में जमा-राशि में तो विशेष वृद्धि हुई और दूसरी ओर ऋण अधिक नहीं दिए गए। इतना ही नहीं, बल्कि जो अदत्त ऋण थे उनका भी भुगतान इसी काल में हुआ। इसका यह प्रभाव हुआ कि इनके विनियोगों में काफी उन्नति हुई जो इसकी युद्धकालीन उन्नति का लक्षण है।

भूमि-बन्धक बैंक
(Land Mortgage Banks)

बतलाया जा चुका है कि सहकारी बैंक कृषकों को दीर्घकालीन ऋण नहीं देते जिससे वे भूमि खरीद सकें, कृषि-यंत्र खरीद सकें, अपनी भूमि के

उन्नत कर सकें तथा अपने पुराने ऋणों का भुगतान कर सकें। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसान को दीर्घकालीन ऋण देने का काम भूमि-बन्धक बैंक करते हैं। भूमि-बन्धक बैंक "वे बैंकिंग संस्थाएं हैं जो भूमि को बन्धक (mortgage) रखकर दीर्घकाल के लिए कृषकों को ऋण देते हैं।" ऐसे बैंक सहकारिता के सिद्धान्त पर भी स्थापित किए जा सकते हैं तथा व्यापारिक बैंकों की भांति भी। परन्तु सहकारी भूमि-बन्धक बैंक आदर्श संस्था समझी जाती है। इसमें भी कभी-कभी बाहर के लोगों को (जो इस बैंक से उधार न लें) सदस्य बना लिया जाता है जिससे अधिक पूंजी प्राप्त हो सके तथा अच्छे-अच्छे संचालक व प्रबन्धक भी मिल सकें।

इन बैंकों की कार्यवाहक पूंजी (Working Capital) अंश बेचकर राशि जमा करके तथा ऋण-पत्र बेचकर प्राप्त की जाती है। ऋण लम्बे समय के लिए (४० साल की अवधि के लिए) दिए जाते हैं। ऋण देते समय सबसे महत्त्वपूर्ण बात उस भूमि का मूल्यांकन करना है जो उस ऋण के बदले में बन्धक रक्खी जा रही है। बैंक उस भूमि का मूल्यांकन अपने विशेषज्ञों द्वारा करवाते हैं। ऋण का भुगतान किसान किश्तों में करता है। ब्याज-दर ६% से ९% तक ली जाती है।

हमारे देश में इस बैंकों का आरम्भ १९२९ से समझना चाहिये जब कि मद्रास में एक भूमि-बन्धक बैंक स्थापित किया गया था। यद्यपि १९२० में पंजाब में भी झांग (Jhang) नामक स्थान पर एक ऐसा बैंक स्थापित किया गया था परन्तु वह अधिक समय तक काम न कर सका। रिजर्व बैंक ने अपनी "सहकारिता समीक्षा" (Cooperative Review 1939-1946) नामक पुस्तिका में लिखा है—"इतनी भारी ग्रामीण जनसंख्या होते हुए भी भारत में भूमि-बन्धक बैंकों को अधिक सफलता नहीं मिली है। पंजाब में जहां सबसे पहले ऐसा बैंक बनाया गया था, इसकी कोई उन्नति नहीं हुई। अन्य प्रान्तों—जैसे उत्तर प्रदेश, मध्य-प्रदेश, अजमेर, उड़ीसा तथा बंगाल—में भी भूमि-बन्धक बैंकों का काम सन्तोषजनक नहीं रहा। केवल मद्रास में इन बैंकों ने कुछ उन्नति की है।

अवसाद के काल में इन बैंकों ने कुछ उन्नति की, क्योंकि मूल्यकम गिर जाने के कारण भूमि का भी मूल्य कम हो गया था और कृषकों को ऋण लेने की आवश्यकता हुई। परन्तु जब इन वर्षों में तो कृषकों के पास रुपये की बिल्कुल कमी नहीं रही। जितना रुपया कृषकों ने पहले उधार लिया था उसका अवधि से पहले ही भुगतान होने लगा। परिणाम स्वरूप बैंकों की पूंजी निठल्ली पड़ी रही और किसानों को उसकी आवश्यकता नहीं रही। पहिले कृषक अपने पुराने ऋणों को भुगतान करने के लिए इन बैंकों से ऋण लिया करते थे। परन्तु अब कृषकों पर ऋण ही नहीं रहे जिनका भुगतान करने के लिए अब वे इन बैंकों से ऋण लें।

भूमि-बन्धक बैंकों की सफलता इस बात पर निर्भर है कि क्या बैंक गलत बन्धक रखी जाने वाली भूमि का मूल्यांकन ठीक-ठीक होता है या नहीं, ऋण लेनेवाला किश्तों का भुगतान समयः करता है या नहीं। कृषि-कमीशन, प्रान्तीय बैंकिंग कमेटियों तथा केन्द्रीय बैंकिंग जांच-कमेटी ने भी इस बात की सिफारिश की है कि भूमि-बन्धक बैंक सहकारी सिद्धान्तों पर ही स्थापित होने चाहिए। इनका कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत नहीं होना चाहिए, जिससे ऋण लेनेवालों का सम्पर्क बैंकों के साथ निकटवर्ती रह सके। इन बैंकों का प्रबन्ध तथा संचालन भी ऐसे लोगों को सौंपना चाहिए, जो योग्य हों तथा जो अपने सम्बन्धियों को ही ऋण न दें पर बैंक के हित में ही काम करें। बैंकों को दृढ़ संचित-कोष बनाना चाहिए और तब तक लाभांश नहीं बांटना चाहिए जब तक कि उनका संचित-कोष इकट्ठा न हो जाय। बैंकों को अपनी कार्यवाहक पूंजी (Working Capital) अंशों द्वारा या ऋण-पत्रों द्वारा ही प्राप्त करनी चाहिए—विशेषतः ऋण-पत्रों द्वारा ही प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रान्तीय सरकारों को चाहिये कि वे इन बैंकों के ऋण-पत्रों के ब्याज की गारन्टी करें जिससे लोगों में उनके प्रति विश्वास पैदा हो तथा वे उन्हें खरीदें। यदि आवश्यकता आवे तो समय-समय पर प्रान्तीय सरकारों को ऋण देकर भी इनकी सहायता करनी चाहिए। बैंकों को राशि जमा रखने की आज्ञा

नहीं होनी चाहिए और यदि लोगों में बचत की भावना पैदा करने के लिए इनकी आवश्यकता भी समझी जावे तो जमा-राशि लम्बे समय के लिए रखनी चाहिये, थोड़े समय के लिए नहीं। दिए जानेवाले ऋणों की अवधि तथा उन पर व्याज-दर, उधार लेनेवाले की आर्थिक परिस्थिति तथा उनके भुगतान करने की सामर्थ्य देखकर निश्चित करनी चाहिये। ऐसे कार्यों के लिए ऋण नहीं देने चाहिये जो ऋण लेनेवाले की आर्थिक भलाई के न हों। यदि कोई ऋण लेकर उसे ठीक प्रकार उपयोग में न लावे तो तत्काल ही उससे ऋण वापिस ले लेना चाहिए। भूमि-बन्धक बैंकों को अधिकार मिलने चाहिये कि ऋण के भुगतान न होने पर वे बिना अदालत की सहायता के ही बन्धक भूमि को अपने स्वामित्व में कर सकें या वेच सकें। इन सब उपायों से ही भूमि-बन्धक बैंक सफलतापूर्वक काम कर सकते हैं।

सहकारी बैंकिंग प्रणाली में दोष

कृषि-कमीशन, प्रान्तीय बैंकिंग जांच कमेटियों तथा केन्द्रीय बैंकिंग जांच-कमेटी ने देश की सहकारी बैंकिंग प्रणाली में कुछ दोषों का संकेत किया है जो इस प्रकार हैं :—

(१) भारत की सहकारी संगठन का मुख्य दोष यह है कि "सहकारी आन्दोलन जनता की आवश्यकता के फलस्वरूप विकसित न होते हुए सरकारी नीति के एक भाग के रूप में विकसित हुआ" जिसके कारण यह जनता का वांछित स्तर तक हितवर्धक न हो सका। आज भी सामान्य जनता, जो सहकारी समितियों की सदस्य है, इसके महत्व को नहीं जानती। इस विषय में टाउन्सेंड समिति (मद्रास) ने लिखा है कि "सहकारिता सम्बन्धी अज्ञान, जो जनता ने ही नहीं अपितु इसके कर्मचारियों ने भी प्रकट किया, आश्चर्यजनक है।" इसी प्रकार आसाम बैंकिंग जांच-कमेटी ने लिखा है कि "ग्रामीण सहकारी समिति के सदस्यों को केवल इतना ज्ञान है कि यह एक बैंक है, जिसका किसी न किसी प्रकार से सरकार से सम्बन्ध है

तथा जहां से उन्हें साहूकारों अथवा महाजनों की अपेक्षा कम ब्याज-दर पर राशि मिलती है तथा जिसके भुगतान की कोई जल्दी नहीं होती।"

(२) प्राइमरी साख-समितियों ने अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋणों के अन्तर को भली-भांति नहीं समझा है जिससे वे दीर्घकाल के लिए भी ऋण देती रहीं जब कि इनका उद्देश्य केवल अल्पकालीन एवं मध्यकालीन ऋण देना है और इस प्रकार इन्हें इन दीर्घकालीन ऋणों की राशि प्राप्त करने में असुविधाओं का सामना करना पड़ता है।

(३) इनकी प्रथा के अनुसार सदस्यों को ऋण लेते समय बड़ी असुविधा रहती है। उन्हें आवेदन-पत्र देकर अनेक कार्यवाही करनी होती हैं और तब उन्हें ऋण मिलता है। इन असुविधाओं से बचने के लिए किसान साहूकार से ऋण लेना पसन्द करता है जहां उसे पहुंचते ही ऋण मिल जाता है। समितियों को अपने लेन-देन की क्रियाएं सरल बनानी चाहिए जो कृषकों की समझ में भली प्रकार आ सकें, और उन्हें उनसे कोई असुविधा न हो।

(४) बैंकों में कर्मचारी प्रथा (Official control) अधिक होती जा रही है, जिससे सदस्य अपने आपको बैंक से अलग समझने लगे हैं। वास्तव में सदस्य और बैंक एक ही बात और एक ही अंग होने चाहिए परन्तु यह भावना मिटती जा रही है और सदस्य अपने आपको बैंक से अलग समझने लगे हैं। पारस्परिक सहयोग तथा उत्तरदायित्व कम होता जा रहा है। इसका विशेष कारण यह है कि लोगों में शिक्षा की कमी होने के कारण वे सहकारिता के उद्देश्य को भली-भांति नहीं समझ पाए हैं।

(५) बैंकों के संचालक तथा प्रबन्धक बैङ्क सम्बन्धी कार्यों से अपरिचित होने के कारण उनका ठीक-ठीक प्रबन्ध नहीं कर पाते। कुछ प्रबन्धक तो अपने परिचितों को ऋण दे देते हैं और भुगतान न करनेवालों के विरुद्ध कोई कार्यवाही भी नहीं करते। इससे बैङ्कों की आर्थिक स्थिति पर बड़ा धक्का लगता है।

(६) बैंकों के हिसाब-किताब ठीक ठीक नियमानुसार नहीं रक्खे जाते हैं, न उनका ठीक-ठीक प्रकार से निरीक्षण ही किया जाता है और न हिसाब-विशेषज्ञों ही को इस काम के लिए नियुक्त किया जाता है। इससे बैंको की राशि का दुरुपयोग होने लगता है।

(७) अधिकतर साख-समितियों तथा बैंकों की आर्थिक स्थिति अभी तक नाजुक थी परन्तु गत महायुद्ध के पश्चात् से अब सुदृढ़ हो गई है परंतु फिर भी सहकारिता आन्दोलन के कार्यकर्त्ताओं को अधिकाधिक जमा-राशि एकत्र करने की जरूरत है जिससे वे उसकी सरकारी सहायता के ऊपर ही अवलम्बित न रहें। इस आर्थिक कमजोरी के कारण वे महाजनों तथा स्वदेशी बैंकों की प्रतियोगिता सफलता से नहीं कर सके एवं स्वदेशी बैंकों को इनसे लेशमात्र भी डर नहीं है।

(८) कुछ प्रान्तों में तो सहकारी बैंकों द्वारा दिये गये ऋणों पर अधिक ब्याज-दर वसूल की जाती रही है क्योंकि प्राइमरी समितियों के पास तो पूंजी की कमी रही। फलस्वरूप उन्होंने केन्द्रीय बैंकों से ऋण लिये, जहां उन्हें ब्याज दर अधिक देनी पड़ी। इसलिए उन्होंने भी सदस्यों से अधिक ब्याज वसूल किया।

(९) सहकारिता आन्दोलन की कमजोरी का एक कारण यह भी है कि सहकारी विभाग के कर्मचारी आन्दोलन का विकास एवं अपनी सफलता दिखाने के लिए बिना सहकारिता की शिक्षा दिए सहकारी समितियों की स्थापना करते हैं तथा आर्थिक संगठन को विशेष महत्त्व नहीं देते। फलस्वरूप सहकारी समितियां विलीन हो जाती हैं जिससे जनता का विश्वास इस आन्दोलन में नहीं जम पाता।

(१०) इस आन्दोलन की एक त्रुटि यह भी है कि समितियों तथा प्रान्तीय एवं केन्द्रीय बैंकों के बीच ऋणों के लेने-देने के लिए कागजी दुड़-दौड़ होती है। अर्थात् पुराने ऋणों को अदा करने के लिये नये ऋण दिए जाते हैं जिससे वास्तविक आर्थिक स्थिति का ज्ञान नहीं हो पाता और

अधिकारी भी इस बात को नहीं समझ पाते। इससे समितियों की आर्थिक स्थिति कमजोर होती जाती है।

इन सब त्रुटियों के रहते हुए भी सहकारिता आन्दोलन ने बहुत कुछ सावधानी से कार्य किया है; किसानों को कम ब्याज-दर पर ऋण दिया है जिससे इस आन्दोलन से धीरे-धीरे देश में आर्थिक क्रान्ति हो रही है।

सहकारी बैंक उन्नत कैसे हों ?

यदि देश की सहकारी समितियां तथा बैंकों से कुछ विशेष लाभ उठाना है तो उनकी वर्तमान कार्यशैली में कुछ परिवर्तन करके उन्हें उन्नत करना होगा। उन्नत बनाने के निम्न उपाय काम में लाए जा सकते हैं :—

प्राइमरी साख-समितियों को चाहिये कि वे केवल अल्पकालीन एवं मध्यकालीन ऋण ही दें। दीर्घकालीन ऋण देने के लिए भूमि-बन्धक बैंक स्थापित किए जाने चाहिए। बैंकों के कर्मचारियों, प्रबन्धकों तथा संचालकों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध होना चाहिए। सार्वदेशिक सहकारी शिक्षा-केन्द्र हो जहां पर सहकारी बैंकों के होनेवाले कर्मचारियों की शिक्षा का प्रबन्ध हो। इन कर्मचारियों को चाहिये कि विशेष रूप से सदस्यों में सहकारिता के सिद्धान्तों का प्रचार करें। रजिस्ट्रारों को चाहिए कि वे किसी भी समिति की स्थापना की स्वीकृति देते समय सतर्क रहें और तब तक स्वीकृति न दें जब तक कि यह पता न ले लें कि लोगों में उस स्थान पर सहकारिता के सिद्धान्तों का प्रचार है। प्राइमरी साख-समितियों पर इस बात का कड़ा-निरीक्षण होना चाहिये कि वे अपना अपना हिसाब रक्खें। हिसाब निरीक्षण के लिए विशेषज्ञ नियुक्त किए जाने चाहिए। इस काम को केन्द्रीय यूनियनों (Central Unions) के सुपुर्द कर देना चाहिए।

प्राइमरी समितियों तथा बैंकों को अधिक से अधिक राशि जमा रखनी चाहिए। उनको चाहिए कि अतिरेक राशि (Surplus Fund) के रूप में लोगों से राशि जमा करा लें ताकि वह आवश्यकता के समय का

आती रहे। प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सहकारी बैंकों को समितियों के लिए थोड़ी ब्याज-दर पर उधार देना चाहिये जिससे समितियां भी कम ब्याज-दर पर लोगों की सहायता कर सकें। एक प्रान्त के सभी केन्द्रीय सहकारी बैंकों में पारस्परिक सहयोग होना चाहिये जिससे प्रान्त भर में एकसी नीति निर्धारित हो सके।

सहकारी बैंकों को भी ऋण देते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे कार्यों के लिए ऋण दिया जाय जिससे उत्पादन बढ़े तथा रुपया उधार लेनेवाले की आर्थिक उन्नति हो।

सहकारिता आयोजन समिति की सिफारिशें—सहकारिता आन्दोलन के दोषों को दूर करने तथा सहकारी बैंकों को देश के लिए अधिक उपयोगी बनाने के लिए सहकारिता आयोजन समिति ने जो सुझाव दिए थे वे इस प्रकार हैं :—

(१) "सहकारी समितियों की जड़ संपत्ति को, जहां तक संभव हो सके, तरल रखना चाहिए तथा उनके अधिकारों और स्वत्वों का समायोजन सदस्यों की भुगतान-क्षमता के अनुकूल हो जाना चाहिए जिससे समितियां अपनी सामान्य कार्यशैली भली भांति निभा सकें।

(२) "सहकारी साख-समितियों का संगठन असीमित देनदारी के आधार पर होना चाहिए जिससे उनके सदस्यों में सामूहिक भावना उत्पन्न हो और वे सावधानी के साथ कार्य करना सीखें। असीमित देनदारी होने से समितियों को पर्याप्त मात्रा में राशि मिलना सरल होगा और उस स्थिति में अधिकांश राशि अंश-पूंजी के रूप में प्राप्त की जा सकेगी।"

(३) "समितियों को अपने सदस्यों की सभी प्रकार की अल्पकालीन वित्त-आवश्यकताएं पूर्ण करते रहना चाहिए। उत्पादन कार्यों के लिए मध्यकालीन ऋण भी दिए जायं पर वे ऋण पूंजी तथा संचित कोष को मिलाकर राशि से अधिक न हों। मध्यकालीन ऋण देने के लिए राशि अन्य स्रोतों से भी प्राप्त की जा सकती है।"

(४) "ऋण समान्यतः व्यक्तिगत साख पर ही दिए जाने चाहिए तथा साख-क्षमता का निर्धारण सदस्यों की भुगतान-शक्ति पर निर्भर रहना चाहिए। मौसमी आवश्यकताओं के लिए ऋण देते समय समितियों को सदस्यों की फसल पर वैधानिक अधिकार प्राप्त होना चाहिए, जो दिए हुए ऋण की जमानत के रूप में रहे। बन्धक जमानत उसी समय ली जाय जब कि ऋण दीर्घकालीन हो और वह बड़ी राशि का हो।"

(५) "समितियो को चाहिए कि वे सदस्यों को ऋण स्वीकृत करने में कम से कम विलम्ब करें। इसके लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक सदस्य को ऋण-राशि की महत्तम सीमा निश्चित कर दी जाय जिससे उसका आवेदन-पत्र आने पर जाच-पड़ताल की विशेष आवश्यकता न हो। सुव्यवस्थित समितियों को चाहिए कि वे यथासभव नकद ऋण तथा चलद साख की सुविधाएं अपने सदस्यों को दें। समितियों के कुछ अधिकारियों को अधिकार मिल जाने चाहिए कि वे आवश्यकता के समय कुछ ऋण सदस्यों को स्वीकृत करें ताकि ऋण देने में अधिक विलम्ब न हो।"

(६) "*स्वीकृत किए गए ऋणों की राशि उसी समय देनी चाहिए जब* उसकी वास्तविक आवश्यकता पड़े क्योंकि वर्ष में केवल एक या दो दिन ही ऋण वितरित करने से सहकारी अर्थ-व्यवस्था में लचक नहीं रहती जिससे कृषकों को महाजनों के पास जाकर ऋण लेने की आवश्यकता होने लगती है।"

(७) "समितियों को स्वीकृत ऋणों पर ६$\frac{1}{4}$% से अधिक दर पर ब्याज नहीं लेना चाहिए। इसके लिए सरकार को चाहिए कि वह उन समितियों को जिनका व्यापार कम है राशि देकर सहायता करे।"

(८) "केन्द्रीय सहकारी बैंकों को अपना सगठन समुचित बैंकिंग पद्धति के अनुसार चलाना चाहिए ताकि वे सस्ती ब्याज-दरों पर नकद राशि प्राप्त कर सकें।

(९) "सहकारी समितियों को चाहिए कि वे रिजर्व बैंक द्वारा दी जाने वाली सुविधाओं से अधिकाधिक लाभ उठावें ताकि मौसमी कृषि-कार्यों तथा

फसल को विकवाने में ऋण की सुविधाएं देने में उन्हें सरलता रहे और वे विशेष रियायती व्याज-दरों पर ऋण स्वीकृत कर सकें।"

(१०) "सहकारी साख-समितियों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए उनकी साख-क्रियाएं मार्केटिंग समितियों के साथ जोड़ देनी चाहिए। इस ओर मद्रास प्रान्त में पालन की जानेवाली 'नियंत्रित साख-व्यवस्था' का पालन करना अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है।"

(११) "समितियों को निश्चय करके देखते रहना चाहिए कि स्वीकृत ऋणों का समुचित उपयोग हो रहा है या नहीं और इस कारण उन्हें सदस्यों की आवश्यकताओं के लिए ऋण-राशि मुद्राओं में न देकर उन वस्तुओं में देना चाहिए जिनकी सदस्यों को आवश्यकता हो। सदस्यों की पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समितियों को क्रय-संघों तथा उपभोक्ता-भाण्डरों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखना चाहिए।"

(१२) "ऋणों का भुगतान हो रहा है या नहीं, इस ओर समितियों को अधिक सतर्क रहना चाहिए। जहां पर सदस्य जान-बूझकर भुगतन न करते हों वहां समितियों को सख्ती से काम लेना चाहिए। मौसमी आवश्यकताओं को दिए गए ऋणों का भुगतान फसल समाप्त होने पर अवश्य ले लेना चाहिए। मध्यकालीन ऋण तीन वर्ष और अधिक से अधिक पांच वर्ष के होने चाहिए।"

समिति ने उक्त सिफारिशों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "सहकारी साख-समितियां कृषकों की वित्त-आवश्यकताओं को अच्छी तरह पूर्ण कर सकती हैं और इसलिए सहकारिता आन्दोलन का संगठित रूप से प्रसार होना चाहिए।"

इसी प्रकार की सिफारिशें गाडगिल उपसमिति ने, जो १६४४ में कृषि-नीति-कमेटी द्वारा नियुक्त की गई थी, की थीं। गाडगिल उपसमिति ने लिखा था कि "भारतीय गांवों की आर्थिक समस्याओं, विशेषकर कृषि-वित्त समस्या को सुलझने में सहकारी समितियां अमूल्य योग प्रदान कर सकती हैं।"

रिजर्व बैंक एवं सहकारी बैंक

रिजर्व बैंक अपने जन्म से ही सहकारी बैंकों के प्रति सहयोग एवं सहायता की सद्भावनाएं रखता आया है। रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया एक्ट की धाराओं १७ (२) (ब) और १७ (४) (स) के अनुसार बैंक प्रान्तीय सहकारी बैंकों को मौसमी कृषि-कार्यों तथा फसल बेचने के लिए आवश्यक वित्त-सुविधाएं बिना जमानती ऋण देकर देता है। धारा १७ (२) (ब) के अनुसार उक्त सहायता अब तक नौ महीने की अवधि के लिए दी जा सकती थी पर १९५२ से यह अवधि बढ़ाकर १५ महीने कर दी गई है। अब सामान्यतः १२ महिने की अवधि पर उक्त सहायता दी जाती है पर कुछ फसलों जैसे गन्ना के लिए यह अवधि १५ महीने ही है। धारा १७ (४) (अ) तथा १७ (४) (स) के अन्तर्गत रिजर्व बैंक प्रान्तीय सहकारी बैंकों को रियायती दरों पर ऋण देकर सहायता करता है और यह सहायता भी १५ महीने की अवधि तक दी जाती है। धारा १७ (२) (अ) के अनुसार बैंक अब तक तालिकाबद्ध बैंकों को व्यापारिक कार्यों के लिए लिखे गए बिलों की कटौती कराके सहायता करता था पर अब तक यह सहायता सहकारी बैंकों को भी दी जाने लगी है। एक्ट के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को प्रान्तीय सहकारी बैंकों तथा भूमि-बन्धक बैंकों को विशेष प्रकार की सिक्यूरिटियों जैसे सरकारी सिक्यूरिटियों तथा अन्य स्वीकृत ऋण-पत्रों की साख पर ऋण देने का अधिकार है। धारा १७ (२) (ब), १७ (४) (स) तथा १७ (४) (ट) के अन्तर्गत बैंक ने युद्धोत्तर-काल में सन्तोषजनक मात्रा में सहकारी बैंकों की सहायता की है। इस ओर बैंक ने प्रान्तीय सहकारी बैंकों को जो सहायता दी वह इस प्रकार है :—

(लाखों में)

प्रांतीय सहकारी बैंक	१९४६-४७	१९४७-४८	१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१	२९ फरवरी १९५२ तक
मद्रास	..	१५.०	९३.८	१५६.०	२२४.५	२९०
बंबई	१.०	..	६.५	६६.०	२१६.०	५३५
उत्तर प्रदेश	०.५	१.८	४.४	०.७	२.५	१२
मध्य प्रदेश	..	..	..	३४.६	५३.१	२१
उड़ीसा	.	..	..	१३.४	२६.७	१५
पश्चिमी बंगाल	..	.	..	..	१५.०	२५
योग	१.५	१६.८	१०४.७	२७०.७	५३७.८	८९८

उक्त आंकड़ों से ज्ञात होता है कि रिज़र्व बैंक ने प्रान्तीय सहकारी बैंकों को जो ऋण-सुविधाएं दीं उनका महत्तम लाभ मद्रास तथा बंबई के प्रान्तीय सहकारी बैंकों ने ही उठाया। बैंक ने मद्रास और बंबई के सहकारी भूमि-बन्धक बैंकों के ऋण-पत्रों में अपना भाग १०% से बढ़ाकर २०% तक कर लिया और इस प्रकार कृषकों को दीर्घकालीन ऋण मिलने में सुविधाएं दी गईं।

रिज़र्व बैंक ने १९५१ में कृषि की वित्त समस्या पर विचार करने के लिए विशेषज्ञों की एक कान्फ्रेंस आयोजित की थी। इस कान्फ्रेंस में कृषि के लिए दीर्घकालीन, मध्यकालीन तथा अल्पकालीन ऋण देने, बैंक एवं सहकारी बैंकों में तालमेल बनाने एवं सहकारिता आन्दोलन को उन्नत बनाने के प्रश्नों पर विचार किया गया। कान्फ्रेंस की सिफारिश पर बैंक के कृषि साख विभाग में विशेषज्ञों की एक कमेटी बनाई गई है जो विभाग को कृषि साख सम्बन्धी विषयों पर सुझाव देती है। उक्त कमेटी की सिफारिशों के अनुसार सहकारी बैंकों को रिज़र्व बैंक ने निम्न सुविधाएं देने की व्यवस्था की है :—

(१) रिजर्व बैंक एक्ट की धारा १७ (२) (अ) के अन्तर्गत सहकारी बैंकों को बैंक से अपने बिलो की पुनः कटौती कराने का अधिकार दे दिया गया है।

(२) सामयिक कृषि-कार्यों तथा फसल को बेचने की सुविधाएं देने के लिए दिए गए ऋणों की अवधि ६ महीने से बढ़ाकर १५ महीने कर दी गई है।

ग्रामीण बैंकिंग जांच-कमेटी की सिफारिशों के अनुसार रिजर्व बैंक ने प्रान्तीय सहकारी बैंकों की राशि के स्थानान्तरण की सुविधाएं देना भी स्वीकार कर लिया है। वैसे तो ये सुविधाएं बैंक सदैव से देता रहा है पर अब वह रियायती दरों पर ये सुविधाएं देने लगा है। पहिले रिजर्व बैंक प्रान्तीय सहकारी बैंकों के लिए राशि स्थानान्तरित करने में ५,००० रुपये पर १/१६% और इससे अगली राशि के स्थानान्तरित करने पर १/३२% कमीशन लिया करता था पर अब यह कमीशन क्रमशः १/३२% और १/६४% कर दिया गया है। साथ ही प्रान्तीय सहकारी बैंकों पर पहिले जो शर्तें लगाई जाती थीं वे अब ढीली कर दी गई हैं, जैसे—

(१) प्रान्तीय सहकारी बैंकों द्वारा रिजर्व बैंक की किसी एजेंसी में लेखा रखने का प्रतिबन्ध तोड़ दिया गया है।

(२) पहिले रिजर्व बैंक के एक कार्यालय से दूसरे कार्यालय में राशि स्थानान्तरित कराने में १०,००० रुपये न्यूनतम सीमा थी जो अब १,००० कर दी गई है।

(३) अब राशि स्थानान्तरित कराने में दोनों स्थानों पर सहकारी बैंक के कार्यालय होना आवश्यक नहीं है। अब प्रान्तीय बैंक किसी भी स्थान से किसी भी स्थान पर, जहा रिजर्व बैंक की एजेंसी है, राशि स्थानान्तरित कर सकता है।

उक्त सुविधाओं के अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने सहकारिता आन्दोलन में काम करनेवाले कार्यकर्ताओं एवं कर्मचारियों को तत्सम्बन्धी शिक्षा देने की

योजना भी बनाई है। इस योजना के अन्तर्गत बैंक कोऑपरेटिव ट्रेनिंग कॉलेज, पूना में ६ माह और १ साल के दो कोर्स आरम्भ करनेवाला है जिनमें विभागीय तथा अन्य लोगो को सहकारिता की ट्रेनिंग दी जाया करेगी। ६ माह का कोर्स तो २ अप्रैल १९५२ मे आरम्भ भी हो चुका है। इस कॉलेज का व्यय रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया उठायेगा।

रिजर्व बैंक सहकारी साख-समितियों का कोई प्रत्यक्ष ऋण स्वीकार नहीं करता। कुछ लोगों का मत है कि बैंक की यह नीति अच्छी नहीं है; उसे सहकारी बैंकों से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर लेना चाहिए। पर जब तक सहकारिता आन्दोलन भली प्रकार संगठित नहीं हो जाता, बैंक सीधा सम्पर्क स्थापित नही कर सकता। अतः आवश्यकता इस बात की है कि सहकारी बैंक अपना कार्य संगठित करे और रिजर्व बैंक द्वारा दी गई वर्तमान सुविधाओं से अधिकाधिक लाभ उठाकर सिद्ध कर दें कि इन्हें प्रत्यक्ष संबंध की आवश्यकता है।

प्रश्न

१—भारत में कार्य करने वाली सहकारी साख-समितियों के विषय में एक विस्तृत टिप्पणी लिखिए। (यू०पी० १९५३, १९५०)

२—भूमि-बन्धक बैंक से आप क्या समझते हैं? उसके क्या काम हैं? भारत में इनकी स्थिति कैसी है?

(यू०पी० १९५२, १९४८; राज० १९४६; म०भा० १९५२)

३—सहकारी साख-समितियों की क्रियाओं एवं कार्य-शैली का वर्णन कीजिए। (राज० १९४८; म०भा० १९५२, १९५१, १९४९)

अध्याय ३०

रिज़र्व बैंक ऑव इण्डिया

(Reserve Bank of India)

भारत में केन्द्रीय बैंक स्थापित करने का प्रश्न बहुत काल से चलता आ रहा था। १६१३ में चेम्बरलेन कमीशन ने देश में एक केन्द्रीय बैंक स्थापित करने का सुझाव दिया था। इसी समय प्रो० कीन्स ने देश-देश में केन्द्रीय बैंक बनाने की योजना प्रकाशित की थी परन्तु हमारी विदेशी सरकार ने उस समय कोई ठोस कदम न उठाया। १६२० में ब्रूसेल्स नामक स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन हुआ और उसमें प्रस्ताव पास किया गया कि जिन देशों में केन्द्रीय बैंक नहीं हैं उन्हें शीघ्र ही ऐसे बैंक स्थापित कर लेने चाहिए। १६२५ में हिल्टन यंग कमीशन ने देश में एक केन्द्रीय बैंक बनाने की सिफारिश की जो देश में साख और मुद्रा दोनों का नियंत्रण कर सके। यद्यपि १६२१ में इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया स्थापित हो चुका था और वह सरकारी बैंक एवं बैंकों के बैंक के रूप में भी काम करता था पर हिल्टन-यंग कमीशन ने इसी बात पर जोर दिया कि केन्द्रीय बैंक इम्पीरियल बैंक से अलग होना चाहिए जो सरकारी बैंक हो, बैंकों की देख-भाल करे और नोट छापकर चलाने का भी प्रबन्ध करे। कमीशन का मत था कि इन अधिकारों को लेकर ही केन्द्रीय बैंक देश में साख-व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध कर सकता। विशेषज्ञों का भी विचार था कि देश की बैंक-व्यवस्था तथा साख-व्यवस्था के दोषों को दूर करने के लिए एक अधिकृत बैंक की आवश्यकता है जिसको विशेषाधिकार देकर मौद्रिक इकाई के आन्तरिक एवं बाह्य मूल्यों में स्थिरता एवं स्थायित्व लाया जा सके। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सभी पश्चिमी देशों ने केन्द्रीय बैंक स्थापित कर लिये थे।

भारत में भी इसकी विशेष आवश्यकता थी। अतः १९३५ में रिजर्व बैंक ऑव इंडिया के नाम से केन्द्रीय बैंक बना दिया गया।

रिजर्व बैङ्क बनाने की आवश्यकता

देश में रिजर्व बैंक स्थापित करने के अनेक कारण थे। कुछ बातें ऐसी थीं जिनका प्रबन्ध एवं नियन्त्रण केवल रिजर्व बैंक ही कर सकता था। बातें निम्न थीं—

(१) भारतीय मौद्रिक इकाई अर्थात् रुपये के बाह्य और आन्तरिक मूल्यों में स्थायित्व लाने के लिए रिजर्व बैंक की आवश्यकता थी। रुपये के आन्तरिक मूल्य में स्थिरता तभी आ सकती है जब कि रुपये की प्रदाय देश में उद्योग और व्यवसाय की आवश्यकताओं के अनुकूल हो। यदि व्यवसाय की आवश्यकता से कम या अधिक रुपये की प्रदाय रही तो रुपये का मूल्य क्रमानुसार ऊंचा या नीचा रहेगा और उसमें अस्थिरता आने लगेगी। अतः रिजर्व बैंक से आशा थी कि नोट-निर्गमन करने तथा सिक्यूरिटियों के क्रय-विक्रय का एकाधिकार मिल जाने से वह रुपये की प्रदाय व्यवसाय की आवश्यकताओं के अनुकूल घटा-बढ़ा सकेगा और इस प्रकार उसके मूल्य में स्थिरता पैदा हो सकेगी।

इसी प्रकार रुपये के बाह्य मूल्य अर्थात् विनिमय-दर में भी स्थिरता तभी आ सकती है जब कि आवश्यकतानुसार विदेशी विनिमय लोगों को मिलता रहे। रुपये की बाह्य स्थिरता अधिकांश में आन्तरिक स्थिरता पर ही निर्भर होती है। इसलिए सोचा गया कि जब आन्तरिक स्थिरता आ जायगी तो बाह्य स्थिरता भी लाई जा सकती है। दूसरे, रिजर्व बैंक को सोना तथा स्टर्लिङ्ग के क्रय-विक्रय का अधिकार मिल जाने से ऐसी आशा की जाती थी कि रिजर्व बैंक विनिमय-दर में भी स्थिरता ला सकेगा।

(२) रिजर्व बैंक से आशा थी कि इसके द्वारा देश के उस कोष में, जो अब तक भिन्न-भिन्न बैंक अपने-अपने पास रखते थे, केन्द्रीकरण होगा। अब तक बैंक अपने पास कुछ कोष रखते थे परन्तु इस कोष से कोई कार्य हल

नहीं हो सकता था। यदि किसी बैंक को कभी आवश्यकता भी होती तो दूसरा बैंक रुपये से उसकी सहायता नहीं करता था। अतः यह कोष भिन्न-भिन्न बैंकों के पास रखा ही रहता था। अब यह सोचा गया कि रिजर्व बैंक बनने से देश के भिन्न-भिन्न बैंक अपनी-अपनी एक निश्चित कोष-राशि रिजर्व बैंक में रखा करेंगे जिससे कोषों का केन्द्रीकरण होगा। रिजर्व बैंक इस केन्द्रित कोष से समय-समय पर और स्थान-स्थान पर बैंकों की आवश्यकता पूरी करेगा। इस तरह से उन कोषों का, जो रिजर्व बैंक न होने के कारण बेकार हैं, महत्तम प्रयोग होगा, उनमें गतिशीलता आवेगी और लोच भी पैदा होगी, रुपये का अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सकेगा। इससे हमारे बैंकिंग कलेवर में सुव्यवस्था आवेगी।

(३) देश की साख-नीति का समुचित और न्यायपूर्ण प्रबन्ध करने के लिए भी देश में रिजर्व बैंक की आवश्यकता थी। साख-नीति का समुचित प्रबन्ध उसी समय हो सकता है जब कि मुद्रा और साख की प्राय व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं के अनुकूल घटाई-बढ़ाई जा सके जिससे मुद्रा-मंडी और व्यवसाय-क्षेत्र में असन्तुलन और विषमता न रहने पावे। अब तक साख नियन्त्रण का काम इम्पीरियल बैंक करता था और नोट छापने का एकाधिकार सरकार के हाथ में था। इस प्रकार की दोहरी नीति से साख-नियन्त्रण के कार्य में बाधा आती थी। अतः ऐसा सोचा गया कि रिजर्व बैंक स्थापित करके दोनों काम—साख-नियंत्रण एवं नोट-निर्गमन—उसी के अधीन कर दिये जाय। साख-नियन्त्रण के समुचित प्रबन्ध के लिए रिजर्व बैंक को निम्न अधिकार दिए गए हैं :—

(क) नोट निर्गमन का एकाधिकार दे दिया गया है जो कि साख-नियंत्रण का प्रमुख साधन है;

(ख) बैंकों से उनकी माग-देनदारी का ५% तथा काल-देनदारी का २% जमा लेने का भी अधिकार मिला है जिससे बैंकों पर और उनकी साख व्यवस्था पर निरीक्षण रक्खा जा सके;

(ग) सरकारी कोषकी राशि भी बैंक में जमा रहेगी जिससे साख-व्यवस्था शीघ्र ही प्रभावित बनाई जा सके;

(घ) बिलों की पुनःकटौती (Re-Discounting) करने का भी अधिकार मिला है (जिस दर पर रिजर्व बैंक बिलों की पुनःकटौती करता है उसे 'बैंक-दर' कहते हैं);

(ङ) साख-नियंत्रण के लिए बैंक को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह समय-समय पर आवश्यकतानुसार खुले बाजार में 'सिक्यूरिटियों का क्रय-विक्रय' कर सकता है (Open Market Operations);

(च) रिजर्व बैंक समाशोधन गृह का काम भी करता है जिससे बैंकों के लेखे रिजर्व बैंक को दृष्टि में बने रहें (Clearing House System)।

(४) देश में अब तक ऐसी कोई संस्था न थी जो बैंकों, मुद्रा मंडियों व स्वदेशी बैंकरों के क्रिया-कलापों के शुद्ध-शुद्ध न्यायपूर्ण अंक जनता की सुविधा के लिए शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित करती। अतः इस कार्य के लिए भी रिजर्व बैंक की विशेष आवश्यकता थी।

(५) ऐसी संस्था की भी आवश्यकता थी जहां सरकारी राशि सुरक्षित रखी जा सकती और जो सरकारों—केन्द्रीय और प्रान्तीय—के लेखों पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर राशि भेजने का प्रबन्ध करती, सरकारों के लिए विदेशी विनिमय खरीदती और सरकार के लेखे पर राशि लन्दन भी भेजती तथा सरकार को समय-समय पर मौद्रिक विषयों पर सलाह भी देती। रिजर्व बैंक की स्थापना से इस कमी को दूर करने की आशा थी।

(६) रिजर्व बैंक की इसलिए भी आवश्यकता थी कि वह देश की बैंकिंग प्रणाली का भली-भांति नियंत्रण करेगा जिससे देश का बैंकिंग कलेवर सुदृढ़ और संगठित बन सके। स्वदेशी बैंकरों को, जो अब तक सरकार के नियन्त्रण से बाहर थे, नियन्त्रण में लाने के लिए भी रिजर्व बैंक की उप-

युक्त समझा गया। यह भी सोचा गया कि देश के आन्तरिक व्यापार की मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति देश का केन्द्रीय बैंक ही भली प्रकार कर सकता है।

(७) आशा की जाती थी कि रिजर्व बैंक द्वारा भारतीय कृषि की मौद्रिक आवश्यकताएं पूरी हो जायंगी। रिजर्व बैंक में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कृषि-साख विभाग स्थापित किया गया है जिसके द्वारा प्रान्तीय सहकारी बैंकों द्वारा कृषकों तक मौद्रिक सहायता पहुंचाने का आयोजन किया गया है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक अन्य साधनों द्वारा भी कृषि को सहायता देता है जिसका वर्णन अगले पृष्ठों में किया गया है।

(८) इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक की इसलिए भी आवश्यकता थी कि अन्य सभी देशों ने केन्द्रीय बैंक स्थापित कर लिये थे और अन्य राष्ट्रों के साथ मौद्रिक दौड़ में चलने के लिए भारत में केन्द्रीय बैंक स्थापित करने की आवश्यकता थी। न्यूजीलैण्ड, टर्की, मैक्सिको तथा चीन में भी केन्द्रीय बैंक स्थापित हो चुके थे।

उक्त सभी आशाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति करने के उद्देश्य से १९३४ में रिजर्व बैंक ऑव इंडिया एक्ट पास किया गया जिसके अनुसार अप्रैल १९३५ में रिजर्व बैंक स्थापित कर दिया गया। रिजर्व बैंक स्थापित करने से पहिले काफी वाद विवाद रहा कि बैंक अंशधारियों का बैंक हो अथवा सरकारी बैंक। दोनों के पक्ष-विपक्ष में युक्तियां रखी गई परन्तु अन्त में इस उद्देश्य को लेकर कि किसी भी मौद्रिक संस्था में राजनीति का हस्त-क्षेप नहीं होना चाहिए वरन् ऐसी संस्था को तो जनता के नियंत्रण में रखना चाहिए, रिजर्व बैंक को अंशधारियों का बैंक ही बनाया गया। अंश-धारियों के रिजर्व बैंक ने लगभग चौदह वर्ष काम किया। भारत के स्वतन्त्र होते ही रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न उठा और इस सिद्धान्त के अनुसार कि देश में राष्ट्रीय सरकार है और राष्ट्रीय सरकार के नियंत्रण में रहकर केन्द्रीय बैंक को साख-नियंत्रण तथा मौद्रिक प्रबन्ध

करना चाहिये, रिजर्व बैंक का १ जनवरी सन् १९४९ से राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

राष्ट्रीयकरण क्यों और कैसे ?

रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न तो उसके जन्म से ही चलता आया था। हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों पर जब भारतीय धारासभा में विचार हुआ तो विपक्षी दल राष्ट्रीयकरण का समर्थक था परन्तु किसी भी प्रकार १९३५ में इस बैंक की स्थापना वैयक्तिक अंशधारियों के बैंक के रूप में हुई। १९४६-४७ में केन्द्रीय विधानसभा में जब बजट पर बहस हो रही थी तब विपक्षी दल के नेता श्री शरत्चन्द्र बोस ने इस प्रश्न को उठाया। उक्त सुझाव का उत्तर देते हुए अर्थमंत्री सर आर्चीबाल्ड रोलैंड्स ने कहा—"मुझे इस विषय में संशय नहीं है कि निकटतम भविष्य में रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण राष्ट्रीयकरण हो जायगा। इसका अब तक क्यों नहीं हुआ, इसका कारण मेरे विचार से यह था कि विधानसभा रिजर्व बैंक जैसी संस्था को, जिसका भारत के आर्थिक जीवन में इतना महत्वपूर्ण स्थान है, एक अनुत्तरदायी कार्य-कारिणी के हाथ में देने को तैयार नहीं थी। केन्द्रीय धारासभा में बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव फरवरी १९४७ में पुनः लाया गया, परन्तु अर्थ-सदस्य के विश्वास दिलाने पर कि सरकार इस पर पूर्ण विचार करेगी और जब यह कार्य देश-हित में सहायक होगा तो सरकार को इसका राष्ट्रीयकरण करने में तनिक भी संकोच न होगा, प्रस्ताव वापिस ले लिया गया। इसके पश्चात् १९४७-४८ के बजट को धारासभा में पेश करते हुए इस बात पर जोर दिया गया कि अब राष्ट्रीय सरकार है और देश स्वतन्त्र है इसलिये केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण कर ही देना चाहिए। राष्ट्रीयकरण के पक्ष में निम्न युक्तियां थीं जिनके कारण रिजर्व बैंक को राष्ट्रीय संस्था बना दिया गया :—

(१) अन्य देशों के केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो चुका था और उन देशों में सरकार की आर्थिक तथा मौद्रिक नीति को केन्द्रीय बैंक द्वारा

ही कार्य रूप में लाया जाता था। भारत में भी यह तभी किया जा सकता था जब कि केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण होता।

(२) भारत में जनसाधारण जीवनस्तर को ऊंचा बनाने के लिए यह आवश्यक था कि आय में वृद्धि हो तथा आर्थिक विषमता दूर हो। ऐसा करने के लिए युद्धोत्तर आर्थिक योजनाओं की आवश्यकता थी और आर्थिक योजना तभी सफल बनाई जा सकती थी जब कि केन्द्रीय बैंक राष्ट्रीयकृत होता और सरकार की नीति के साथ सहयोग देता।

(३) कुछ थोडे से कार्यों को छोडकर, जो केन्द्रीय सरकार को दिए गए हैं, प्रान्तों को पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। ऐसी परिस्थिति में सम्भव था कि विभिन्न प्रान्तीय सरकारे विभिन्न आर्थिक नीति का अनुसरण करतीं और उद्धोत्तरकालीन आर्थिक योजनाए सफल न हो पातीं। अतः केन्द्रीय सरकार यह चाहती थी कि ऐसा न हो और कम से कम केन्द्रीय बैंक और केन्द्रीय सरकार की आर्थिक नीति में तो पूर्ण सहयोग रहे। यह तभी हो सकता था जब केन्द्रीय बैंक राष्ट्रीयकृत होता। अतः रिजर्व बैंक का राष्ट्रीय-करण कर दिया गया।

(४) गत वर्षों में, विशेषतया युद्ध-काल में, रिजर्व बैंक की मुद्रा-नीति सन्तोषजनक नहीं थी। नोटों का अत्यधिक प्रसार हुआ था और वस्तुओ के दाम बढ़ते रहे परन्तु रिजर्व बैंक ने इसको रोकने के लिए कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया। अतः सोचा गया कि राष्ट्रीयकरण से यह दोष दूर किया जा सकेगा।

(५) रिजर्व बैंक अभी तक "स्वदेशी बैंकरों को नियन्त्रित नहीं कर पाया था। यद्यपि बैंक ने अनेक योजनाए भी बनाई और प्रयत्न भी किए परन्तु वह असफल रहा। अतः सोचा गया कि राष्ट्रीयकरण करने से, हो सकता है, ऐसी परिस्थितिया बन जायं जिसमे भारतीय मुद्रामंडी का भी यह दोष दूर किया जा सके।

(६) किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था का राजनीति से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जिस प्रकार आर्थिक परिस्थिति के अनुसार राजनीति में आव-

श्यक परिवर्तन करने होते हैं उसी प्रकार राजनीतिक दृष्टिकोण के अनुसार आर्थिक और मौद्रिक नीतियों में फेरबदल करना आवश्यक हो जाता है। अतः देश स्वतन्त्र होने के पश्चात् इस बात की आवश्यकता समझी जाने लगी कि मौद्रिक नीति के संचालक—रिज़र्व बैंक और सरकार—में पूर्ण तालमेल रखा जाय। इसलिए रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण करके उसे सरकारी विभाग बना दिया गया।

(७) केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति से देश की बेरोजगारी की समस्या भी प्रभावित होती है। युद्ध के पश्चात् बेरोजगारी बढ़ने का भय था (यह भय अब सही उतर रहा है) जिसे दूर करने के लिए यह आवश्यक था कि केन्द्रीय बैंक की मुद्रा-नीति सरकार की इच्छानुसार होती। अतः केन्द्रीय बैंक को सरकारी स्वामित्व एवं संचालन में ले आया गया।

(८) युद्ध के कारण लगभग सभी देशों के आर्थिक कलेवर अस्त-व्यस्त हो गए थे और अनेक प्रकार की नई नई समस्याएं देश देश के सामने आ चुकी थीं। इन समस्याओं को समुचित रूप से हल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से देश की आगामी आर्थिक नीति का निर्धारण करना आवश्यक था। अतः रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक समझा गया जिससे वह सरकार का प्रतिनिधित्व करते हुए विदेशों के साथ सहयोग प्राप्त कर सके। दूसरे, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना हो चुकी थी जिनसे संबंध स्थापित करने तथा लेन-देन करने के लिए रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक था क्योंकि तभी वह सरकारी नीति के साथ-साथ उन संस्थाओं से सम्पर्क रख सकता था।

(९) ऐसी अनेक बातें थीं जिन पर रिज़र्व बैंक को देश की अन्य बैंकों से प्रकार-प्रकार की सूचना प्राप्त करना आवश्यक होता था। प्राइवेट बैंक होने से उसे यह सूचना प्राप्त करने में कुछ कठिनाई होती थी अतः ऐसा सोचा गया कि राष्ट्रीयकरण से उसे कुछ विशेष स्थान मिलेगा और तब वह इच्छानुसार बैंकों से कोई भी आवश्यक सूचना प्राप्त करता रहेगा।

बोर्डों में से मनोनीत किए हुए होते हैं (स्थानीय बोर्डों का विवरण आगे देखिए)।

(३) छः संचालक और होते हैं जिनको भी केन्द्रीय सरकार मनोनीत करती है। इनमें से प्रत्येक दो बारी-बारी से एक, दो, तीन वर्ष के बाद अलग होते जाते हैं।

(४) एक सरकारी अफसर होता है जो सरकार द्वारा केन्द्रीय बोर्ड पर नियुक्त किया जाता है। यह अफसर सरकार की इच्छानुसार कितने ही समय तक काम कर सकता है।

इस प्रकार केन्द्रीय बोर्ड में कुल १४ आदमी होते हैं। निश्चित अवधि समाप्त होने पर सरकारी मनोनीत संचालक फिर दुबारा भी मनोनीत किए जा सकते हैं। केन्द्रीय बोर्ड के अतिरिक्त बैंक के प्रबन्ध के लिए चार स्थानीय बोर्ड हैं। स्थानीय बोर्ड कलकत्ता, बंबई, मद्रास तथा दिल्ली में हैं। सीमा की दृष्टि से सारे देश को चार प्रदेशों में विभाजित कर लिया गया है। ये प्रदेश उत्तरी प्रदेश, दक्षिणी प्रदेश, पूर्वी प्रदेश तथा पश्चिमी प्रदेश हैं जो रिजर्व बैंक एक्ट के प्रथम परिशिष्ट में दिए गए हैं। इन्हीं चार प्रदेशों के लिए स्थानीय बोर्ड हैं। प्रत्येक बोर्ड में पांच सदस्य होते हैं जिनकी नियुक्ति सरकार करती है। ये सदस्य आपस में अपने में से बोर्ड का सभापति चुन लेते हैं। सदस्य केवल चार वर्ष तक ही पद पर रहते हैं, परन्तु अवधि समाप्त होने के बाद इनको फिर नियुक्त किया जा सकता है। स्थानीय बोर्ड आवश्यक मामलों पर केन्द्रीय बोर्ड को सलाह भी देता है तथा केन्द्रीय बोर्ड के आदेशानुसार कार्य करता है।

केन्द्रीय बोर्ड की बैठक बुलाना गवर्नर के अधिकार में है परन्तु कोई भी तीन संचालक मिलकर भी गवर्नर से बैठक बुलाने के लिए प्रार्थना कर सकते हैं। वर्ष भर में ६ बैठकें बुलाना अनिवार्य है परन्तु तीन महीनों में १ अवश्य ही होनी चाहिए।

रिजर्व बैंक की पूंजी ५ करोड़ रुपये है। बैंक के कार्यालय बम्बई,

कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा कानपुर में हैं। इसकी एक शाखा लन्दन में भी है जो अप्रैल १९४९ में खोली गई थी। केन्द्रीय सरकार की आज्ञा से बैंक अन्य किसी स्थान पर भी शाखा खोल सकता है।

बैंक में मुख्य विभाग निम्न हैं :—

(१) बैंकिंग विभाग—यह विभाग बैंकों से व्यवहार रखता है तथा सरकारी कार्य में सहायता भी करता है, जैसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर राशि भेजना और सरकार को सलाह देना। बैंकों का निरीक्षण करना भी इसका काम है। बैंकों की मांग तथा काल देनदारी की क्रमशः ५% और २०% राशि इसी विभाग में जमा रहती है।

(२) नोट विभाग—इस विभाग का कार्य नोट जारी करना तथा नोटों के बदले में सिक्के आदि का परिवर्तन करना है।

(३) कृषि-साख विभाग—इस विभाग का कार्य कृषि-साख की समस्याओं के विशेषज्ञ नियुक्त करके रखना है जिससे समय-समय पर आवश्यकतानुसार केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारों, प्रान्तीय सहकारी संस्थाओं और अन्य बैंकिंग संस्थाओं को कृषि-साख सम्बन्धी सुविधाएं दी जा सकें।

(४) विदेशी विनिमय विभाग—यह विभाग विनिमय-दर स्थायी रखने के लिए विदेशी विनिमय की खरीद-बेच करता है।

(५) शोध एवं अंक विभाग—यह विभाग मुद्रा-शोध का काम करता है। मुद्रा-मण्डी, बैंकिंग तथा उत्पादन एवं लाभांश सम्बन्धी अंक इकट्ठे करके प्रकाशित करना भी इसका विशेष कार्य है।

रिजर्व बैंक की क्रियाएं

क्रियाओं की दृष्टि से बैंक के कार्य दो भागों में बांटे जा सकते हैं। कुछ तो ऐसे कार्य हैं जो बैंक को देश का केन्द्रीय बैंक होने के कारण करने होते हैं तथा कुछ क्रियाएं ऐसी हैं जो एक्ट की धारा १७ के अन्तर्गत बैंक को करनी अनिवार्य हैं।

(१) **केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाएं**—रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया एक्ट के तीसरे अध्याय में केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाओं का वर्णन है। ये क्रियाएं निम्न हैं :—

(क) **सरकारी बैंकिंग कार्य करना**—बैंक सरकार का राजकोषीय एजेन्ट है। बैंक केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वीकृत दूसरी सरकारों की राशि जमा रखता है, उनके लेखे पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर राशि भेजता है, उनके लेखे पर भुगतान करता है, विदेशी विनिमय का काम करता है तथा उनके अन्य आवश्यक बैंकिंग कार्य करता है। सरकार के जन-ऋण का प्रबन्ध भी यही बैंक करता है। सरकार के लेखे में राशि इसी बैंक में जमा की जाती है परन्तु सरकारी राशि बैंक में बिना ब्याज के जमा रहती है। इसके अतिरिक्त बैंक समय-समय पर सरकार को मुद्रा-नीति, बैंकिंग नीति तथा विनियोग-नीति पर सलाह भी देता रहता है।

(ख) **बैंकों का बैंक**—रिजर्व बैंक देश के अन्य 'बैंकों का बैंक' है अर्थात् जिस प्रकार लोगों की राशि बैंकों में जमा रहती है और वे उनसे उधार लेते हैं उसी प्रकार बैंकों की कुछ निश्चित राशि इस बैंक में जमा रहती है और वे समय आने पर इससे उधार भी लेते हैं। रिजर्व बैंक का कार्य देश की बैंकिंग व्यवस्था को भी संगठित करना है। रिजर्व बैंक से सीधा संबंध रखनेवाले बैंकों को रिजर्व बैंक का सदस्य बनना पड़ता है जिनका नाम एक्ट के दूसरे परिशिष्ट में लिख लिया जाता है। ऐसे बैंकों को 'तालिकाबद्ध' बैंक कहते हैं। इन तालिकाबद्ध बैंकों को बैंक में अपनी माँग-देनदारी का ५% और काल-देनदारी का २% जमा करना पड़ता है। जब तालिकाबद्ध बैंकों पर कोई संकट आता है और इन्हें राशि की आवश्यकता होती है परन्तु राशि प्राप्ति के अन्य सभी स्रोत सूख जाते हैं और कोई साधन नहीं होता तो ये बैंक रिजर्व बैंक के पास ऋण लेने आते हैं और रिजर्व बैंक जमा की हुई केन्द्रित राशि ऐसे संकट-काल में इन्हीं की सहायता में लगाता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक विपत्ति का साथी बनकर इन बैंकों की सहायता करता है और इस प्रकार देश में शान्ति बनी रहती है।

(ग) नोट निर्गमन करना—देश की मुद्रा और साख-नीति पर नियंत्रण रखने के लिए बैंक को नोट जारी करने का एकाधिकार भी दे दिया गया है। नोट जारी करने का काम बैंकिंग कार्य से बिलकुल अलग है और यह कार्य नोट-विभाग द्वारा किया जाता है। धारा २४ के अनुसार बैंक को २), ५), १०), ५०), १००) के नोट छापने का एकाधिकार मिला है। (युद्धकाल से पहिले १०००) व १०,०००) के नोट भी छपते थे परन्तु १९४६ में ये नोट बन्द कर दिए गए। अब अप्रैल १९५४ से ये फिर चालू कर दिए गए हैं।) इसके अतिरिक्त बैंक केन्द्रीय सरकार से एग्रीमेन्ट करके निश्चित अवधि के लिए सरकार द्वारा जारी किए नोट भी अपने कार्यालय से जारी कर सकता है। नोट विभाग को नोट छापने के बदले में धारा ३३ के अनुसार कुछ कोष रखना होता है। यह कोष स्वर्ण सिक्कों, स्वर्ण धातु, विदेशी सिक्यूरिटियों, रुपया तथा रुपये की सिक्यूरिटियों के रूप में रखा जा सकता है परन्तु कम से कम सम्पूर्ण कोष का ४०% भाग स्वर्ण सिक्कों, स्वर्ण धातु या विदेशी सिक्यूरिटियो में रखना अनिवार्य है और कम से कम ४० करोड़ रुपये मूल्य की स्वर्ण धातु या स्वर्ण सिक्के अनिवार्य रूप से कोष में होने चाहिए। शेष ६०% कोष रुपया, सरकारी सिक्यूरिटियो या देश में ही भुगतान किए जानेवाले बिलों या प्रामिजरी नोट्स (प्रतिज्ञापत्रों) के रूप में रखा जा सकता है। कोष के स्वर्ण सिक्कों तथा स्वर्ण धातु का मूल्य एक रुपये के ८.४७५१२ अच्छे स्वर्ण के दानों से नापा जाता है। रुपया उसके अंकित मूल्य से मापा जाता है और सिक्यूरिटियां बाजार मूल्य की दर से मापी जाती हैं। स्वर्ण सिक्के तथा स्वर्ण धातु, जो नोट विभाग में कोष के रूप में रखी जाती हैं, का $\frac{17}{20}$ भाग देश में बैंक को किसी शाखा एवं बैंक की किसी एजेंसी के पास रखना अनिवार्य है वह $\frac{3}{20}$ भाग देश से बाहर भी रखा जा सकता है।

नोट विभाग की 'विदेशी सिक्यूरिटियां' वे मानी जाती हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य-देशों में भुगतान की जानेवाली हों। इनमें एक्ट की धारा ३३ के अनुसार निम्न सम्मिलित हैं :—

(१) वे सिक्यूरिटियां जो किसी भी उक्त देश की केन्द्रीय बैंक के नोट विभाग की जमा-राशि की साख पर हों अथवा उस देश की किसी अन्य बैंक की सिक्यूरिटियां हों;

(२) वे बिल जो उक्त किसी भी देश में भुगतान के हों, जिन पर दो खरे हस्ताक्षर हों और जो ९० दिनों से अधिक अवधि के न हों;

(३) उक्त किसी भी देश की सरकारी सिक्यूरिटियां जो ५ साल की अवधि की हों।

(घ) विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय—रिजर्व बैंक एक्ट की धारा ४० के अनुसार रुपये के बाह्य मूल्य की स्थिरता जमाने के लिए बैंक विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करता है। यह क्रय-विक्रय केवल अधिकृत व्यक्तियों के साथ ही किया जा सकता है और केवल बंबई, कलकत्ता, मद्रास और दिल्ली के कार्यालयों द्वारा ही हो सकता है। क्रय-विक्रय २,००,००० रुपये से कम मूल्य का नहीं किया जा सकता तथा ऐसी दर पर किया जा सकता है जिसे सरकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की शर्तों को सामने रखकर निश्चित कर दे। 'अधिकृत व्यक्ति' वे लोग अथवा संस्थाएं कहलाती हैं जिनको विदेशी विनिमय नियंत्रण कानून १९४७ के अन्तर्गत विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय का अधिकार दे दिया गया हो।

(ङ) अन्य केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाएं—उक्त केन्द्रीय बैंकिंग कार्यों के अतिरिक्त रिजर्व बैंक देश का शीर्ष बैंक होने के कारण अन्य काम भी करता है जैसे, राशि-स्थानान्तरण की सुविधाएं देना, समाशोधन गृह के रूप में कार्य करना, आर्थिक एवं मौद्रिक विषयों पर सरकारों को, बैंकों को तथा अन्य संस्थाओं को मांगने पर सलाह देना और आर्थिक मामलों पर शोधपूर्ण अंक प्राप्त करके जनता की सूचनार्थ प्रकाशित करना। धारा ५८ के अनुसार रिजर्व बैंक समशोधन गृह का काम करता है।

(२) सामान्य बैंकिंग क्रियाएं—केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाओं के अतिरिक्त

(छ) केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों को ६० दिन की अवधि के ऋण स्वीकृत करना।

(ज) अपने कार्यालयों तथा अपनी एजेन्सियों पर भुगतान होने वाले माग-पत्र (Demand Draft) जारी करना।

(झ) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को किसी भी अवधि की सिक्यूरिटियां क्रय-विक्रय करना।

(ञ) स्वर्ण सिक्का, स्वर्ण धातु एवं विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करना।

(ट) रुपया, सिक्यूरिटिया, आभूषण तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षित करना, लाभाश संग्रह करना तथा ऋण-पत्रों के भुगतान लेना। बैंकों के समाशोधन गृह का काम भी करना।

(ठ) भारत से बाहर अन्य किसी देश की सरकार की सिक्यूरिटिया खरीदना-बेचना; परन्तु खरीदते समय १० वर्ष से अधिक अवधि की सिक्यूरिटियां नहीं खरीदी जा सकतीं।

(ड) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य-देश के किसी भी केन्द्रीय बैंक के साथ लेखा खोलना तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंकों के साथ लेन-देन करना।

(ढ) किसी भी तालिकाबद्ध बैंक व किसी भी देश की प्रमुख मुद्रा-संस्था जो उस देश के कानून से मान्य हो, से बैंक के कार्य के लिए जमानत पर अधिक से अधिक १ माह को रुपया उधार लेना, परन्तु जो रुपया तालिकाबद्ध बैंक से उधार लिया जाय वह बैंक की पूंजी से अधिक नहीं होना चाहिए।

(ण) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष, बैंक आर्डिनेन्स एक्ट १९४५ तथा इंडियन

बैंकिंग कम्पनी एक्ट १९४९ के अनुसार कार्य करना।*

(त) मौद्रिक शोध करना तथा अंक संग्रह करके प्रकाशित करना।

रिजर्व बैंक की निषिद्ध क्रियाएं

रिजर्व बैंक एक्ट की धारा १९ के अंतर्गत बैंक को निम्न कार्यों से रोका गया है। बैंक निम्न क्रियाएं नहीं कर सकता :—

(१) कोई निजी व्यापार या उद्योग खोलना या किसी व्यवसाय या उद्योग में भाग लेना,

(२) किसी भी कम्पनी या बैंक के अंश खरीदना या उन अंशो पर राशि उधार देना,

(३) अचल सम्पत्ति पर कोई भी राशि उधार देना अथवा अपने कार्यालयों की सम्पत्ति छोड़ कर कोई भी अचल सम्पत्ति खरीदना,

(४) चालू लेखे पर व्याज देना,

(५) उक्त परिस्थितियो के अतिरिक्त ऋण देना अथवा अग्रिम राशि देना।

तालिकाबद्ध बैङ्क एवं अतालिकाबद्ध बैङ्क

देश के बैंकों से सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने बैंको को दो विभागो में बांट लिया है—(१) तालिकाबद्ध बैंक तथा (२) अतालिकाबद्ध बैंक। तालिकाबद्ध बैंक वे बैंक कहलाते हैं जो एक्ट की धारा ४२ के अनुसार एक्ट की दूसरी तालिका मे लिखे हुए हैं। केवल उन्हीं बैंकों का नाम इस तालिका मे लिखा जाता है जो भारत के प्रान्त में व्यवसाय करते हों, जिनकी परिदत्त पूंजी तथा संचित कोष मिलाकर ५,००,०००

---

*इंडियन बैङ्किंग कम्पनी एक्ट १९४९ का पूर्ण विवरण तथा रिजर्व बैङ्क की तत्सम्बन्धी क्रियाओं के लिए अध्याय ३९ देखिये।

रुपये से कम न हो और जिनके विषय में रिजर्व बैंक को यह विश्वास हो कि वे जमा करनेवालों के हित में ही व्यवसाय करते हैं। जिन बैंकों के नाम इस तालिका में सम्मिलित नहीं हैं उन्हें अतालिकाबद्ध कहते हैं। प्रत्येक तालिकाबद्ध बैंक को एक्ट की धारा ४२ (१) के अनुसार अपनी मांग-देनदारी का ५% तथा काल-देनदारी का २% रिजर्व बैंक में जमा करना होता है। इसी के साथ-साथ प्रत्येक ऐसे बैंक को केन्द्रीय सरकार तथा रिजर्व बैंक के लिए दो संचालकों, प्रबन्धकों अथवा अन्य उत्तरदायी कर्मचारियों के हस्ताक्षरों सहित निम्न आशय की एक विवरण-पत्रिका प्रति सप्ताह अनिवार्य रूप से भेजनी होती है। पत्रिका में यह विवरण होना आवश्यक है :—

(१) मांग-देनदारी तथा काल-देनदारी की राशि,
(२) बैंक नोट तथा सरकारी नोटों की भारत स्थित राशि,
(३) रुपयों तथा अन्य सिक्कों में भारत स्थित राशि,
(४) उधार दी हुई अग्रिम राशि, ऋण राशि तथा कटौती किए हुए बिलों की राशि,
(५) बैंक की रोकड़ राशि।

उक्त विवरण-पत्रिका न भेजने पर बैंकों को १०० रुपये प्रतिदिन दण्ड देना होता है। तालिकाबद्ध बैंकों को रिजर्व बैंक से कुछ विशेष सुविधा मिलती है। रिजर्व बैंक इन बैंकों को समय-समय पर राशि उधार देता है, इनकी राशि का स्थानान्तरण करता है तथा इनके बिलों और प्रतिज्ञा-पत्रों का क्रय-विक्रय एवं कटौती करता है। रिजर्व बैंक इन बैंकों की राशि निःशुल्क या कम व्यय-राशि पर एक स्थान से दूसरे स्थानों पर भेजता है। राशि स्थानान्तरण की जो सुविधाएं तालिकाबद्ध बैंकों को मिलती हैं वे इस प्रकार हैं :—

(१) रिजर्व बैंक के कार्यालयों एवं शाखाओं में उनके लिये १०,००० रु० तक की राशि निःशुल्क स्थानान्तरण की जाती है।

(२) किसी भी स्थान से जहा रिजर्व बैंक की एजेन्सी है तथा तालिकाबद्ध बैंकों का कार्यालय, उपकार्यालय, शाखा अथवा शोध्य-कार्यालय (pay office) है उस स्थान से, उक्त बैंक के रिजर्व बैंक स्थित प्रधान लेखे में ५,००० रु० तक की राशि का स्थानान्तरण सप्ताह में एक बार निःशुल्क किया जाता है।

(३) तालिकाबद्ध बैंक रिजर्व बैंक स्थित प्रधान लेखे में राशि स्थानान्तरण की अन्य सुविधाएं $\frac{१}{६४}$ रु०% की दर पर दी जाती हैं; परन्तु इसका न्यूनतम शुल्क एक रुपया लिया जाता है।

(४) रिजर्व बैंक अथवा उसके एजेन्ट के कार्यालयों में स्थित लेखों में राशि का स्थानान्तरण इन दरों पर होता है—५,००० रु० तक $\frac{१}{१६}$ रु०%, जिसमे न्यूनतम शुल्क एक रुपया होता है, ५,००० रु० से उपर $\frac{१}{३२}$%, जिसमें न्यूनतम शुल्क ३ रु० २ आना होता है।

तालिकाबद्ध बैंक तालिका से बाहर निकाले भी जा सकते हैं जब कि उनकी परिदत्त पूंजी तथा संचित कोप मिलाकर ५,००,००० रुपये से कम हो गया हो अथवा जिसने बैंकिंग कार्य बन्द कर दिया हो और या जो बैंक ठीक प्रकार से कार्य न कर रहा हो। रिजर्व बैंक यदि किसी बैंक का भारतीय बैंकिंग कम्पनी एक्ट १९४९ की धारा ३५ के अन्तर्गत निरीक्षण करके उसके कार्यों से संतुष्ट न हो तो भी उसे तालिका मे बाहर निकाल सकता है। १९५२-५३ में दो नये बैंक तालिका में सम्मिलित किए गए तथा चार बैंक तालिका से बाहर निकाले गए। निकाले जानेवाले बैंक आस्ट्रेलेशिया बैंक लि०, बैंक आव कम्यूनिकेशन्स (एक विनिमय बैंक), महालक्ष्मी बैंक लि० तथा त्रिपुरा माडर्न बैंक लि० हैं। ३१ मार्च १९५३ को तालिकाबद्ध बैंकों के कार्यालयों की संख्या २७०१ थी।

अतालिकाबद्ध बैंकों से भी रिजर्व बैंक सम्बन्ध रखता है, उनको समय-समय पर सलाह देता है और उनके कार्यों की जाच-पड़ताल भी करता है।

ऐसे अतालिकाबद्ध बैंकों को, जो इंडियन कम्पनी एक्ट १९१३ के अन्तर्गत बने हुए हों, भारत में बैंकिंग व्यापार करते हों और जिनकी परिदत्त पूंजी तथा संचित कोष ५०,००० रुपये या उससे अधिक हो, रिजर्व बैंक एक स्थान से दूसरे स्थान पर राशि भेजने के व्यय में कुछ सुविधाएं देता है। जून १९४६ तक ऐसे अतालिकाबद्ध बैंक जिनको यह सुविधा प्राप्त थी, ८२ थे। १९४५ से यह नियम भी हो गया है कि अतालिकाबद्ध बैंक भी रिजर्व बैंक में लेखा खोल सकते हैं। परन्तु—

(१) उनको रिजर्व बैंक द्वारा निश्चित न्यूनातिन्यून राशि तक में जमा करनी होगी—यह राशि १०,००० रुपये से कम नहीं होगी ;

(२) उसके लेखे चालू लेखे नहीं समझे जायेंगे, परन्तु पारस्परिक समाशोधन कार्य कर सकेंगे।

इंडियन बैंकिंग कम्पनी एक्ट १९४९ ने तो रिजर्व बैंक को देश के अन्य बैंकों के और भी समीप ला दिया है। धारा ३५ के अन्तर्गत रिजर्व बैंक सभी बैंको का निरीक्षण करता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक अब देश की सभी बैंकों का निरीक्षक, प्रबन्धक, नियंत्रक तथा रक्षक है और रिजर्व बैंक तथा अन्य सभी बैंकों का पारस्परिक उत्तरदायित्व भी बढ़ गया है।

रिजर्व बैंक द्वारा साख-नियन्त्रण—रिजर्व बैंक देश के हित में मुद्रा और साख का समुचित प्रबन्ध कर सके इसलिए तालिकाबद्ध बैंकों को उसके पास अपनी-अपनी मांग-देनदारी और काल-देनदारी का क्रमशः ५% और २% कोष के रूप में रखना होता है। रिजर्व बैंक मान्य बिलों की कटौती एवं पुनः कटौती सम्बन्धी अपनी बैंक-दर समय-समय पर प्रकाशित करता रहता है। इसी दर से मुद्रा-मंडी की ब्याज-दरों का नियमन होता है। अब देखना यह है कि बैंक किस प्रकार और किस मात्रा में देश में साख-नियन्त्रण करता है।

साख-नियंत्रण के लिए बैंक-दर का साधन देश में सबसे पहिले इम्पीरियल बैंक ने प्रयुक्त किया परन्तु इम्पीरियल बैंक की देश के अन्य व्यापारिक

बैंकों के साथ प्रतियोगिता एवं प्रतिस्पर्धा की भावना रहने के कारण भारतीय मुद्रा-मंडी के अस्त-व्यस्त रहने के कारण तथा उसके विभिन्न अंगों में असहयोग रहने के कारण इम्पीरियल बैंक की दर अधिक प्रभावशाली न हो सकी। दूसरे, इम्पीरियल बैंक अपनी दर को अपने लाभ की दृष्टि से प्रयोग करता था। तीसरे, देश में साख-नियंत्रण का कोई वैधानिक उत्तरदायित्व इम्पीरियल बैंक पर न था वरन् मौद्रिक क्षेत्र के दायित्व बंटे हुए थे। सरकार मुद्रा का प्रबन्ध करती थी तो इम्पीरियल बैंक साख का प्रबन्ध करता था। चौथे, देश मे कार्य करनेवाले विदेशी विनिमय बैंकों का अन्य देशों की मुद्रा-मंडियो से सीधा सम्पर्क रहने के कारण वे अपनी मौद्रिक आवश्यताओं की पूर्ति विदेशी मुद्रा-मंडियों से कर लेते थे और इम्पीरियल बैंक से उन्हें बहुत कम सरोकार रहता था। उक्त कारणों से इम्पीरियल बैंक बैंक-दर को प्रभावी न बना सका। रिजर्व बैंक स्थापित होने पर साख-नियंत्रण का दोहरा शासन समाप्त हो गया। मुद्रा का प्रबन्ध तथा साख-संचालन, दोनों ही अधिकार एवं दायित्व वैधानिक रूप से रिजर्व बैंक के कंधों पर आ पडे। रिजर्व बैंक भी आशातीत मात्रा में साख-नियंत्रण न कर सका। वास्तव में तो केन्द्रीय बैंक की साख-नियंत्रण की शक्ति एवं सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि राशि की माग करनेवाले लोग किस सीमा तक बैंकों पर आश्रित रहते हैं और फिर किस सीमा तक वे बैंक अपनी राशि की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केन्द्रीय बैंक पर आश्रित रहते हैं। हमारे देश में ये दोनो ही बातें अपूर्ण एवं अपर्याप्त मात्रा में पाई जाती हैं। न जनता ही अधिक सीमा तक बैंकों से लेन-देन करती है और न बैंक ही पूर्णरूपेण केन्द्रीय बैंक पर आश्रित रहते हैं। बैंक अपनी-अपनी माग-देनदारी तथा काल-देनदारी का जो वैधानिक अनुपात आजकल रिजर्व बैंक के पास रखते हैं वह बहुत कम होता है। फलतः साख-सृजन के लिए अधिकतर बैंक केन्द्रीय बैंक पर आश्रित न रहकर अपने पास रक्खे हुए कोष से ही काम निकाल लेते हैं। अतः रिजर्व बैंक की बैंक-दर को अपना करिश्मा दिखाने का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ। मुद्रा-मंडी की परिस्थिति अच्छी होने के

कारण बैंक रिजर्व बैंक के पास बहुत कम आए जिससे रिजर्व बैंक अपनी बैंक-दर से उनके द्वारा साख-नियंत्रण न कर सका। १६३५ में बैंक-दर ३% निर्धारित की गई थी जो १६५१ तक उतनी ही बनी रही। इस बीच में रिजर्व बैंक को बैंक-दर में घटा-बढ़ी करके साख-नियंत्रण करने की आवश्यकता ही नहीं हुई। १६५१ में जब बैंक ऑव इंगलैण्ड ने अपनी बैंक-दर ३½% से ४% की तो रिजर्व बैंक ने भी दर बढ़ाकर ३½% कर दी। इससे यह अनुमान होता है कि रिजर्व बैंक को बैंक-दर जैसे साख-नियंत्रण के अस्त्र को प्रयोग करने का अवसर ही नहीं मिला। हां, एक बात अवश्य हुई कि मुद्रा-मंडी में जो सामयिक मुद्रा की दुर्लभता हो जाती थी और उसके कारण ब्याज-दरों में जो परिवर्तन होते थे वे नहीं हुए और बैंक-दर यथाविधि बनी रही। यह बात इसी चीज को प्रमाणित करने में सहायक हो सकती है कि मुद्रा-मण्डी पर रिजर्व बैंक का प्रभाव अवश्य रहा।

साख-नियंत्रण का दूसरा अस्त्र जो रिजर्व बैंक को विधान द्वारा प्राप्त है, वह है 'खुला-बाजार क्रियाओं' का। बैंक अपनी दर को प्रभावशाली बनाने के लिए स्टाक एक्सचेंज में जाकर विधान द्वारा प्रमाणित सिक्यूरिटियों का क्रय-विक्रय कर सकता है। परन्तु उसकी क्रय-विक्रय की यह शक्ति सीमित रही है। वह केवल मान्य सिक्यूरिटियों का ही क्रय-विक्रय कर सकता है। दुर्भाग्य से हमारे देश में न तो संगठित मुद्रा-मंडी ही रही है और न उन्नत बिल-बाजार ही रहा है। देश में न तो बिलों का भारी प्रयोग होता है और फिर यहां ऐसे स्टाक एक्सचेंज भी नहीं हैं जैसे इंगलैण्ड तथा अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों में हैं जिससे केन्द्रीय बैंक की खुला-बाजार क्रियाओं का साख के लेन-देन पर विशेष प्रभाव पड़ सके। अतः खुला-बाजार क्रियाओं द्वारा रिजर्व बैंक आशातीत मात्रा में साख-नियंत्रण नहीं कर पाया है।

साख-नियंत्रण के लिए रिजर्व बैंक को कुछ और अधिकार भी दिए गए हैं—जैसे, जनता से प्रत्यक्ष लेन-देन करना, बैंकों को ऋण देने से रोकने के आदेश देना तथा बैंकों पर निरीक्षण रखना आदि—पर अभी

तक बैंक ने इन साधनों का उल्लेखनीय प्रयोग नहीं किया है। भारतीय बैंकिंग कम्पनी एक्ट १६४६ के अनुसार तो रिजर्व बैंक को देश में अन्य बैंकों पर देखभाल करने तथा उनकी ऋण-नीति को संचालित करने के विशेषाधिकार दिए गए हैं, पर उन्हें प्रयोग करने का बैंक को अभी अवसर प्राप्त नहीं हो सका है। हां, रिजर्व बैंक का नैतिक प्रभाव साख-नियंत्रण में सफल हो सकता है पर उसके लिए इस बात की आवश्यकता है कि बैंक का देश के अन्य बैंकों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध हो।

रिजर्व बैंक की युद्धोत्तरकालीन समस्याएं

युद्ध समाप्त होने के पश्चात् भी रिजर्व बैंक को अनेक असाधारण परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। ये परिस्थितियां इस प्रकार हैं :—

(१) **मुद्रा-स्फीति**—युद्धोत्तरकाल में भी मुद्रा-स्फीति होती रही और जून १६४८ तक मुद्रा का प्रसार होता गया। अगस्त १६४६ के पश्चात् सिक्यूरिटियों के मूल्यों में एकदम अवसाद आया जिसे संभालने के लिये बैंक को खुला-बाजार क्रियाएं करनी पड़ीं। बैंक की उन खुला-बाजार क्रियाओं से बैंकों को राशि प्राप्त करने में काफी योग मिला जिससे मुद्रा की सामयिक आवश्यकताओं की कमी पूरी होती गई। बैंक ने बैंकों से सरकारी सिक्यूरिटियां खरीदीं जिससे बैंकों को ऋण देने के लिए राशि प्राप्त होती रही। बैंकों ने १६४८-४६ की अपेक्षा १६४६-५० में कोई १० करोड़ रुपये के अधिक ऋण दिये और आगे भी ऋणों की मात्रा बढ़ती ही रही। इस प्रकार बैंक ने सरकारी सिक्यूरिटियों को संभाला तथा बैंकों को राशि की सुविधाएं भी दीं।

(२) **विभाजन की समस्या**—१६४७ में देश के विभाजन के फल-स्वरूप रिजर्व बैंक पर अनेक नए दायित्व आ गिरे। जुलाई १६४८ तक, जब तक कि पाकिस्तान का केन्द्रीय बैंक न बन गया, रिजर्व बैंक को भारत और पाकिस्तान के केन्द्रीय बैंकों के रूप में कार्य करना पड़ा। उस समय

उसे दोनों सरकारों की राशियों का प्रबन्ध करना पड़ा तथा उसने दोनों देशों के जन-ऋण का भी सचालन किया। पाकिस्तान का केन्द्रीय बैंक बनने पर रिजर्व बैंक की सम्पत्ति का विभाजन हुआ और १५३ करोड़ रुपये के मूल्य के स्टर्लिंग, सोना तथा भारत सरकार की सिक्यूरिटियां पाकिस्तान बैंक को हस्तान्तरित करनी पड़ीं। पाकिस्तान में भारत सरकार के जो नोट चलते थे उनके बदले में ८२ करोड रुपया बैंक को पाकिस्तान में और देना पड़ा। रिजर्व बैंक ने यह सब कुछ लेन-देन इस प्रकार सावधानी के साथ किया कि देश की मुद्रा एवं साख व्यवस्था पर कोई उलटा प्रभाव न पड़ा।

(३) **बैंकिंग संकट**—देश के विभाजन से अनेक भारतीय बैंकों पर जिनके कार्यालय पाकिस्तान में थे, संकट आया और उन्हें अपनी सम्पत्ति का स्थानान्तरण करने की आवश्यकता हुई। रिजर्व बैंक ने उन सब बैंकों को यथाशक्ति सहायता करके उन्हें पाकिस्तान से अपनी सम्पत्ति ले आने में योग दिया। १६४८ में बंगाल के बैंकों पर संकट आया। बैंक ने उन बैंकों को यथा समय सहायता देकर उनको डूबने से बचाया, कई बैंकों का विलीनीकरण कराया और इस प्रकार देश को बैंकिंग संकट की पुनरावृत्ति से बचा लिया।

(४) **मुद्रा की दुर्लभता**—१६४८ के पश्चात् देश की मुद्रा-मंडी में मुद्रा की दुर्लभता होने लगी और देश का भुगतान-संतुलन प्रतिकूल होने लगा। दिसम्बर १६४८ और अगस्त १६४६ के बीच में विदेशी मुद्रा का अभाव बहुत बढ़ गया और रिजर्व बैंक के विदेशी मुद्रा के कोष में कोई २१६ करोड़ रुपये की कमी आ गई। इस बीच में उत्पादन तो बढ़ा ही नहीं पर आयात पर प्रतिबन्ध ढीले हो जाने के कारण माल की मात्रा बढ़ने लगी। लोगों ने भविष्य में माल के अभाव का अनुमान लगा कर एक साथ माल खरीदना आरम्भ कर दिया जिससे उनको राशि का अभाव होने लगा। बैंकों में से जमा-राशि निकाली जाने लगी और व्यवसाय में चारों ओर मुद्रा की दुर्लभता अनुभव होने लगी। लोगों की बचत कम होने लगी और इस कारण

मुद्रामंदी में मुद्रा की मात्रा भी कम होने लगी। इस भीषण परिस्थिति को रिजर्व बैंक ने बड़ी सावधानी के साथ हल किया। रिजर्व बैंक ने तालिका-बद्ध बैंकों में सरकारी सिक्यूरिटियां खरीदना आरम्भ कर दिया जिससे मंदी में मुद्रा की मात्रा बढ़े। इतना ही नहीं, बैंक ने तालिकाबद्ध बैंकों तथा प्रान्तीय सहकारी बैंकों को मान्य सिक्यूरिटियों की जमानत पर ऋण देना आरम्भ कर दिया। १४ जनवरी १९४९ को बैंक द्वारा उक्त संस्थाओं की स्वीकृत ऋण-राशि २३ करोड़ रुपये थी। रिजर्व बैंक ने बैंकों को सट्टेबाजों के लिए राशि उधार देने से रोकने की चेष्टा की। सितम्बर १९३९ में रुपये का अवमूल्यन होते ही बैंक ने व्यापारिक बैंकों को आदेश दे दिए कि वे सट्टेबाजों को बिलकुल राशि उधार न दें। इस प्रकार बैंक ने अवमूल्यन के पश्चात् देश के मूल्यस्तर को बढ़ने से रोकने के प्रयत्न किए।

(५) **साख नियंत्रण**—१९५१ में बैंक ने साख-नियंत्रण की ओर दो ठोस कदम उठाए। एक, नवम्बर में बैंक ने अपनी कटौती दर ३% से बढ़ाकर ३½% कर दी। (बैंक-दर में फेर-बदल करके साख-नियंत्रण करने का यह पहिला ही अवसर था। नवम्बर १९३५ से बैंक-दर ३% पर टिकी हुई थी। १९५१ में प्रथम बार इसे बढ़ाकर साख-संकुचन करने का प्रयत्न किया गया।) दूसरे, बैंक ने व्यापारिक बैंकों को सूचित कर दिया कि वह अब उनसे, विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, सामान्यतः सरकारी सिक्यूरिटियां नहीं खरीदा करेगा वरन् उन सिक्यूरिटियों की जमानत पर ऋण दिया करेगा। ऐसा रिजर्व बैंक ने अपनी बैंक-दर को प्रभावी बनाने के लिए किया था। बैंक-दर बढ़ाते ही साख-संकुचन होने लगा। इम्पीरियल बैंक ने अपनी दर २¾% से ३% कर दी और फिर ३½% तक बढ़ा दी। विनिमय बैंकों ने अपनी दर में ½% की बढ़ोत्तरी की तथा अन्य बैंकों ने भी अपनी अपनी ब्याज की दर ¼% और ½% बढ़ा दी। बैंकों ने ऋण स्वीकृत करने में सावधानी बर्तनी आरम्भ कर दी तथा ऋण-राशि में भी कमी की। बैंक दिए हुए ऋणों को वापस मांगने लगे तथा ऋणों पर आनुषंगिक सिक्यूरिटियों की मात्रा बढ़ाने पर जोर देने लगे। इस प्रकार मुद्रामंदी में चारों

और मुद्रा-संकुचन होने लगा। रिजर्व बैंक ने बैंकों को ऋण देने में सख्ती करने तथा सावधानी बर्तने के लिए कोई आदेश नहीं दिया था पर फिर भी बैंक दर बढ़ते ही इस प्रकार का वायुमंडल छा गया। इससे ज्ञात होता है कि मुद्रा-मंडी पर अब रिजर्व बैंक का आधिपत्य बढ़ता जा रहा है।

रिजर्व बैंक ने बैंकों से उनकी सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सरकारी सिक्यूरिटियां न खरीदकर उनकी साख पर ऋण देने की घोषणा की थी। इससे बैंक-दर को काफी बल मिला। बैंक-दर बढ़ाने से अगले ६ सप्ताहों में रिजर्व बैंक ने अन्य बैंकों को सरकारी सिक्यूरिटियों की जमानत पर कोई १७ करोड़ रुपये के ऋण दिए। इससे मुद्रा की सामयिक कमी भी दूर होती गई और बैंक-दर का दबदबा भी बढ़ गया।

प्रश्न

१—कृषि सम्बन्धी वित्त व्यवस्था को रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया से किस प्रकार सहायता मिलती है ? विस्तार पूर्वक लिखिए।

(यू०पी० १९५३, राज० १९५०)

२—रिजर्व बैङ्क ऑव इंडिया का देश के अन्य बैङ्कों के साथ क्या सम्बन्ध है ? (यू०पी० १९५०)

३—रिजर्व बैङ्क ऑव क्यों बनाया गया था ? इसको भारतीय बैङ्किंग कलेवर पर क्या प्रभाव पड़ा ? (यू०पी० १९४४, म०भा० १९५१)

४—रिजर्व बैङ्क ऑव इण्डिया की केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाओं का वर्णन कीजिए। (राज० १९४९)

५—रिजर्व बैंक की क्रियाओं का वर्णन कीजिए। (राज० १९४८)

अध्याय ३१

इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया

(Imperial Bank of India)

प्रथम महायुद्ध समाप्त होने के पश्चात् इस बात की तीव्र आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि देश में एक केन्द्रीय बैंक होना चाहिए। १८३६ से लेकर १६१६ तक यह प्रश्न अनेक बार दुहराया गया परन्तु तत्कालीन सरकार की लापरवाही तथा उदासीनता के कारण इसको कार्यान्वित नहीं किया जा सका। अन्त में बम्बई, बंगाल तथा मद्रास के तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिलाकर १६२० में 'इम्पीरियल बैंक ऑव इंडिया एक्ट' पास किया गया जिसके फलस्वरूप २७ जनवरी १६२१ में वर्तमान इम्पीरियल बैंक का जन्म हुआ। इम्पीरियल बैंक का देश के बैंकिंग इतिहास में बहुत महत्व-पूर्ण स्थान है क्योंकि इसी के जन्म के साथ-साथ देश की बैंकिंग सुविधाओं में उन्नति का श्रीगणेश हुआ तथा इसी के द्वारा सबसे पहले केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाओं की नींव पड़ी। इम्पीरियल बैंक स्थापित करने के दो मुख्य उद्देश्य थे :—

(१) सरकारी राशि को जमा रखना तथा सरकार के लेखे पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर राशि भेजना और सरकार को समय-समय पर सलाह देना, आदि।

(२) देश के बैंकों पर देख-भाल रखना तथा देश में बैंकिंग सुविधाएं बढ़ाना।

बैंक का विधान
(१६३४ के संशोधित कानून के अनुसार)

बैंक की अधिकृत पूंजी ११$\frac{1}{4}$ करोड़ रुपये थी जो २,२५,००० अंशों में थी। प्रत्येक अंश ५०० रुपये का था। अधिकृत पूंजी का आधा भाग परिदत्त पूंजी थी और संचित कोष की राशि लगभग ७ करोड़ रुपये थी।

प्रादेशिक सत्ता बनाए रखने की दृष्टि से तथा बैंक को बैंकिंग क्षेत्र में चतुर्मुखी शक्ति प्रदान करने की सुविधा के कारण पुराने प्रेसीडेन्सी बैंकों के कार्यालयों पर तीन स्थानीय बोर्ड बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास में स्थापित किए गए थे। ये बोर्ड उन कार्यालयों के क्षेत्र में आनेवाले अंशधारियों के द्वारा चुने हुए सदस्यों से बने थे परन्तु उनका प्रबन्ध सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष के अधीन था। स्थानीय बोर्ड में सात सदस्य होते थे एवं ये बोर्ड स्थानीय कार्यों की देख-रेख करते थे।

बैंक के संचालन एवं प्रबन्ध का कार्य केन्द्रीय बोर्ड के अधीन थे। स्थानीय बोर्ड केन्द्रीय बोर्ड के अधीन था। केन्द्रीय बोर्ड बैंक की नीति-निर्धारण का काम करता था और साप्ताहिक विवरण की जांच-पड़ताल भी करता था। बैंक का वास्तविक प्रबन्ध बैंक के प्रबन्ध-संचालक तथा उप-सचालक के द्वारा होता था जो केन्द्रीय बोर्ड द्वारा कम से कम पांच वर्ष के लिए नियुक्त किए जाते थे। १६३४ में जब रिजर्व बैंक की स्थापना के लिए रिजर्व बैंक एक्ट पास किया गया तो साथ ही साथ इम्पीरियल बैंक एक्ट (१६२१) में भी आवश्यक संशोधन कर दिए गए थे। तदनुसार केन्द्रीय बोर्ड में निम्न सदस्य होते थे—

(१) स्थानीय बोर्डों के सभापति, उप-सभापति तथा कार्य-मंत्री,

(२) प्रत्येक स्थानीय बोर्ड के सदस्यों में से चुना हुआ एक सदस्य,

(३) केन्द्रीय बोर्ड द्वारा नियुक्त किए गए प्रबन्ध-संचालक तथा उप-प्रबन्ध-सचालक,

(४) केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत दो जन-व्यक्ति,
(५) केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत एक अफसर जिसे केन्द्रीय बोर्ड की बैठक में केवल जाने का अधिकार था परन्तु मत देने का अधिकार नहीं था।

यहां सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि केन्द्रीय बोर्ड का कोई स्थायी रूप से स्थान नहीं था। कलकत्ता तथा बम्बई में बारी-बारी से केन्द्रीय बोर्ड की बैठकें होती थीं।

इम्पीरियल बैंक की एक शाखा लंदन में थी जो विनिमय बैंकों के विदेशी बिलों की कटौती करती थी।

१६३५ से पहिले, जब कि देश में रिजर्व बैंक नहीं था, इम्पीरियल बैंक ही केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाओं में से निम्न दो मुख्य कार्य किया करता था :—

(१) सरकारी बैंक का कार्य,
(२) बैंकों के बैंक का कार्य।

सरकारी कार्य करने के अधिकार के बदले में केन्द्रीय सरकार इस पर उस समय अपना विशेष अधिकार समझ कर नियंत्रण रखती थी। सरकार तब स्थानीय बोर्डों के मन्त्री नियुक्त करती थी, हिसाब निरीक्षक नियुक्त करती थी और समय-समय पर आवश्यक आदेश भी दिया करती थी। उस समय यह बैंक कई प्रकार से सरकार के अधीन था। परन्तु रिजर्व बैंक बन जाने से उक्त दोनों कार्य इस बैङ्क से हटकर रिजर्व बैंक पर चले गए थे। अतः इस बैंक पर से सरकार के उक्त अधिकार भी समाप्त हो गए थे। अब यह बैंक उन स्थानों में, जहां रिजर्व बैङ्क के कार्यालय नहीं हैं परन्तु इसके कार्यालय थे, रिजर्व बैङ्क के एजेन्ट की हैसियत से काम करता था।

इम्पीरियल बैंक का रिजर्व बैङ्क से सम्मेल

१६३५ में रिजर्व बैंक बनने पर इम्पीरियल बैंक रिजर्व बैंक का एजेन्ट बना दिया गया और निश्चय किया गया कि जिन स्थानों पर रिजर्व बैंक की शाखा

नहीं थी पर इम्पीरियल बैंक की शाखा थी वहां इम्पीरियल बैंक रिजर्व बैंक के एजेंट की हैसियत से काम करता था। इस निश्चय को वैधानिक रूप देने के लिए ५ अप्रैल १६३५ को दोनों बैंकों में एक समझौता हुआ जो रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया एक्ट की तृतीय तालिका में दिया गया था।

५ अप्रैल १६३५ का समझौता—सम्मेल सर्वप्रथम दस वर्ष के लिए किया गया। सम्मेल के अनुसार इस इम्पीरियल बैंक ने रिजर्व बैंक के एजेंट की हैसियत से सरकारी लेखे पर जितनी राशि का लेन-देन किया उसमें से पहिले २५० करोड़ रुपयों पर उसे १ आना प्रतिशत (अर्थात $\frac{1}{16}$ रु०%) प्रतिवर्ष की दर से कमीशन दिया गया तथा शेष राशि पर $\frac{1}{2}$ आना प्रतिशत (अर्थात $\frac{1}{32}$ रु०%) प्रतिवर्ष कमीशन मिला। इस सम्मेल में यह भी व्यवस्था की गई कि इस सम्मेल की अवधि समाप्त होने पर एक नया सम्मेल पांच वर्षों के लिए फिर किया जायगा और उसमें इम्पीरियल बैंक को मिलनेवाले कमीशन की दर फिर निश्चित की जायगी। तदनुसार प्रथम समझौता अप्रैल १६४५ में समाप्त हो गया और नया समझौता २ मई १६४५ को पांच वर्षों के लिए किया गया।

२ मई १६४५ का समझौता—यह समझौता २ मई १६४५ को ३१ मार्च १६५० तक के लिए किया गया। इस समझौते के अनुसार बैंक को इस प्रकार कमीशन मिला :—

(१) प्रथम १५० करोड़ रुपयों पर $\frac{1}{16}$ रु० % प्रतिवर्ष कमीशन दिया गया।

(२) द्वितीय १५० करोड़ रुपयों पर (अर्थात् १५० से ३०० करोड़ रुपयों पर) $\frac{1}{32}$ रु० % प्रतिवर्ष कमीशन दिया गया;

(३) ३०० करोड़ से ऊपर अगले ३०० करोड़ रुपयों पर $\frac{1}{64}$ रु०% प्रतिवर्ष कमीशन दिया गया;

(४) ६०० करोड़ से ऊपर की राशि पर $\frac{1}{128}$ रु०% प्रतिवर्ष कमीशन दिया गया।

यह समझौता मार्च १६५० में समाप्त होना था अतः १८ अक्टूबर १६५१ को ही नया समझौता तय कर लिया गया।

१८ अक्टूबर १६५१ का समझौता—यह समझौता १ अप्रैल १६५० से लागू हुआ और ३१ मार्च १६५५ तक चला। इस समझौते के अनुसार इम्पीरियल बैंक को इस प्रकार कमीशन मिलना तय हुआ :—

(१) प्रथम १५० करोड़ रुपयों पर ५/१६ रु० % प्रतिवर्ष की दर से ;

(२) १५० करोड़ रुपये से ऊपर अगले ३०० करोड़ रुपयों पर १/३२ रु०% प्रतिवर्ष की दर से ;

(३) ३०० करोड़ रुपये से ऊपर शेष राशि पर १/६४ रु०% प्रतिवर्ष की दर से।

यदि किसी वर्ष में इम्पीरियल बैंक रिजर्व बैंक के एजेंट की हैसियत से सरकारी लेखे पर १२०० करोड़ रुपये से अधिक राशि का लेन-देन करेगा तो १२०० करोड़ रुपयों से ऊपर की राशि पर उसे १/१६ रु०% प्रतिवर्ष की दर से कमीशन दिया जायगा।*

इम्पीरियल बैंक ही केन्द्रीय बैंक क्यों नहीं ?

कुछ लोगों का प्रश्न होता है कि १६३४ में रिजर्व बैंक क्यों बनाया गया और इम्पीरियल बैंक को ही, जो उस समय गत १४ वर्षों से केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाएं भी करता रहा था, केन्द्रीय बैंक क्यों नहीं बना दिया गया? प्रश्न तो उचित और स्वाभाविक है पर ऐसा करने में निम्न असुविधाएं थीं :—

(१) केन्द्रीय बैंक की कार्य-प्रणाली बिलकुल सुरक्षित होनी चाहिए और उसकी सम्पत्ति भी यथासंभव तरल होना आवश्यक है। परन्तु ये दोनों बातें उस केन्द्रीय बैंक के साथ संभव नहीं हो सकतीं जो व्यापारिक क्रियाएं

---

*Reserve Bank of India Bulletin—November 1951; pp. 816-817.

भी करता हो। ठीक यही बात इम्पीरियल बैंक के साथ थी। यह बैंक व्यापारिक बैंक था और यदि इसको पूर्णतया केन्द्रीय बैंक बना दिया जाता तो इसकी कार्य-शैली सुरक्षित नहीं रह सकती थी। फिर भी यदि इसे केन्द्रीय बैंक बनाया जाता तो इसका व्यापारिक बैंकिंग व्यवसाय इससे अलग करना पड़ता पर ऐसा करना ठीक नहीं था क्योंकि उस समय देश में यही एक सुदृढ़ और सुरक्षित व्यापारिक बैंक था।

(२) यदि इसके व्यापारिक कार्य इससे अलग किए जाते तो देश में बैंकिंग व्यवस्था कमजोर पड़ जाती क्योंकि बैंकिंग सुविधाएं देनेवाला यही एक ऐसा संगठित बैंक था जिसकी शाखाएं दूर-दूर तक थीं।

(३) केन्द्रीय बैंक 'बैंकों का बैंक' होता है और उसे समय-समय पर बैंक की सहायता करनी होती है। इम्पीरियल बैंक व्यापारिक बैंक था जिसमें जनता की राशि जमा थी। तो इसे केन्द्रीय बैंक बनाने से जनता की जमा-राशि तथा बैंकों की जमा-राशि, दोनों में तनाव हो जाता और तब इम्पीरियल बैंक 'बैंकों के बैंक' की हैसियत से सफलतापूर्वक काम नहीं कर सकता था अपितु वह व्यापारिक बैंक का प्रतियोगी बन जाता। यदि इम्पीरियल बैंक को दोनों क्रियाएं—केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाएं तथा व्यापारिक क्रियाएं—करने का अधिकार दे दिया जाता तो इसकी शक्ति अपार हो जाती और देश के अन्य बैंकों को इसकी प्रतियोगिता के कारण हटना ही पड़ता। 'बैंकों के बैंक' को बैंकों से जमा राशि में से अन्य लोगों को राशि उधार नहीं देना चाहिए अन्यथा देश का बैंकिंग कालेवर टूट जाने का भय रहता है। यही भय इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक बनाने में था।

(४) यह भी सोचा गया कि इम्पीरियल बैंक को दो भागों में बांट दिया जाय—(१) निर्गमन विभाग तथा (२) बैंकिंग विभाग। निर्गमन विभाग को केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाएं तथा नोट जारी करने का कार्य दे दिया जाय और बैंकिंग विभाग अन्य क्रियाएं करे। परन्तु इस उपाय से भी समस्या हल नहीं हो सकती थी क्योंकि दोनों विभाग अन्त में एक ही नियंत्रण में

रहने और एक ही नियंत्रण और प्रबन्ध में रहने के कारण फिर वही असुविधाएं हो जातीं।

(५) इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक बनाने के लिए आवश्यक था कि उसके लाभांश वितरण पर नियंत्रण किया जाता पर इस प्रकार का नियंत्रण उसके अंशधारी नहीं चाहते थे।

(६) इम्पीरियल बैंक ने १९३५ तक अपने चौदह वर्षों के जीवनकाल में केन्द्रीय बैंक के अभाव को दूर करने का दायित्व नहीं निभाया। वह अन्य बैंकों का प्रतियोगी होने के कारण सच्चे रूप में बैंकों का बैंक नहीं बन सका। व्यापारिक बैंक इम्पीरियल बैंक के पास सहायता के लिए जाने में अपनी मानहानि समझते रहे और इम्पीरियल बैंक ने भी उन्हें बिलों की कटौती की पूरी-पूरी सुविधाएं नहीं दीं। दूसरे, न तो इम्पीरियल बैंक की बैंक-दर इतनी प्रभावशाली थी और न सभी बैंक इसके पास अपनी राशि जमा करते थे जिसकी वजह से न तो वह बैंकों का भली प्रकार नियंत्रण कर पाता था और न साख की उचित व्यवस्था ही संभाल पाता था। संक्षेप में बात यह है कि इम्पीरियल बैंक व्यापारिक बैंक के रूप में कार्य करता रहा पर उसने केन्द्रीय बैंक सम्बन्धी कोई विशेष कार्य नहीं किया। अतः उसे केन्द्रीय बैंक बनाने का गौरव प्राप्त न हो सका।

(७) इम्पीरियल बैंक विदेशी प्रबन्ध-संचालन में होने के कारण अपनी अराष्ट्रीय नीति की वजह से भारतीयों की सहानुभूति प्राप्त न कर सका। भारतीय व्यापारियों के साथ वह सौतेला व्यवहार करता था जिससे वह भारतीयों का विश्वासपात्र न बन सका और उसे केन्द्रीय बैंक न बनाया गया।

उक्त कारणों की वजह से हिल्टन यंग कमीशन ने इम्पीरियल बैंक को देश का केन्द्रीय बैंक बनाना उचित न समझा और एक नई संस्था बनाने की ही सिफारिश की।

इम्पीरियल बैंक की क्रियाएं

१६३५ तक, जब रिजव बैंक नहीं बना था, यही बैंक 'सरकारी बैंक' था और यह 'बैंकों के बैंक' का कार्य भी करता था। सरकारी बैंक होने के नाते यह सरकारी रुपया जमा रखता था, सरकारी रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजता था, जन-ऋण का काम करता था तथा अन्य सरकारी लेखों पर जमा तथा भुगतान भी करता था। 'बैंकों का बैंक' होने के कारण देश के अनेक बैंक इसमे राशि जमा कर सकते थे और समय आने पर उधार भी ले सकते थे। परन्तु रिजर्व बैंक बन जाने मे ये दोनों क्रियाएं इम्पीरियल बैंक के अधीन नहीं रहीं। सामान्यतः बैंक की क्रियाएं निम्न थीं :—

(१) केन्द्रीय सरकार द्वारा घोषित तथा अन्य स्थानीय सरकारों के ऋण-पत्रों एवं अन्य सिक्यूरिटियों पर सीमित देनदारीवाली कम्पनियों के ऋणपत्रों पर, माल अथवा माल के अधिकार-पत्रों पर (जो बैंक में जमा की जावे) स्वीकृति-बिलो तथा प्रतिज्ञा-पत्रों पर तथा सीमित देनदारीवाली कम्पनियों के पूरे भुगतान किए गए अशों (fully paid up shares) की साख पर राशि उधार देना।

(२) ऋणपत्र तथा अन्य सिक्यूरिटियां वेचना।

(३) स्थानीय सरकार की स्वीकृति से कोर्ट ऑव वार्ड्स (Court of Wards) को, सामयिक कृषि क्रियाओं को तथा अन्य कार्यों को राशि उधार देना। (परन्तु कृषि क्रियाओं को ६ माह से अधिक समय के लिए और अन्य कार्यों को ६ माह से अधिक समय के लिए राशि उधार नहीं दे सकता।)

(४) विनिमय बिलों को लिखना, क्रय-विक्रय करना, स्वीकार करना तथ कटौती करना, देश से बाहर भी उधार लेना तथा राशि जम करना।

(५) सम्पत्ति पर राशि उधार लेना तथा अन्य प्रकार की कोई भी बैंकिंग क्रिया करना।

(६) सोना-चांदी क्रय-विक्रय करना तथा आभूषण और अन्य बहुमूल्य वस्तुएं सुरक्षित करना।

(७) चल और अचल सम्पत्ति जो बैंक के अधिकार में हो या आवे उसे बेचना।

(८) लोगों की राशि जमा करना व लोगों को उधार देना।

(९) साख-पत्र जारी करना तथा कृषि को सहायता देने के लिए देश से बाहर के लिए भी केवल ६ माह की अवधि के बिल खरीदना तथा देश के बाहर के अन्य कार्यों के लिए केवल ६ माह की अवधि के बिल खरीदना और लिखना।

(१०) अन्य कोई भी कार्य करना जो एक्ट द्वारा स्वीकृत किया गया हो।

इम्पीरियल बैंक पर आक्षेप

(१) बैंक की अधिकांश पूंजी विदेशी रही थी और प्रबन्ध भी अभारतीय रहा था। भारतीयों का उसमें विशेष स्थान नहीं था। (यद्यपि पिछले दिनों में विदेशी पूंजी को शनैः शनैः स्थानापन्न किया गया था परन्तु अब भी विदेशियों को ही विशेष स्थान मिला हुआ था।)

(२) बैंक के ऊंचे-ऊंचे पदाधिकारी भी अभी अभारतीय ही थे। भारतीयों को न उन पदों पर नियुक्त किया जाता था और न उन्हें ऊंची शिक्षा का अवसर दिया जाता था। यद्यपि प्रबन्ध-संचालक ने घोषणा की थी कि भारतीयों को विशेष स्थान दिया जायगा परन्तु अभी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था।

(३) अभारतीय प्रबन्ध होने के कारण बैंक से राशि उधार लेने में भारतीयों को कठिनाई होती थी। प्रबन्धक विशेषकर अपने देशवालों को ही

राशि उधार देते थे। इस प्रकार भारतीय राशि द्वारा बैंक अभारतीय व्यापार की उन्नति करने का साधन बन गया था।

(४) बैंक व्यक्तिगत साख पर उधार देने की प्रथा का पालन करता रहा था और इसने बिल। के प्रयोग को बढ़ाने के लिए कटौती को अधिक प्रोत्साहन नहीं दिया था। अतः देश की बिल-मंडी में कोई उन्नति नहीं हो सकी थी।

(५) बैंक रिजर्व बैंक का एजेंट होने के कारण तथा अपनी पुरानी बलवान् परिस्थिति के कारण अन्य बैंकों की अपेक्षाकृत देश के लोगों से अधिक जमा-राशि प्राप्त कर लेता था। अतः यह बैंक एक प्रकार से भारतीय बैंको का प्रतियोगी बन बैठा था। यद्यपि इस प्रतियोगिता के कारण जनता को लाभ ही हुआ है क्योंकि उन्हे सस्ती दरों पर राशि उधार मिल सकती थी परन्तु देश के नवजात बैंकों को इससे हानि ही हुई थी। कुछ लोगो की ऐसी धारणा है कि बैंक भारत मे जमा-राशि लेकर विदेशों में भेज देता है परन्तु इसमें अधिक तथ्य नहीं जान पड़ता।

उक्त सभी दोषों के कारण इम्पीरियल बैंक के प्रति जनता में काफी क्षोभ रहा था। कुछ लोगो का विचार था कि इम्पीरियल बैंक एक्ट को पूर्णतया संशोधित कर देना चाहिए और कुछ लोग कहते हैं कि इस पर अधिक से अधिक प्रतिबन्ध लगाने चाहिए परन्तु इसमें संदेह नहीं कि बैंक ने देश में जागृति तो की थी और स्थान-स्थान पर बैंकिंग सुविधाएं देने का प्रबन्ध भी किया है। ऐसी अवस्था में ऐसा करना ठीक नहीं होगा। हां, दोषों को दूर करने के प्रयत्न करने चाहिए जिससे भारतीय पदाधिकारी नियुक्त किए जाय और विदेशी पूंजी के स्थान पर भारतीय पूंजी बदली जा सके।

इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण—१ जुलाई १९५५

इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न कई बार भारत सरकार के सामने आया। १९४९ में रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण करते समय इस बैंक के

राष्ट्रीयकरण का प्रश्न भी विधान सभा के सामने लाया गया। १९५०-५१ का बजट पेश करने के पश्चात् बजट पर बहस करते हुए इस प्रश्न को फिर दोहराया गया। १९५० के अन्त में जब भारतीय बैंकिंग कम्पनी एक्ट में संशोधन किया जा रहा था तो इस प्रश्न को लाया गया। पर राष्ट्रीय-करण की योजना पूर्ण नहीं हो सकी। अन्त में रिजर्व बैंक ऑव इन्डिया द्वारा नियुक्त ग्रामीण साख-समिति ने जोरदार शब्दों में सिफारिश की कि ग्रामीण जनता को साख की समुचित सुविधाएं प्रदान करने के लिए इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके उसे एक बड़े बैंक का प्रारूप दे दिया जाय जो गांवों में साख-सुविधाएं देने के लिए अनेक शाखाएं खोले। समिति का विचार था कि ऐसा विशाल कार्य केवल इम्पीरियल बैंक ऑफ इन्डिया ही कर सकता है। रिजर्व बैंक तथा भारत सरकार ने भी इस सिफारिश को मान लिया और इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके उसे State Bank of India बनाना निश्चित किया। अतः इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है और इसको State Bank of India में परिवर्तित कर दिया है। इसका स्वामित्व एवं संचालन केन्द्रीय सरकार के अधीन है। डा० जॉन मथाई State Banke of India के प्रथम अध्यक्ष हैं। State Bank of India का मुख्य कार्य ग्रामीण जनता को साख की सुविधाएं देना है। यह १ जुलाई १९५५ से स्थापित हुआ है और योजना है कि अगले ५ वर्षों में इसकी ४०० नई शाखाएं बनेंगी।

प्रश्न

१—इम्पीरियल बैंक ऑव इन्डिया की वर्तमान स्थिति पर पूर्ण प्रकाश डालिए। (यू०पी० १९५४)

२—भारत में इम्पीरियल बैंक क्यों और कैसे स्थापित किया गया? आरम्भ में इसका विधान क्या था? (यू०पी० १९५२; मा०मा० १९५१)

३—रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व इम्पीरियल बैंक की क्या स्थिति थी ? उसके पश्चात् इसकी स्थिति क्या हो गई ? (यू०पी० १९४४)

४—इम्पीरियल बैंक देश का केन्द्रीय बैंक क्यों नहीं बनाया गया ? (राज० १९५२)

५—भारत के बैंकिंग कलेवर में इम्पीरियल बैंक का क्या स्थान रहा है ? (राज० १९५२)

६—इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण क्यों किया गया ?

अध्याय ३२

भारतीय बैंकिंग कम्पनी कानून १९४९

(Indian Banking Companies Act, 1949)

देश के बैंकिंग क्षेत्र में कम्पनी कानून की आवश्यकता आरम्भ से ही अनुभव की जा रही थी क्योंकि देश बैंकिंग व्यवस्था को समुचित एवं सुव्यवस्थित रीति से संचालित करने के लिए कोई स्वतंत्र कानून न था। १९३०-३१ में केन्द्रीय बैंकिंग जाच कमेटी ने इस बात की सिफारिश की थी कि देश में बैंकिंग कानून होना चाहिए। पर उस समय सरकार ने कोई स्वतंत्र कानून न बनाकर १९३६ में भारतीय कम्पनी कानून (१९१३) में ही कुछ ऐसी धाराएं जोड़ दीं जो बैंकिंग व्यवसाय से सम्बन्ध रखती थीं। १९३६ के पश्चात् अनेक ऐसे अवसर आए जब कि रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया ने भारत सरकार का ध्यान बैंकिंग कानून बनाने की ओर आकर्षित किया पर १९३९ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो जाने से सरकार कोई ठोस कदम न उठा सकी। १९४५ में एक बार बैंकिंग कम्पनी बिल विधान-सभा के सम्मुख लाया गया पर तत्कालीन विधान सभा का विलयन हो जाने के कारण उस पर कोई विचार नहीं किया जा सका। १९४६ में फिर बैंकिंग कम्पनी बिल धारा सभा के सामने लाया गया पर वह जनवरी १९४८ में वापस ले लिया गया। इसके पश्चात् २२ मार्च १९४८ को एक बैंकिंग कम्पनी बिल धारा सभा के सामने पेश किया गया जो १७ फरवरी १९४९ को पास होकर १६ मार्च १९४९ से 'भारतीय बैंकिंग कम्पनी कानून' के नाम से कार्यान्वित किया गया। इस कानून में कुल मिलाकर ५६ धाराएं हैं जो देश की बैंकिंग कम्पनियों को भिन्न-भिन्न प्रकार से संचालित करती हैं। इस कानून के द्वारा बैंकों में राशि जमा करनेवालों

को बैंकों की बेईमानी तथा लापरवाही से होनेवाली हानि तथा बैंकिंग संकट से पूंजी नष्ट होने का भय भी नहीं रहेगा।

यह कानून सरकारी बैंकों को छोड़ भारत-स्थित सभी बैंकिंग कम्पनियों पर लागू होता है धारा ३)। कानून की धारा ५ (ब) में बैंकिंग व्यवसाय का अर्थ और परिभाषा स्पष्ट कर दी गई है। इस धारा के अनुसार "बैंकिंग व्यवसाय उसे कहते हैं जिसमें उधार देने तथा विनियोग करने के उद्देश्य से जनता से राशि जमा की जाय और फिर वह उनकी माग पर चेक द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार के आदेश द्वारा भुगतान की जाय।" कोई कम्पनी बैंकिंग व्यवसाय तब तक नहीं कर सकती जब तक कि वह अपने नाम के साथ बैंक, बैंकर अथवा बैंकिंग शब्दों का प्रयोग न करे (धारा ७)। बैंकों की कार्य-सूची धारा ६ में विस्तृत रूप से दी गई है। धारा ७ के अनुसार कोई भी बैंक माल के क्रय-विक्रय के व्यापार नहीं कर सकता और न वह दूसरों के नाम से ही माल की खरीद-बेच कर सकता है। धारा १० में बैंकों का प्रबन्ध प्रबन्ध-एजेंटों (Managing Agents) द्वारा करना निषिद्ध है तथा कोई भी बैंक ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति नहीं कर सकता, जो दिवालिया हों, जो उस कम्पनी से किसी भी प्रकार का कमीशन तथा लाभ के रूप में पारिश्रमिक लेते हों, जो अन्य किसी कम्पनी के प्रबन्धक हों व जो किसी अन्य प्रकार का व्यापार करते हों।

अनुज्ञा-पत्र सम्बन्धी व्यवस्था

कानून की धारा २२ के अनुसार कोई भी रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया से अनुज्ञा-पत्र प्राप्त किए बिना व्यवसाय आरम्भ नहीं कर सकता। पुराने बैंकों को कानून लागू होने से ६ माह के अन्दर अनुज्ञा-पत्र ले लेना अनिवार्य होता है तथा नये बननेवाले बैंक तब तक व्यवसाय आरम्भ नहीं कर सकते जब तक कि वे अनुज्ञा-पत्र प्राप्त न कर लें। अनुज्ञा-पत्र स्वीकृत करने से पूर्व रिजर्व बैंक उस कम्पनी की पुस्तकों की जाँच कर सकता है और निम्न बातों के विषय में पड़ताल कर सकता है :—

(१) कम्पनी अपने जमाकर्त्ताओं को उनकी जमा-राशि भुगतान करने के योग्य है अथवा नहीं,

(२) कम्पनी का प्रबन्ध जमाकर्त्ताओं के हित में हो रहा है अथवा नहीं,

(३) जो कम्पनियां भारतीय प्रान्तों को छोड़कर अन्य स्थानों में रजिस्टर्ड हैं तो उन स्थानों पर भारतीय बैंकों के विरुद्ध किसी प्रकार के वैधानिक प्रतिबन्ध तो नहीं हैं तथा भारत-स्थित वे कम्पनियां भारत में भारतीय कानून का पालन करती हैं या नहीं।

यदि कोई बैंक रिजर्व बैंक से उक्त शर्तों पर अनुज्ञा-पत्र प्राप्त भी कर ले परन्तु भविष्य में उन शर्तों के अनुसार कार्य न करे तो रिजर्व बैंक उसका अनुज्ञा-पत्र रद्द कर सकता है।

नवीन कार्यालय

कोई भी बैंक रिजर्व बैंक की लिखित स्वीकृति प्राप्त किए बिना किसी नये स्थान पर कार्यालय स्थापित नहीं कर सकता और न शाखा का स्थानान्तरण (उसी शहर, नगर या गांव को छोड़कर) अन्य स्थानों पर कर सकता है। इस प्रकार की स्वीकृति देते समय रिजर्व बैंक को उस बैंक की आर्थिक स्थिति, व्यवसाय, जमाकर्त्ताओं का हित तथा जन-साधारण की भलाई ध्यान में रखने होंगे (धारा २३)।*

पूंजी विषयक धाराएं

कानून में बैंकों की न्यूनातिन्यून पूंजी तथा सञ्चित कोष के विषय में भी कुछ शर्तें निर्धारित की गई हैं। जो बैंक देश के एक प्रान्त से अधिक

*भारत में अथवा विदेशों में शाखा खोलने से पूर्व तथा भारत-स्थित अथवा भारत के बाहर भी स्थित वर्तमान शाखाओं का स्थान-परिवर्तन करने से पहिले रिजर्व बैंक से पूर्वानुमति लेना अनिवार्य है।

प्रान्तों में अपना व्यवसाय करे उनको कम से कम ५ लाख रुपये के मूल्य की परिदत्त पूंजी और कोष रखना अनिवार्य है (धारा ११)। यदि उनका व्यवसाय बंबई या कलकत्ते में किसी एक स्थान पर अथवा दोनों स्थानों पर हो तो पूंजी और कोष मिलाकर १० लाख रुपये के मूल्य के बराबर रखना अनिवार्य है। जो बैंक भारत से बाहर अन्य किसी देश में रजिस्टर्ड हैं परन्तु भारत में व्यवसाय करते हैं उन्हें १५ लाख रुपये की पूंजी और कोष रखना अनिवार्य है और यदि उनका व्यवसाय बंबई और कलकत्ते में भी हो तो उन्हें २० लाख रुपये की पूंजी और कोष रखना अनिवार्य है।

[बैंकिंग कम्पनी (संशोधन) कानून १९५०]

इस संशोधन से रिजर्व बैंक को भारतीय बैंकों की विदेशी शाखाओं पर भी नियंत्रण करने का अधिकार मिल गया है।

१९५२-५३ में रिजर्व बैंक ने निम्न चार बैंकों को भारत से बाहर विदेशों में शाखाएं खोलने की अनुमति दी थी :—

(१) यूनाइटेड कमर्शियल बैंक लि०
(२) सेन्ट्रल बैंक ऑव इण्डिया लि०
(३) बैंक ऑव इण्डिया लि०
(४) बैंक ऑव बरोदा लि०

[रिजर्व बैंक की वार्षिक रिपोर्ट १९५२-५३]

कानून की धारा १२ के अनुसार किसी भी बैंक की प्रार्थित पूंजी उसकी अधिकृत पूंजी के ५०% से कम नहीं हो सकती और इसी प्रकार उसकी परिदत्त पूंजी उसकी प्रार्थित पूंजी के ५०% से कम नहीं हो सकती। बैंक अपनी पूंजी केवल सामान्य अंश बेचकर ही प्राप्त कर सकता है अथवा ऐसे पूर्वाधिकारी अंश (Preference Shares) बेचकर प्राप्त कर सकता है जो १ जुलाई १९४४ से पहिले बेचे गए हों। धारा १२ (iii) के अनुसार अंशधारियों को अपने अंशों के अनुपात में मत देने का अधिकार होता है

परन्तु किसी भी अंशधारी का मत सम्पूर्ण अंशधारियों के अधिकारों के ५% से अधिक नहीं हो सकता।

संचित कोष की व्यवस्था

वैसे तो रिजर्व बैङ्क ऑव इंडिया एक्ट की धारा ४२ के अनुसार प्रत्येक तालिकाबद्ध बैङ्क को अपनी मांग-देनदारी का ५% तथा काल-देनदारी का २% कोषरूप में रिजर्व बैङ्क के पास रखना पड़ता है परन्तु इसके साथ ही बैङ्किंग कम्पनी कानून की धारा १८ के अनुसार प्रत्येक तालिकाबद्ध बैंक को भी इतना ही कोष रिजर्व बैंक के पास अथवा अपने पास या दोनों के पास प्रतिक्षण रखना अनिवार्य है। बैंकों को इस आशय का एक विवरण भी प्रत्येक माह के अन्तिम शुक्रवार को रिजर्व बैंक के पास भेजना पड़ता है। कानून की धारा २५ के अनुसार प्रत्येक बैङ्क को तिमाही के अन्तिम दिन अपनी मांग तथा काल-देनदारी का कम से कम ३/४ भाग भारत के विभिन्न प्रान्तों में रखना होगा, देश से बाहर नहीं।*

धारा १४ के अनुसार कोई भी बैङ्क अपनी शेष अदत्त पूंजी की जमानत पर कोई ऋण आदि भार नहीं ले सकता।

धारा १५ के अनुसार कोई भी बैङ्क अपने पूंजी-प्रधान व्यय (Capitalised expenditure) को लोप किए बिना कोई लाभांश (Dividend) नहीं बांट सकता। पूंजी-प्रधान व्यय में भिन्न-भिन्न मद जैसे प्रारम्भिक व्यय, संगठन-व्यय, कमीशन आदि सम्मिलित किए गए हैं।

---

*मांग तथा काल-देनदारी का ३/४ भाग सिक्यूरिटियों, आयात-निर्यात बिलों आदि के रूप में भारत के बाहर भी रक्खा जा सकता है।

[बैंकिंग कम्पनी (संशोधन) कानून १९५०]

इस संशोधन ने बैङ्कों को अपनी सम्पत्ति का कुछ भाग विदेशों में भी रखने की आज्ञा दे दी गई है।

धारा १६ के अनुसार कोई भी बैंक ऐसे व्यक्ति को संचालक-समिति पर नियुक्त नहीं कर सकता जो किसी अन्य बैंक का भी संचालक हो।

धारा १७ के अनुसार प्रत्येक बैंक को अनिवार्य होगा कि वह लाभांश वितरण से पहिले लाभ का कम से कम २०% भाग संचित कोष में जमा करे और जब तक यह कोष परिदत्त पूंजी के बाहर न हो जाय कोष में जमा करता ही रहे। २०% कोष में जमा करने से पहिले लाभांश वितरण नहीं किया जा सकता।

धारा १६ के अनुसार कोई भी बैंक ट्रस्टी कार्य के अतिरिक्त, सुरक्षा-जमा-व्यवस्था (Safe Deposit Vaults) के अतिरिक्त तथा रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया की पूर्व स्वीकृति के अतिरिक्त बैंकिंग व्यवसाय के आवश्यक कार्यों को छोड़ अन्य किसी उद्देश्य से सहायक कम्पनी स्थापित नहीं कर सकता।

धारा २० के अनुसार कोई बैंक अपने अंशों की जमानत पर ऋण नहीं दे सकता तथा किसी अपने संचालक को भी जमानत के बिना ऋण नहीं दे सकता। बैंक किसी ऐसे साझीदारी व्यापार अथवा कम्पनी को ऋण नहीं दे सकता जिसमें बैंक का कोई भी संचालक साझीदार अथवा अंश-धारी हो।

धारा २३ के अनुसार कोई भी बैंक रिजर्व बैंक की स्वीकृति के बिना नया कार्यालय स्थापित नहीं कर सकता, पुराने कार्यालय को एक नगर की सीमा से बाहर अन्य स्थान पर स्थापित नहीं कर सकता।

धारा ४४ के अनुसार कोई भी बैंक रिजर्व बैंक से लिखित प्रमाण-पत्र प्राप्त किए बिना स्वेच्छा से अपना व्यवसाय बन्द नहीं कर सकता और ऐसी अनुमति उसे तभी प्राप्त हो सकती है जब रिजर्व बैंक को यह विश्वास हो जाय कि वह अपने लेनदारों का भुगतान करने की क्षमता और साधन रखता है।

धारा ४५ के अनुसार बैंक मिलकर एकीकरण की योजना तब तक नहीं बना सकते जब तक कि न्यायालय उस योजना को स्वीकृत न कर

दे। न्यायालय ऐसी योजना तब तक स्वीकृत नहीं कर सकता जब तक कि रिजर्व बैंक उसे इस आशय का प्रमाण-पत्र न दे दे कि आयोजित एकीकरण जमाकर्त्ताओं के हित में घातक नहीं होगा।*

उक्त प्रतिबन्धों के अतिरिक्त धारा ८ के अनुसार कोई भी बैंक माल के क्रय-विक्रय का व्यवसाय अपने लिए अथवा औरों के लिए नहीं कर सकता। कोई भी बैंक धारा १० के अनुसार प्रबन्ध-एजेन्ट नियुक्त नहीं कर सकता और न अन्य कोई ऐसा व्यक्ति ही नियुक्त कर सकता है जो पागल हो, दिवालिया हो या जिसने कभी किसी भी अपराध में दण्ड पाया हो। बैंक का प्रबन्ध ऐसे प्रबन्धकों तथा संचालकों द्वारा नहीं किया जा सकता जो किसी अन्य कम्पनी के संचालक हों, जो कोई अन्य व्यवसाय करते हों या जो कम्पनी का प्रबन्ध करने के लिए पाच साल से अधिक अवधि का सम्मेल करें अथवा जो कम्पनी के लाभ में से कमीशन लेते हो। नया बैंक रिजर्व बैंक से अनुज्ञा-पत्र लिए बिना व्यवसाय आरम्भ नहीं कर सकता तथा पुराने बैंकों को ६ मास के अन्दर अनुज्ञा-पत्र प्राप्त कर लेना अनिवार्य होता है। कोई भी बैंक अपने नाम के पीछे बैंक, बैंकर तथा बैंकिंग शब्द लगाए बिना व्यवसाय नहीं कर सकता।

कानून के अन्तर्गत रिजर्व बैंक के अधिकार

बैंकिंग कानून ने रिजर्व बैंक को देश की बैंकिंग व्यवस्था का नियंत्रण

---

*रिजर्व बैंक को बैंकों की एकीकरण योजना सम्बन्धी अन्तिम निर्णय देने का अधिकार दे दिया गया है तथा यह निर्णय सम्बन्धित बैंकों को पालन करना अनिवार्य है।

[बैंकिंग कम्पनी (संशोधन) कानून १९५० नई धारा (४४अ)]

इस संशोधन के द्वारा निर्बल बैंकों का एकीकरण सुविधाजनक बना दिया गया है। इस कार्य के लिए अब न्यायालय पर जाना अनिवार्य नहीं है।

तथा संगठन करने की दृष्टि से अनेक विशेषाधिकार दिए हैं जो इस प्रकार हैं :—

धारा १८ के अनुसार रिजर्व बैंक देश के सभी बैंकों की माग-देनदारी का ५% तथा काल-देनदारी का २% अपने कोष में जमा रख सकता है। प्रत्येक बैंक को इस आशय का एक विवरण रिजर्व बैङ्क के कार्यालय में प्रत्येक माह के अन्तिम शुक्रवार को भेज देना आवश्यक होगा।

धारा २१ में रिजर्व बैंक को अधिकार दिया गया है कि वह किसी समय भी बैङ्कों को ऋण देने से रोक सकता है। जिस समय बैङ्क को यह ज्ञात हो जाय कि देश के बैंकों को ऋण देने की नीति देश के हित में नहीं है तो रिजर्व बैंक एक नीति निर्धारित करेगा जो सभी बैंकों का पालन करनी होगी। उस समय रिजर्व बैंक किसी भी बैंक को आदेश दे सकता है कि अमुक उद्देश्यों के लिए ही ऋण दिया जाय या अमुक व्याज-दर ही वसूल की जाय। यह आदेश बैङ्कों को पालन करने होंगे।

धारा २२ (२) में रिजर्व बैंक को अनुज्ञा-पत्र जारी करने का महत्व-पूर्ण अधिकार मिलता है। कोई भी बैंक तब तक व्यवसाय नहीं कर सकता जब तक कि वह रिजर्व बैंक से अनुज्ञा-पत्र न प्राप्त कर ले। पुराने बैंकों को एक्ट लागू होने की तिथि से ६ माह समाप्त होने तक अनुज्ञा-पत्र प्राप्त कर लेना होगा तथा नए बैङ्कों को व्यवसाय आरम्भ करने से पहिले ही अनुज्ञा-पत्र प्राप्त कर लेना अनिवार्य है। अनुज्ञा-पत्र देने से पहिले बैंक निम्न बातों पर विचार करेगा :—

(१) उस बैंक की पुस्तकों का निरीक्षण करके यह पता लगाया जायगा कि वह बैंक, यदि आवश्यकता हो तो, अपनी सभी जमा-राशि का भुगतान करने की सामर्थ रखता है या नहीं (जून १९५२ तक १६८ बैंकों का निरीक्षण किया गया);

(२) उस बैंक की कार्य-प्रणाली जमा करनेवालों के हितों की अव-हेलना तो नहीं कर रही है।

धारा २२ (४) में रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार मिला है कि यदि कोई बैंक धारा २२ (२) की (१) व (२) उप-धाराओं के अनुसार रिजर्व बैंक का सन्तुष्ट न कर सके तो रिजर्व बैंक उस बैंक का अनुज्ञा-पत्र रद्द कर सकता है।

धारा २३ में रिजर्व बैंक को यह अधिकार है कि वह देश में बैंकों की संख्या तथा बैंकों के कार्यालयों के विषय में सतर्क रहे। कोई भी बैंक रिजर्व बैंक की स्वीकृति के बिना नया कार्यालय स्थापित नहीं कर सकता। इस स्वीकृति के देने के पहिले रिजर्व बैंक एक्ट की धारा ३५ के अनुसार उस बैंक का निरीक्षण करके यह पता लगायगा कि उस बैंक का पुराना इतिहास, आर्थिक स्थिति तथा जमा-राशि सन्तोषजनक है या नहीं। रिजर्व बैंक को उस समय यह ज्ञात करने की आवश्यकता होती है कि नया कार्यालय खोलने से उस बैंक की आर्थिक स्थिति, पूंजी तथा बैंक के साधनों में कोई हानि तो नहीं होगी और जनता के हितों को खतरा तो नहीं है।

धारा ३५ के अनुसार रिजर्व बैङ्क अपनी खुशी से अथवा केन्द्रीय सरकार के आदेशानुसार किसी भी बैङ्क की लेखा-पुस्तकों व अन्य विवरणों का किसी समय भी निरीक्षण कर सकता है परन्तु निरीक्षण करने के पश्चात् उसकी रिपोर्ट उस बैंक को देनी होगी। ऐसे बैंक के, जिसका निरीक्षण किया जा रहा है, प्रबन्धकों तथा संचालकों का यह कर्तव्य होगा कि वे रिजर्व बैंक के निरीक्षण की मांग पर सभी प्रकार के हिसाब-किताब पेश करें। इस धारा के अनुसार रिजर्व बैंक को देश के किसी बैंक का निरीक्षण करने से यदि सन्तोष न हो तो वह केन्द्रीय सरकार के आदेश से उसे बन्द करने की आज्ञा भी दे सकता है [धारा ३५ (४) (ब)]। जून १९५२ तक ८३ बैंकों का निरीक्षण किया गया।

धारा ३६ में रिजर्व बैंक की विशेष क्रियाओं तथा विशेष अधिकारों का ही वर्णन है। रिजर्व बैंक इस धारा के अनुसार—

(१) किसी भी बैंक को या सभी बैंकिंग कम्पनियों को कोई विशेष प्रकार

का लेनदेन करने से रोक सकता है, या अन्य किसी प्रकार की सलाह दे सकता है;

(२) धारा ८५ के अनुसार होनेवाले किसी भी एकीकरण क्रिया (Amalgamation) में मध्यस्त बनकर सहायता कर सकता है (जून १९५७ तक २५ बैंकों का निरीक्षण किया गया),

(३) रिजर्व बैंक एक्ट की धारा १५ (३) के अन्तर्गत किसी भी बैंकिंग कम्पनी को ऋण देकर सहायता कर सकता है;

(४) इस एक्ट की धारा ३५ के अन्तर्गत किसी भी बैंक का निरीक्षण करके उस बैंक को आदेश दे सकता है—

(क) उस बैंक के सचालक निरीक्षण-रिपोर्ट पर विचार के लिए एक बैठक करें,

(ख) निरीक्षण-रिपोर्ट में दिए गए सुझावों का निश्चित समय तक पालन किया जाय;

(५) बैंकिंग कम्पनियों के विलयन सम्बन्धी अधिकार भी रिजर्व बैंक को दे दिए गए हैं जिसके अनुसार यदि रिजर्व बैंक धारा ३९ के अन्तर्गत निस्तारक (Official Liquidator) नहीं है तो वह ऐसे निस्तारण सम्बन्धी कोई भी लिखा-पढ़ी का परीक्षण कर सकता है तथा जो चाहे सलाह दे सकता है। इसके अतिरिक्त दोषी व्यक्तियों को दण्डित करने का विशेषाधिकार भी बैंक को दे दिया गया है।

बैंकिंग कम्पनी (संशोधन) कानून १९५०

इन विशेष अधिकारों के अतिरिक्त रिजर्व बैंक को बैंकों से समय-समय पर स्थिति-विवरण तथा अन्य प्रकार की आवश्यक सूचना प्राप्त करने का भी विशेष अधिकार मिला है :—

(१) धारा २० (२) के अन्तर्गत प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को रिजर्व बैंक में एक ऐसा मासिक विवरण भेजना पड़ेगा जिसमें उन सब

ऋणों का वर्णन होगा जो उस कम्पनी ने ऐसी कम्पनियों को दिए हों जिनमें वह बैंकिंग कम्पनी या उसके संचालक किसी प्रकार से भी हिस्सेदार हों।

(२) धारा २४ (३) के अन्तर्गत प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को रिजर्व बैंक में एक ऐसा विवरण भेजना होगा जिसमें धारा २४ (१) के अन्तर्गत लिखी सम्पत्ति तथा माग और काल-देनदारी का वर्णन हो।

(३) धारा २५ (२) के अन्तर्गत प्रत्येक बैंक को रिजर्व बैङ्क में एक ऐसा मासिक विवरण भेजना होगा जिसमें २५ (१) के अन्तर्गत लिखी सम्पत्ति और देनदारी का वर्णन हो।

(४) धारा २६ के अनुसार प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को आवश्यक है कि वह वर्ष समाप्त होने के पश्चात् रिजर्व बैङ्क में एक ऐसा विवरण भेजे जिसमें उन लेखों का वर्णन हो जिनका लेन-देन पिछले दस साल से न हुआ हो।

(५) धारा २७ में रिजर्व बैंक किसी समय भी आवश्यकता होने पर किसी बैंक से किसी भी प्रकार की सूचना मांग सकता है। रिजर्व बैंक इस सूचना को जनता की भलाई के लिए प्रकाशित भी कर सकता है।

(६) यदि किसी प्रकार भी बैंकिंग कम्पनियों की पूंजी तथा कोष के मूल्याकन में कोई गड़बड़ हो तो रिजर्व बैंक का निर्णय अन्तिम निर्णय समझा जायगा।

उपर्युक्त पंक्तियों से ज्ञात होता है कि बैंकिंग एक्ट के द्वारा रिजर्व बैंक को देश के अन्य बैंकों का संचालन करने के लिए भारी शक्ति दे दी गई है—रिजर्व बैंक बैंकों की ऋण-नीति निर्माण करता है, उनको कोई लेन-देन करने से रोक सकता है, किसी भी प्रकार की कोई भी सूचना किसी भी समय मांग सकता है, उनका निरीक्षण कर सकता है तथा किसी भी बैंक

को काम बन्द करने की आज्ञा दे सकता है। रिजर्व बैङ्क के गवर्नर को किसी विशेष समय भी इस एक्ट को ३० दिन के लिए निषिद्ध करने का भी अधिकार है। इस एक्ट के बनने से रिजर्व बैंक को देश के सभी बैंकों पर पूरा-पूरा अधिकार है—इसके द्वारा बड़े-बडे शहरों में बैंक-कार्यालयों की भीड़ न होगी और न बैंक थोड़ी पूंजी से ही व्यवसाय कर सकेंगे। अब बैंक कोई भी ऐसा काम न कर सकेंगे जो जनहित के विरुद्ध हो।

बैंकिंग कानून से लाभ

(१) बैंकिंग कानून बनने से देश के जमाकर्त्ताओं की बैङ्कों की बेईमानी तथा असावधानी से होनेवाली हानि से रक्षा होगी तथा ऐसे बैंकों के विरुद्ध वैधानिक कार्रवाई करके उन्हें दंडित किया जा सकेगा। बैंकों का समाज-सेवा तथा जमाकर्त्ताओं के हित के लिए नियमन तथा नियन्त्रण होता रहेगा।

(२) अभी तक देश के बैंकों पर जो संकट आते रहे हैं और उनके कारण देश की पूंजी की जो अपरिमित हानि होती रही है उसकी इस कानून से रक्षा होगी तथा देश का बैंकिंग कलेवर सुदृढ़ एवं संगठित बनेगा।

बैंकिंग कानून से देश के बैङ्किंग इतिहास में एक नए युग का प्रादुर्भाव हुआ है जिससे देश की बैंकिंग प्रणाली का एक सबसे बड़ा दोष दूर हो गया है।

बैंकिंग कानून के अन्तर्गत बैंकों का संगठन एवं संचालन करने के लिए रिजर्व बैंक को अपरिमित अधिकार दिए गए हैं। देश का अभी तक जो अव्यवस्थित बैंकिंग विकास हो रहा था उसे इस कानून से बल मिलेगा तथा बैंकिंग संकट का भय नहीं रहेगा। रिजर्व बैंक को बैंकों के निरीक्षण सम्बन्धी जो अधिकार दिए गए हैं उनकी वजह से बैंक कोई भी ऐसा काम न कर सकेंगे जो जनहित अथवा जमाकर्त्ताओं के हितों में हानिकारक हों।

प्रश्न

१—बैंकिंग कम्पनीज एक्ट १६४९ ने हमारी बैंकिंग प्रथा को किस प्रकार सुधारने का प्रयत्न किया है ? (यू० पी० १६५४

२—देश के बैंकिंग कलेवर को संगठित करने तथा बैंकों पर नियंत्रण रखने के लिए बैंकिग एक्ट ने रिजर्व बैंक को जो विशेषाधिकार दिए हैं, उनका व्यौरा लिखिए। (राज० १६५२)

३—भारतीय बैंकिंग एक्ट की मुख्य-मुख्य बातों का उल्लेख कीजिए। (राज० १६५१, १६४६)

अध्याय ३३

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाएं

(International Monetary Organizations)

युद्ध के पश्चात् इस बात की आवश्यकता अनुभव होने लगी कि संसार के प्रत्येक देश में वहां के निवासियों का जीवन-स्तर ऊंचा हो और प्रत्येक देश की राष्ट्रीय आय बढ़े। परन्तु यह तभी हो सकता है जबकि संसार के सभी और सभी नहीं तो अधिकांश देश मिलकर काम करें, उनकी आर्थिक एवं मौद्रिक नीतियां एक सी हों तथा उनके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध न हो। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सुविधा के लिए यह आवश्यक है कि उन देशों की मुद्राओं की पारस्परिक विनिमय दर स्थायी रहे और उनमें कोई असाधारण उतार-चढ़ाव न हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए युद्धकाल में ही कई योजनाएं बनाई गई। इंगलैंड ने एक योजना बनाई जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन-संघ बनाने का प्रस्ताव किया गया। दूसरी योजना अमरीका ने बनाई जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय स्थायित्व कोष बनाने का सुझाव दिया गया। ये योजनाएं १९४३ में प्रकाशित की गईं। १९४४ में इंगलैंड और अमरीका ने मिलकर एक सम्मिलित योजना तैयार की जिस पर विचार-विनिमय करने के लिए ब्रेटनवुड्स नामक स्थान पर ४४ देशों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। सम्मेलन में निश्चित किया गया कि सभी देशों के आर्थिक विकास के लिए दो मौद्रिक संस्थाएं बनाई जायं। उनमें से एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष है और दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष

उद्देश्य—(१) संसार भर के देशों में मौद्रिक एकता स्थापित करना तथा

मुद्रा-संबंधी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाना ;

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाने तथा उन्नत करने की सुविधाएं देना जिससे कोष के सभी तटस्थ देश अपने-अपने आर्थिक साधनों का विदोहन करके देशवासियों को भरपूर काम दे सकें ;

(३) सदस्य-देशों की मुद्राओं की पारस्परिक विनिमय-दर का प्रबन्ध करके स्थायी बनाने का प्रयत्न करना ;

(४) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान लेन-देन में सहायता करना तथा किसी भी सदस्य-देश द्वारा लगाए गए विदेशी विनिमय संबंधी नियंत्रणों को दूर करने का प्रयत्न करना जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई अड़चन न हो ;

(५) सदस्य-देशों की भुगतान-विषमताओं को दूर करने के लिए विदेशी-मुद्राएं देकर सदस्य-देशों की सहायता करना ;

(६) शीघ्रातिशीघ्र भुगतान-विषमताओं को दूर करने की चेष्टा करना।

इस प्रकार कोष का एकमात्र उद्देश्य सदस्य-देशों को विदेशी विनिमय संबंधी सुविधाएं देना है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति हो और इसके द्वारा सब देश अपना अधिकाधिक विकास कर सकें। कोष का उद्देश्य युद्धकालीन ऋणों का भुगतान चुकाने में अथवा युद्ध-ध्वसित देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण में सहायता करने का नहीं है।

वे सब देश जिनके प्रतिनिधियों ने सम्मेलन में भाग लिया था और जिन्होंने ३१ दिसम्बर १९४५ से पहिले कोष का सदस्य बनना स्वीकार कर लिया था, कोष के मौलिक सदस्य माने जाते हैं। इसके पश्चात् जो देश सदस्य बनता है वह सामान्य सदस्य कहलाता है। कोई भी सदस्य देश लिखित सूचना देकर कोष से अपना संबंध विच्छेद कर सकता है। यदि कोई सदस्य-देश कोष के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन न करे तो कोष को

अधिकार दिया गया है कि वह उस सदस्य को अलग कर दे। प्रत्येक सदस्य को कोष में कुछ राशि निश्चित कर दी गई है जिसे 'कोटा' (Quota) कहते हैं। प्रत्येक सदस्य-देश को अपने कोटे की राशि कोष में जमा करनी पड़ती है। यह राशि इस भांति जमा करनी होती है :—

(१) कुल 'कोटे' का २५ प्रतिशत या सदस्य-देश के स्वर्ण एवं डॉलर-कोष का १० प्रतिशत—इन दोनों में जो भी कम हो—सोने के रूप में जमा करना पड़ता है।

(२) 'कोटे' का शेष भाग सदस्य-देशों को अपनी-अपनी मुद्राओं या सिक्यूरिटियों में जमा करना होता है।

'कोटे' इस प्रकार निश्चित किए गए हैं :—

अमरीका	...	२,७५,००,००,००० डॉलर
इंगलैंड	....	१,३०,००,००,००० डॉलर
चीन	....	५५,००,००,००० डॉलर
फ्रांस	....	४५,००,००,००० डॉलर
भारत	....	४०,००,००,००० डॉलर
अन्य देश (प्रत्येक)	....	४०,००,००,००० डॉलर से कम

प्रत्येक सदस्य को अपना कोटा बदलवाने का अधिकार है। कोष को भी अधिकार मिला है कि वह पांच वर्ष के बाद सदस्य-देश की अनुमति लेकर उसकी कोटा-राशि में फेर-बदल कर सकता है। कोटे के प्रत्येक देश के स्वर्ण-कोष तथा युद्ध-पूर्व के विदेशी व्यापार को ध्यान में रखकर निश्चित किए गए हैं।

प्रबन्ध एवं संचालन—मुद्रा कोष का प्रबन्ध करने के लिए एक बोर्ड ऑव गवर्नर्स, एक संचालक समिति तथा एक प्रबन्ध-संचालक है। बोर्ड ऑव गवर्नर्स में प्रत्येक-सदस्य द्वारा चुने हुए एक गवर्नर तथा स्थानापन्न-गवर्नर होते हैं जो पांच वर्ष के लिए चुने जाते हैं। परन्तु अवधि समाप्त होने पर इनको फिर चुना जा सकता है। संचालक समिति में १२ संचालक होते

हैं जिनमें ५ उन देशों के होते हैं जिनको अधिक से अधिक 'कोटा'-राशि नियत की गई है, २ अमरीकी गणतंत्र द्वारा चुने हुए होते हैं तथा ५ अन्य दूसरे सदस्य-देशों द्वारा चुने हुए होते हैं। संचालक समिति एक प्रबन्ध-संचालक चुनती है जो कोष के दिन प्रतिदिन के काम की देख भाल करता है। प्रबन्ध-संचालक को मत देने का अधिकार नहीं होता परन्तु आवश्यकता के समय प्रबन्ध-संचालक अपना निर्णायक मत (Casting vote) दे सकता है।

मुद्रा-कोष का प्रधान कार्यालय अमरीका में है। कोष का आधा सोना अमरीका में रक्खा गया है तथा ४०% सोना अन्य बड़े 'कोटा' वाले चार देशों में रक्खा गया है और शेष सोना अन्य देशों में रक्खा गया है।

सभी सदस्य-देशों ने अपनी-अपनी मुद्राओं के सम-मूल्य (Par values) निश्चित किए दिए हैं। ये सम-मूल्य (Par values) या तो सोने के अनुपात में निश्चित किए गए हैं और या अमरीका के डॉलरों के अनुपात में रक्खे गए हैं। जब कोई सदस्य-देश कोष में से विदेशी विनिमय या सोना खरीदता या बेचता है तो उसका मूल्य इन्हीं सम मूल्यों के हिसाब से चुकाया जाता है। इससे सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि मुद्राओं की आपस की विनिमय-दर में कोई उतार-चढ़ाव नहीं होते और दर स्थायी बनी रहती है। सदस्य-देशों की मुद्राओं के इन सम-मूल्यों में परिवर्तन भी किया जा सकता है परन्तु यह परिवर्तन मुद्रा-कोष की सलाह से ही हो सकता है। सम मूल्यों में परिवर्तन करने की निम्न व्यवस्था की गई है :—

(क) कोई भी सदस्य-देश अपनी मुद्रा के सम-मूल्यों में १०% तक की फेर-बदल बिना कोष की सलाह से भी कर सकता है।

(ख) यदि इससे अधिक फेर-बदल करनी हो तो उसके लिए कोष से आज्ञा लेने की आवश्यकता होती है। कोष को इस विषय में अपना निर्णय ७२ घंटे के अन्दर दे देना पड़ता है।

(ग) मुद्राओं के सम-मूल्यों में परिवर्तन तभी किया जा सकता है जबकि

भुगतान-विषमता व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अड़चनों को दूर करने के लिए उसकी आवश्यकता हो।

(घ) कोष की सलाह के बिना सम-मूल्य परिवर्तन करनेवाले सदस्य-देश को दण्ड देना पड़ता है।

इस प्रकार सदस्य देशों की मुद्राओं की विनिमय-दर सोने या डॉलरों के आधार पर निश्चित की गई है। सोना ही एक प्रकार से इन देशों की मुद्राओं के मूल्य का माप-दण्ड (measuring rod) है; अर्थात् सभी मुद्राओं के मूल्य सोने पर आश्रित हैं।

सदस्य-देश मुद्रा-कोष से लेन-देन का काम अपने-अपने केन्द्रीय बैंकों, राज्य-कोषों तथा अन्य ऐसी ही संस्थाओं द्वारा करते हैं। कोई भी सदस्य देश अपनी मुद्रा या सोना देकर बदले में कोष से दूसरे देश की मुद्रा खरीद सकता है परन्तु कोष विदेशी मुद्रा तभी बेचता है जबकि—

(१) कोष को यह विश्वास हो जाय कि खरीदने वाले देश को उसकी वास्तव में आवश्यकता है और वह उसे कोष के आदर्शों की पूर्ति करने में लगाएगा;

(२) कोष के पास उस विदेशी मुद्रा की कमी न हो।

कोई भी सदस्य-देश एक वर्ष (बारह महीने) में अपने 'कोटा' के २५% से अधिक राशि की विदेशी मुद्रा कोष से नहीं खरीद सकता तथा वह कुल मिलाकर अपने 'कोटा' के २००% से अधिक राशि की विदेशी मुद्रा कोष से नहीं खरीद सकता।

कोष से ली हुई राशि कोष के उद्देश्यों को छोड़ अन्य किसी काम में नहीं लगाई जा सकती। केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सुविधा के लिए या विनिमय-दर स्थायी बनाने के लिए ही कोष की राशि काम में लाई जा सकती है।

यदि किसी समय कोष में किसी भी सदस्य-देश की मुद्रा की कमी हो जाय तो कोष उस मुद्रा को 'दुर्लभ मुद्रा' (Scarce Currency) घोषित

कर सकता है। ऐसा करते समय यह आवश्यक है कि कोष एक रिपोर्ट तैयार करे और सभी सदस्य-देशों को सूचित कर दे कि अमुक मुद्रा अमुक कारणों से 'दुर्लभ मुद्रा' घोषित कर दी गई है। दुर्लभ मुद्रा घोषित करने के बाद कोष का यह कर्तव्य है कि वह उस मुद्रा को प्राप्त करके पूर्ति करने की कोशिश करे। इसके लिए चाहे तो कोष उस सदस्य-देश से, जिसकी मुद्रा 'दुर्लभ मुद्रा' घोषित की गई है, सोना देकर उसकी मुद्रा खरीद ले और चाहे उससे उधार ले ले। और यदि ऐसा संभव न हो तो अन्य किसी सदस्य-देश से सोने के बदले में 'दुर्लभ मुद्रा' खरीदकर उसकी पूर्ति कर ले जिससे उस मुद्रा की कमी दूर हो जाय।

मुद्रा-कोष के उद्देश्यो और आदर्शों की पूर्ति के लिए सदस्य-देशो पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए गए हैं कि—

(१) वे मुद्रा के लेन-देन पर कोई प्रतिबन्ध और रोक-थाम न लगावें।

(२) वे मुद्रा-संबंधी नीति में किसी प्रकार का पक्षपात न करें;

(३) वे कोष के आदेशों का पालन करें तथा जो कुछ भी सूचना कोष के अधिकारी मांगें उसे तुरन्त कोष को भेजते रहें;

(४) वे सम-मूल्य से अधिक या कम दर पर सोना न खरीदें और न बेचें।

परन्तु कोष ने संक्रांति काल (Transitional Period) में विदेशी विनिमय के लेन-देन पर नियंत्रण लगाने की स्वीकृति दे रक्खी है। कोष बनते समय व्यवस्था की गई थी कि कोष बनने के पांच वर्ष तक सदस्य-देश विदेशी विनिमय पर रोक-थाम लगा सकते हैं परन्तु इसके पश्चात् रोक-थाम लगाने के लिए कोष से आज्ञा लेना अनिवार्य होगा। यदि कोई सदस्य-देश कोष बनने के पांच वर्ष के बाद भी कोष की आज्ञा के बिना विदेशी विनिमय पर नियंत्रण लगायेगा तो कोष को अधिकार होगा कि वह उस सदस्य-देश को कोष में से निकाल दे। कोष ने उक्त अवधि समाप्त होने पर भी सदस्य-देशों को विनिमय-नियंत्रण लगा देने की स्वीकृति दे रखी है। पर कोष प्रयत्नशील है कि यथा शीघ्र इस प्रकार के प्रतिबन्ध समाप्त हों जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का स्वतंत्र वहन हो सके। आज की परिस्थिति में विनि-

मय-नियन्त्रण अनिवार्य समझकर कोष ने ऐसा किया है। इसी व्यवस्था के अनुसार भारत सरकार ने अभी तक विनिमय-संचालन का काम रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया को सौंप रक्खा है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का महत्त्व

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के उद्देश्यों तथा क्रिया-प्रणाली का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि कोष का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को उन्नत करना है। कोष का यह उद्देश्य सराहनीय है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उन्नत होने से संसार के भिन्न-भिन्न देशवासियों को भरपूर काम मिल सकता है और तभी उनका रहन-सहन का स्तर भी ऊंचा हो सकता है। अगर युद्ध-ध्वंसित देशों को आर्थिक उन्नति करनी है तो यह आवश्यक है कि उनके वैदेशिक व्यापार को उन्नत बनाया जाय क्योंकि तभी संसार के करोड़ों नर-नारियों को रोटी-कपड़ा मिल सकता है। यही सब कुछ करने के लिए मुद्रा-कोष प्रयत्नशील है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एक ऐसी संस्था है जिसके द्वारा संसार भर की मुद्राओं की विनिमय-दरों को स्थायी रखने का प्रयत्न किया जा रहा है जिससे संसार के सभी देश आर्थिक उन्नति कर सकें। यह एक ऐसा साधन है जिसमें संसार के अनेक देशों की मुद्राएं जमा रक्खी गई हैं जिससे देनदार देश अपने लेनदार देश की मुद्रा खरीदकर उसका भुगतान चुका सके। इसके द्वारा भुगतान चुकाने वाले देशों को सुविधा हो गई है क्यों कि अब उन्हें विदेशी मुद्रा में भुगतान चुकाने के लिए इधर-उधर नहीं भटकना पड़ता। कोष का काम विदेशी मुद्राएं उधार देना नहीं है वरन् विदेशी मुद्राएं बेचना है। विदेशी मुद्रा बेचकर कोष सदस्य-देशों की आवश्यकता पूर्ण करता है जिससे वे अपनी कठिनाइयों का सरलता से सामना कर सकें। अब कोष के बन जाने से संसार के देशों को अधिक समय तक विदेशी विनिमय पर नियंत्रण लगाने की आवश्यकता नहीं होगी क्योंकि उनकी आवश्यकताएं अब कोष के द्वारा पूरी हो जाया करेंगी।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एक प्रकार का ऐसा व्यापारी है जो विदेशी मुद्राओं की खरीद-बेच करता है परन्तु अपने लाभ के लिए नहीं वरन् खरीदने और बेचनेवाले देशों की भलाई के लिए। कोष सदस्य-देशों की मुद्राओं के सम-मूल्य को स्थिर रखने का एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा संसार भर की मुद्राओं की विनिमय-दर स्थाई बनाई जा सकती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई कठिनाई न हो।

मुद्रा-कोष ने सोने को एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। प्रत्येक सदस्य-देश ने अपनी-अपनी मुद्रा का सम-मूल्य (Par value) सोने में व्यक्त किया है। इससे सोना सब देशों की मुद्राओं का माप-यंत्र बन गया है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि संसार में वही स्वर्ण-प्रमाप (Gold Standard) आ गया हो जो १६३१ से पहिले अनेक देशों में था। हां, इतना अवश्य है कि कोष का उद्देश्य वही है जो स्वर्ण-प्रमाप का होता है; जैसे (१) संसार की मुद्राओं के बीच आपस की अदल-बदल की सुविधा देना; (२) मुद्राओं के मूल्यों में स्थिरता लाना। इस प्रकार, कोष और स्वर्ण-प्रमाप के उद्देश्य एक ही से हैं परन्तु इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के साधन भिन्न-भिन्न हैं। स्वर्ण-प्रमाप किसी और प्रकार से इन उद्देश्यों की पूर्ति करता रहा था और कोष किसी और प्रकार से इन उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहता है। अतः यह कह सकते हैं कि कोष ने एक विशेष प्रकार का 'स्वर्ण-प्रमाप' संसार को दिया है जिसके अन्तर्गत सोना मुद्राओं का 'मूल्य-मापक' है परन्तु सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते हैं।

कोष के मौद्रिक साधन एवं गतिविधि

३० जून १६५३ को कोष में जमा मुद्राओं का मूल्य, जिनमें ब्याजरहित सिक्यूरिटियां तथा नोट भी सम्मिलित थे, ५,६७४ मि० डॉलर था। इसमें से, १,३२८ मि० के अमेरिकन डॉलर थे। अन्य मुद्राओं में, जो कोष के पास थीं, कनेडियन डॉलर भी उल्लेखनीय हैं जो २२५ मि० अमेरिकन डॉलर के बराबर थे। कोष ने उक्त तिथि को १,६६३ मि० डॉलर के बराबर मूल्य का सोना जमा था।

१९५२-५३ में पांच सदस्य-देशों ने कोष से ६५ मि० डॉलर के मूल्य की मुद्राएं खरीदीं। पेरेग्वे ने ०.९ मि० डॉलर, टर्की ने १० मि० डॉलर, आस्ट्रेलिया ने ३० मि० डॉलर, फिनलैंड ने ६.५ मि० डॉलर और ब्राजील ने १८८ मि० डॉलर खरीदे।

इसके अतिरिक्त इसी वर्ष सात सदस्य-देशों ने सोने और डॉलर के बदले में १८५ मि० डॉलर के बराबर अपनी-अपनी मुद्राओं का पुनः क्रय किया।

१९५२ के अक्तूबर मास में कोष ने एक नवीन योजना आरम्भ की जिसके अनुसार कोई भी सदस्य-देश ६ महीने अथवा कोष की स्वीकृति पर इससे अधिक अवधि के लिए अस्थायी रूप से मुद्रा का क्रय-विक्रय कर सकता था। योजना के अनुसार सदस्य-देश को अपने 'कोटा' के एक-चौथाई से अधिक मूल्य की मुद्राए क्रय करने का अधिकार नहीं था। इस योजना का उद्देश्य यह था कि सदस्य-देश अपने भुगतान-संतुलन के क्रम में चालू लेन-देन में विषमता आने पर अल्पकाल के लिए कोष के साधनों से लाभ उठा सकें। इस योजना के अन्तर्गत जनवरी १९५३ में फिनलैंड ने २ मि० डॉलर का क्रय किया। इससे पहिले बेल्जियम भी ५० मि० डॉलर इस योजना के अनुसार कोष से क्रय कर चुका था। पर उस समय कोष ने इस योजना को स्थायी रूप से स्वीकार नहीं किया था। अब यह योजना कोष की सामान्य नीति का एक अंग बना ली गई है।

भारत और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष

जिस समय मुद्रा-कोष की योजना पर ब्रेटनवुड्स नामक स्थान पर विचार हो रहा था तो भारत भी उसमें सम्मिलित था। भारत के प्रतिनिधि मंडल में निम्न व्यक्ति थे:—सर जैरमी रइसमन—वित्त-सदस्य, सर चिन्तामणि द्वारकादास देशमुख, सर थियोडोर ग्रेगरी, सर षण्मुखम् चेट्टी, ए० डी० श्राफ तथा बी० के० मदन। प्रतिनिधि मंडल ने ब्रेटनवुड्स कान्फ्रेंस में ही इस योजना को मान लिया और इसके बाद भारत सरकार ने भी इसे

स्वीकार कर लिया तथा रुपये का सम-मूल्य भी घोषित कर दिया। भारत ने रुपये का सम-मूल्य ३.८५२ रु० प्रति डॉलर अथवा ०.२६८६०१ ग्राम स्वर्ण प्रति रुपया निश्चित किया।* इस प्रकार भारत मुद्रा कोष का 'मौलिक सदस्य' बना रहा। मुद्रा-कोष में रूस के सम्मिलित न होने के कारण भारत अब पांच बड़े-बड़े सदस्यों में गिना जाता है क्योंकि इसका 'कोटा' (Quota) चार देशों को छोड़कर सबसे अधिक है। भारत को मुद्रा-कोष में सम्मिलित होने से निम्न लाभ हैं :—

(१) भारत को मुद्रा-कोष से आवश्यक मात्रा में विदेशी मुद्राएं मिलती रही हैं और रहेंगी, जिनकी भारत को विदेशों से पूंजीगत-माल आयात करने के लिए आवश्यकता होगी। मार्च १६४८ से मार्च १६४६ तक भारत ने कोष से लगभग ६,२०,००,००० डॉलर लिए थे जो भुगतान-सन्तुलन के काम आए।

(२) कोष के द्वारा उन देशों को जो स्टर्लिंग-क्षेत्र में नहीं हैं भारत की मुद्रा मिलती रहेगी जिससे वे देश भारत से व्यापार बढ़ाते रहेंगे और भारत का माल उन देशों में निर्यात होता रहेगा।

(३) मुद्रा-कोष का 'मौलिक' सदस्य बनने से भारत कोष के नीति-निर्माण में हाथ बंटा रहा है और बंटा सकेगा जिससे उसकी ख्याति बढ़ेगी।

इन उद्देश्यों को लेकर भारत मुद्रा-कोष का सदस्य बन गया और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति के लिए भारत ने प्रयत्न भी किए हैं। भारत ने कोष से कुल मिलाकर कोई १०,००,००,००० डॉलर लिए हैं। इसके ब्याज में १६५०-५१ में ३८ लाख रुपये कोष को चुकाए गए और १६५१-५२ में ५५ लाख रुपये चुकते किए।

---

*अब रुपये के डॉलर मूल्य में कमी हो जाने के कारण रुपये का सम-मूल्य १ रु० = २१ सेन्ट = ०·१८६६२१ ग्राम स्वर्ण रह गया है। इस दर से सोने का मूल्य १६६·६६७ रुपये प्रति औंस है। यह परिवर्तन सितम्बर १६४६ से हुआ है जब कि रुपये का अवमूल्यन कर दिया था।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् युद्ध-ध्वंसित देशों के पुनःसंगठन तथा अवनत देशों की आर्थिक उन्नति के लिए यह आवश्यक हो गया कि संसार के सभी राष्ट्रों में पारस्परिक मौद्रिक सहयोग हो जिसमें एक देश दूसरे देश को पूंजी तथा पूंजीगत माल देकर सहायता कर सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक बनाने की योजना स्वीकार की गई।

उद्देश्य—(१) सदस्य-देशों की आर्थिक उन्नति के लिए उत्पादन बढ़ाने में पूंजी का प्रबन्ध करना, युद्ध में बिगड़े हुए देशों के आर्थिक कलेवर को उन्नत बनाने की सुविधाएं देना तथा पिछड़े हुए देशों में उत्पादन के साधनों को बढ़ाने में सहायता करना।

(२) उत्पादन बढ़ाने के उद्देश्य से सदस्य देशों को अपनी पूंजी तथा कोष में से राशि उधार देना; एक देश के पूंजीपतियों को दूसरे देशों में पूंजी लगाने के लिए उत्साहित करना तथा उनके द्वारा दिए गए ऋणों की गारंटी करना।

(३) दीर्घकालीन ऋण देना तथा ऐसे ऋण देने के लिए पूंजीपतियों या देशों की सरकारों को प्रोत्साहित करना जिससे उत्पादन बढ़ाने में सहायता मिल सके और लोगों का रहन-सहन ऊंचा हो।

(४) सदस्य-देशों के बीच आपस में पूंजी का लेन-देन बढ़ाना जिससे पूंजी का अधिक से अधिक उपयोग हो सके और अधिक उपयोगी तथा आवश्यक योजनाएं सबसे पहले पूर्ण की जा सकें।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन का इस प्रकार प्रबन्ध करना कि युद्धकालीन असाधारण परिस्थिति शीघ्र ही समाप्त हो जाय और सभी देश एक दूसरे की सहायता से उन्नत हो जायं।

बैंक का प्रधान उद्देश्य सदस्य-देशों की आर्थिक उन्नति करना है। इसके लिए बैंक एक देश के पूंजीपतियों को दूसरे देशों में पूंजी विनियोग करने के लिए प्रोत्साहित करता है। यदि कोई सदस्य-देश इस प्रकार की पूंजी

प्राप्त न कर सके तो बैंक अपनी पूंजी तथा कोषमें से सदस्य देशों को राशि उधार देता है

बैंक की पूंजी

बैंक की अधिकृत पूंजी १०,००,००,००,००० डालर है। इसमें से ६,१०,००,००,००० डालर उन देशों के लिए निश्चित किए गए थे जो ब्रेटन-वुड्स सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे और जिन्होंने उसी समय बैंक का सदस्य बनना स्वीकार कर लिया था। शेष पूंजी आगे बननेवाले सदस्यों को निश्चित कर दी गई थी। पूंजी को १०,००० डालर के १०,००० अंशों में बांट लिया गया है। बैंक की पूंजी में सदस्य-देशों के अंश निश्चित कर दिए गए हैं जिन्हें 'कोटा' कहते हैं। इस समय बैंक में कुल मिलाकर ५४ देश सदस्य हैं। जर्मनी, जापान तथा जारडन १६५२-५३ में ही सदस्य बनाये गये हैं। रूस और पोलैंड इसके सदस्य नहीं हैं। ३० जून १६५३ को बैंक की प्रार्थित पूंजी ६,०३६ मि० डालर थी।

प्रत्येक सदस्य-देश को अपने 'कोटे' का २% भाग बैंक में जमा करना पड़ता है जिसमें २% सोने में तथा १८% सदस्य-देश की अपनी मुद्रा में जमा करना होता है। 'कोटे' का शेष भाग उस समय लिये जाने की व्यवस्था है जब कि बैंक को उसकी आवश्यकता हो।

प्रबन्ध तथा संचालन—बैंक के संचालन के लिए 'बोर्ड ऑव गवर्नर्स', कार्य-संचालक एवं कर्मचारी वर्ग हैं। बोर्ड ऑव गवर्नर्स में प्रत्येक सदस्य-देश द्वारा भेजा हुआ एक सदस्य और एक स्थानापन्न सदस्य (Alternate member) होते हैं। इस बोर्ड की वर्ष में एक बैठक होती है। बैंक के प्रबन्ध के लिए १२ कार्य-संचालक हैं। इनमें से पांच उन सदस्य-देशों के हैं जिनको बैंक की पूंजी में बड़ी-बड़ी राशि के 'कोटे' दिए गए हैं तथा सात दूसरे सदस्य-देशों द्वारा नियुक्त किए गए हैं। बैंक का प्रधान कार्यालय अमरीका में है।

ऋण देने की शर्तें—बैंक सदस्य-देशों को निम्न शर्तों पर ऋण देता है :—

(१) जब कि उधार मागनेवाले सदस्य-देश को अन्य किसी प्रकार से उचित शर्तों पर ऋण प्राप्त न हो सके, (२) जब कि ऋण मागनेवाले सदस्य-देश की सरकार उस ऋण की गारंटी करे, (३) जब कि ऋण लेने वाले सदस्य-देश उसे उसी काम में लगाए जिन कार्यों के लिए ऋण दिया गया है।

बैंक केवल आर्थिक पुनर्सङ्गठन तथा विकास की योजनाओं के लिए ही ऋण देता है। ऋण लेने से पहिले सदस्य-देश को ऐसी याजनाओं की एक सूची बैंक के पास भेजनी पड़ती है। ऋण देने से पहिले बैंक इस बात की पूरी-पूरी छानबीन कर लेता है कि ऋण लेनेवाला सदस्य-देश ऋण को वापिस भुगतान चुका सकेगा या नहीं। ऋण देने से पहिले बैंक ऋण चाहनेवाले सदस्य-देश की आर्थिक योजनाओं का भली-भाति निरीक्षण कर लेता है। इस काम के लिए वह केवल कागजी कार्यवाही से ही संतुष्ट नहीं होता वरन् अपने प्रतिनिधि भेजकर उन योजनाओं की भली-भांति जाच-पड़ताल करा लेता है। ऋण देने के बाद भी बैंक समय-समय पर इस बात की जाच करता रहता है कि जिस काम को ऋण दिया है वह उसी काम में लगाया जा रहा है या नहीं। श्री होर ने, जो बैङ्क के उपाध्यक्ष थे, अपने व्याख्यान में बतलाया था कि कोई भी ऋण किसी सदस्य-देश को तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक कि (१) उस योजना की जिसके लिए ऋण लिया जा रहा है, ऋण लेनेवाले सदस्य देश के आर्थिक निर्माण की कठिन आवश्यकता ही न हो, (२) वह योजना निश्चित समय में पूर्ण हो जाने योग्य न हो, (३) उस योजना पर विशेषज्ञों की सम्मति न ले ली गई हो। श्री होर ने भारत आकर इस बात को स्पष्ट किया कि "बैंक अधिक उपयोगी तथा अति आवश्यक योजनाओं पर ही सबसे पहिले विचार करता है और यह भी देखता है कि ऋण लेनेवाला सदस्य-देश ऋण लेकर निश्चित समय के पश्चात् उसे लौटा भी सकेगा या नहीं।"

बैंक की गतिविधि

बैंक ने अपने अब तक के जीवन में अनेक देशों को सहायता दी है— अपनी पूंजी में से ऋण दिए हैं तथा अन्य ऋणों की गारंटी भी की है। इन ऋणों की सहायता से उन सभी देशों में आर्थिक विकास का काम चल रहा है। ३० जून १९५३ तक बैंक ने २६ देशों को १,५६१ मि० डॉलर के मूल्य के ऋण स्वीकृत किए. इसमें से ३१ मि० डॉलर के ऋण या तो चुका दिए गए और या रद्द करा दिए गए। १९५२-५३ में बैंक ने ९ देशों को १० ऋण स्वीकृत किए। गत तीन वर्षों में स्वीकृत ऋणों का ब्यौरा इस प्रकार है :—

	१९५२-५३	१९५१-५२	१९५०-५१
ऋणों की संख्या	१०	१९	२१
ऋण लेनेवाले सदस्य देशों की संख्या	९	१६	११
	(मिलियन डालरों में व्यक्त)		
स्वीकृत ऋण-राशि (वर्ष में)	१७८.६	२९८.६	२९७.१
स्वीकृत ऋणों की कुल राशि	१,५६१	१,४१२	१,११४

ऋण देने में बैंक ने बड़ी उदार नीति से काम लिया है। पर उक्त तालिका में ऋणों की संख्या तथा स्वीकृत ऋण-राशि देखकर पाठकों को भ्रम हो सकता है कि बैंक ऋण देना कम करता जा रहा है। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। अन्य दो वर्षों की अपेक्षा गत वर्ष ऋण-राशि कम देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि बैंक ऋण देने से अथवा सदस्य-देशों की सहायता करने से हाथ खींच रहा हो। अन्य वर्षों की अपेक्षा गत वर्ष कम ऋण-राशि स्वीकृत करने के दो कारण रहे हैं—

(१) युद्धोत्तर काल में युद्ध-ध्वंसित कुछ देशों ने अपना आर्थिक कलेवर संभाल लिया है जिससे उन्हें बैंक से ऋण लेने की अब आवश्यकता कम हो चली है।

(२) कुछ देशों में विकास योजनाएं, जिनके लिए आरंभ में बैंक ने

ऋण दिए थे, समाप्त हो गई हैं या होनेवाली हैं—अतः उन्हें अधिक ऋण लेने की अब आवश्यकता नहीं रही है। हां, कुछ नई योजनाएं अवश्य हैं पर उनकी जांच-पड़ताल करने के बैंक को अभी समय लगेगा। अतः ऋण-राशि शनैः शनैः कम होती जा रही है।

बैंक ने अब तक यद्यपि १,५६१ मि० डॉलर के ऋण स्वीकृत किए हैं पर केवल १,१०३ मि० डालर की राशि ऋण-याचकों को दी गई है। जैसे-जैसे ऋण लेने वाले सदस्य-देशों को राशि की आवश्यकता होती है वे बैंक से राशि लेते जाते हैं। बैंक द्वारा दी गई ऋण-राशि का ब्यौरा इस प्रकार है :—

(मिलियन डालरों में)

	१९५२-५३	१९५१-५२	१९५०-५१
वर्ष में दी गई ऋण-राशि	२२६.८	१८४.८	७७.६
दी गई कुल ऋण-राशि	१,१०३	८७६.१	६९१.७

उक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि गत तीन वर्षों में गत वर्ष दी गई ऋण-राशि सबसे अधिक है। यही नहीं, बैंक के जीवन-काल में इतनी अधिक राशि का भुगतान बैंक ने पहले नहीं किया। इससे सिद्ध होता है कि बैंक किस द्रुतगति से ऋण देने में सहयोग कर रहा है। गत वर्ष बैंक द्वारा दी गई ऋण-राशि अधिकतर अमेरिका से बाहर व्यय की गई है। यह बैंक द्वारा स्वीकृत ऋणों की विशेषता है। अब तक दी गई कुल ऋण-राशि अर्थात् १,१०३ मि० डॉलर में से १०१४.५ मि० डॉलर का भुगतान अमरीकी डालरों में होना है। इससे ज्ञात होता है कि सदस्य देशों ने अधिकांश ऋण अमरीकी डालरों में लिये हुए हैं। बैंक के स्वीकृत ऋणों में से जो राशि याचकों को वास्तव में दी गई है उसका वितरण इस प्रकार है—

	३० जून १९५३ तक दी गई कुल ऋण-राशि (मिलियन डॉलरों में)
संयुक्त राज्य	७७०.३
केनेडा	७१.४
योरप	१९३.२
लेटिन अमेरिका	६१.०
अफ्रीका	४.३
समीपी पूर्वी गोलार्द्ध	२.५
दूरवर्ती पूर्वी गोलार्द्ध	०.६
	११०३.०

इससे ज्ञात होता है कि बैंक ने संसार के सभी भागों में ऋण देकर आर्थिक विकास की कामना की है। बैंक ने उन सभी कार्यों के लिए ऋण दिए हैं जो ऋण याचक देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक हैं। इस दृष्टि से कृषि, यातायात, विद्युत्-शक्ति, उद्योग तथा बहुमुखी विकास—सभी क्षेत्रों में पूंजी लगाई गई है।

ऋण देने के अतिरिक्त बैंक सदस्य-देशों में अपने विशेषज्ञ भेज कर वहां की आर्थिक योजनाओं की जांच-पड़ताल भी करता है और फिर उसके परिणाम वहां की सरकारों को सूचनार्थ भेजता है ताकि प्रत्येक सदस्य-देश को अपने-अपने आर्थिक साधनों का ज्ञान हो सके। ३० जून १९५३ तक बैंक ने १० देशों में अपने विशेषज्ञ भेजकर जांच-पड़ताल करवाई। हमारे देश में बैंक के विशेषज्ञों ने हमारी नदी घाटी योजनाओं का अध्ययन करके समय-समय पर महत्वपूर्ण सम्मति दी है। इसी प्रकार मैक्सिको और चिली में बैंक के विशेषज्ञों ने बड़ा उपयोगी काम किया है।

बैंक ने पौंड स्टर्लिंग डॉलर तथा अन्य मुद्राएं प्राप्त की हैं ताकि यह सदस्य

देशों की भरपूर सहायता कर सके। १०,००,०० ००० डॉलर के बांड सितंबर १९५१ मे तथा ५,००,००,००० डॉलर के बांड मई १९५२ मे अमेरिका में बेच कर डॉलर प्राप्त किए। बैंक ने अमेरिका से बाहर भी अपने बांड बेचे हैं। जुलाई १९५१ में ११.६ मि० डॉलर के मूल्य के बांड स्विजरलैंड में बेचे तथा १९५२ में १५,००,००,००० कैनेडियन डॉलर की सिक्यूरिटिया कैनेडा मे बेची गई। जून १९५२ के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा मंडी की स्थिति अनुकूल न होते हुए भी बैंक ने गत वर्ष ७१.६ मि० डॉलर के बांड और बेचे। अक्तूबर १९५२ में बैंक ने ६० मि० डॉलर के ३½% वाले १९-साला बांड बेचे जिनमें से एक-तिहाई राशि के बांड अमेरिका से बाहर के विनियोगियों ने खरीदे। यद्यपि बैंक अमेरिका मे ही बांड बेच कर और अधिक राशि प्राप्त करना चाहता था पर अमेरिका की मुद्रा-मंडी अनुकूल न होने के कारण ऐसा न कर सका। अतः उसने नवम्बर १९५२ में ५० मि० स्विस फ्रैंक्स (११.६ मि० डॉलर के बराबर) के बांड स्विजरलैंड में और बेचे। गत वर्ष बैंक ने १३.६ मि० डॉलर की सिक्यूरिटिया अपने पास से और बेचीं ताकि सदस्य-देशों की सामाजिक आवश्यकता पूर्ण की जा सकें; इस प्रकार बैंक अब तक ५२६.४ मि० डॉलर के बांड बेच चुका है। इससे ज्ञात होता है कि बैंक सदस्य-देशों को सहायता देने के लिए कितना इच्छुक रहा है।

बैंक को अपने क्रिया-कलापों से खासी आय होती रही है। गत वर्ष बैंक को १८.५ मि० डॉलर की शुद्ध आय हुई जो पूरक कोष में जमा कर दी गई। इस कोष में बैंक के पास लगभग ७६ मि० डॉलर की राशि जमा है। कमीशन से, जो बैंक अदत्त ऋण-राशि पर १% की दर से वसूल करता है, अब तक ३७.२ मि० डॉलर की आय हुई है जो एक विशिष्ट कोष में जमा है। गत वर्ष इस मद से ९.६ मि० डॉलर की आय हुई। इस प्रकार बैंक के कोष मे कुल मिलाकर ११३.७ मि० डॉलर की राशि जमा है।

बैंक तथा भारत—भारत ने बैंक से कई ऋण लिये हैं जो इस प्रकार हैं:

(१) एक ऋण ३,४०,००,०.० डॉलर का रेल-मार्गों की उन्नति करने के लिए १८ अगस्त १९४९ को लिया गया। यह ऋण १५ वर्ष की अवधि

का है तथा इस पर ३% ब्याज तथा १% कमीशन प्रतिवर्ष भारत को देना होगा। इस ऋण का भुगतान अगस्त १९५० से आरम्भ हुआ। इसमें से भारत ने केवल ३२.५ मि० डॉलर ही लिये।

(२) दूसरा ऋण २९ सितम्बर १९४९ को १,००,००,००० डॉलर का कृषि-विकास के लिए लिया गया था। इसकी अवधि ७ वर्ष है तथा इस पर २३% ब्याज तथा १% कमीशन भारत को देना होगा। इसका भुगतान १ जून १९५२ से आरम्भ हुआ। इस राशि में से सरकार ने केवल ७.५ मि० डॉलर ही लिये जो बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए ट्रैक्टर खरीदने के काम आए।

(३) तीसरा ऋण १५ अप्रैल १९५० को १८.५ मिलियन डॉलर का दामोदर-घाटी योजना के अन्तर्गत बोकारो बिजली-घर बनाने के लिए लिया गया। इस ऋण की अवधि २० वर्ष है तथा इस पर ३% ब्याज तथा १% कमीशन प्रतिवर्ष लिया जायगा। इसका भुगतान १ अप्रैल १९५५ से आरम्भ होगा।

(४) चौथा ऋण गत वर्ष देश के लोहा तथा इस्पात उद्योग के विकास के लिए कलकत्ते की इंडियन आयरन एन्ड स्टील कं० लिमिटेड के नाम स्वीकृत किया गया। यह ऋण ३१.५ मि० डॉलर का है। बैंक के जीवन काल में यह पहला ऋण है जो किसी प्राइवेट व्यावसायिक संस्था को इस प्रकार दिया गया है।

(५) पाँचवा ऋण १९.५ मि० डॉलर का दामोदर घाटी योजना के निर्माण के लिए और लिया गया है। यह ऋण गत वर्ष जनवरी में लिया गया था।

बैंक के पास एक आवेदन-पत्र अभी विचाराधीन है जिसमें बम्बई के पास ट्राम्बे नामक द्वीप में विद्युत्शाला बनाने के हेतु राशि ऋण लेने की माँग की गई है।

इस प्रकार भारत ने बैंक से कुल मिलाकर ११३.५ मि० डॉलर के ऋण स्वीकृत कराए, जिनमें से ३.७ मि० डॉलर के ऋण रद्द हो गए। इस प्रकार शेष १०९.८ मि० डॉलर की राशि अब तक में भारत ने बैंक से ली है।

इस प्रकार भारत को बैंक से पर्याप्त सहायता मिली है। गत वर्ष बैंक एक प्रमुख कर्मचारी ने देश का दौरा करके कहा था—"देश के स प्रचुर हैं और इनका विदोहन करने के लिए बैंक और भी ऋ ' सदै इससे ज्ञात होता है कि भारत के प्रति बैंक की साख बनी हुई है।

१९५३-५४ में अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की गतिविधि

३० जून १९५४ को समाप्त होनेवाले वर्ष में बैंक ने १६ सद देशों को २६ ऋण स्वीकृत किए जिनमें ३२३.७ मि० डॉलर की र स्वीकृत की गई। इस प्रकार बैंक ने ३० जून १९५४ तक कुल मिला १९२४ मि० डॉलर के ऋण स्वीकृत किए हैं। इसमें से उक्त तिथि त १४०५.६ मि० डॉलर की राशि ऋण लेनेवाले देशों ने बैंक से ली। गत व में ३०२.३ मि० डॉलर बैंक से लिए गए। १९५३-५४ में ऋण लेनेवा देशों के नाम इस प्रकार हैं—आस्ट्रेलिया, ब्राजील, चिली, कोलम्बिया इक्वेडोर, फ्रेंच पश्चिमी अफ्रीका, आइसलैण्ड, इटली, जापान, निकाराग्वे नारवे, पाकिस्तान, पनामा, पीरू, टर्की और दक्षिणी अफ्रीका संघ।

उक्त वर्ष में जितनी राशि का भुगतान बैंक को मिलना था, मिल गय और कुछ देशों ने तो अपने ऋणों का अग्रिम भुगतान करके बैंक क राशि चुकाई। गत वर्ष कुल मिलाकर ५६ ७ मि० डॉलर की राशि बैंक क चुकाई गई।

गत वर्ष बैंक ने २२० ३ मि० डालर के बांड निर्गमित किए। इस प्रकार बैंक द्वारा निर्गमित बॉण्डों की कुल राशि ७७६ ७ मि० डॉलर हो गई। बॉण्ड इस प्रकार निर्गमित किए गए—१५० मि० डॉलर के बांड अमरीका में: ५० मि० डॉलर के बॉण्ड स्विजरलैण्ड में; ·२५ मि० कनेडियन डॉलर के बॉण्ड कैनेडा में। इसके अतिरिक्त बैंक ने जून १९५३ में जो बांड स्विजरलैण्ड में निर्गमित किए थे, उनमें ११ मि० डालर की राशि बैंक को और प्राप्त हुई। बैंक ने ३८ मि० डालर की प्रतिभूतियां अपने पास की बेचीं जिनमें २६ मि० डालर की प्रतिभूतियों के लिए बैंक की कोई गारंटी न